t.me/Ayusanjivni

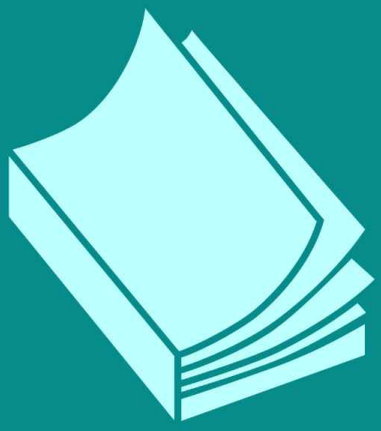

Join Now

Hooked on Books

Ayusanjivni

आयुर्वेद पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान

प्रो. राधेश्याम शर्मा
डॉ. गोपेश मंगल
डॉ. गुंजन गर्ग

अनुक्रमणिका

अध्याय–1

पंचकर्म का परिचय (Introduction of Panchakarma) 1-29

1.	पंचकर्म का परिचय	1	11.	पंचकर्म में रक्तमोक्षण न होने का कारण	10
2.	पंचकर्म की परिभाषा	1	12.	पंचकर्म प्रयोग विषय	11
3.	प्रयोजन एवं महत्त्व	2	13.	पंचकर्म काल विचार	13
4.	पंचकर्म का सामान्य परिचय	4	14.	पंचकर्म और परिहार	15
5.	संहिताओं में पंचकर्म	6	15.	सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त और पंचकर्म	16
6.	पंचकर्म के प्रभाव की सीमा	7	16.	शोधन कां महत्त्व	17
7.	पंचकर्म चिकित्सा का मूल स्रोत	7	17.	संशोधन के गुण	18
8.	पंचकर्म सामान्य विचार	9	18.	पंचकर्म का संक्षिप्त परिचय	18
9.	स्नेहन–स्वेदन को प्रधान कर्म में सम्मिलित न करने का कारण	9	19.	वर्त्तमान में पंचकर्म की उपादेयता	21
10.	पंचकर्म और शोधन	10	20.	Specification of the Panchakarma Theatre	22

अध्याय–2

पूर्वकर्म–स्नेहन (Proova karma- Snehanan) 30-83

1.	पूर्वकर्म	30	7.	स्नेहन के अयोग्य पुरुष	40
2.	स्नेहन–परिभाषा एवं परिचय	32	8.	स्नेहपान का काल	40
3.	स्नेहों के प्रकार	32	9.	दोषानुसार स्नेहपान	40
4.	चार उत्तम स्नेहन	36	10.	स्नेह मात्रा निर्णय	41
5.	स्नेह की प्रविचारणाएँ	38	11.	स्नेहपान विधि	42
6.	स्नेहन के योग्य पुरुष	39	12.	स्नेहपान के जीर्यमान, जीर्ण, पच्यमान लक्षण	47

13. सम्यक् स्निग्ध लक्षण	48	23. मूर्धतैल	66
14. असम्यक् स्निग्ध लक्षण	48	24. धाराकर्म	67
15. अति स्निग्ध लक्षण	48	25. शिरोधारा	67
16. स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार	48	26. तक्रधारा	69
17. स्नेह द्रव्यों के गुण	49	27. क्षीरधारा, तैलधारा	70
18. अभ्यंग	51	28. पिचु धारण	73
19. संवाहन	64	29. शिरोबस्ति	73
20. मर्दन-उन्मर्दन	65	30. कर्णपूरण, अक्षितर्पण	76
21. उद्वर्तन, उद्घर्षण, उत्सादन	65	31. गण्डूष-कवल	77
22. पादाघात	66	32. Digestion of fat and metabolisom	78

अध्याय-3

स्वेदन (Swedan) 84-124

1. स्वेदन-परिचय	84	18. षष्टिशाली पिण्ड स्वेद	109
2. स्वेदन-परिभाषा	84	19. कायसेक, पिंषिचिल/पिंडिच्छिल स्वेद	112
3. स्वेदन की उपयोगिता एवं महत्त्व	84	20. तलम् धारण प्रक्रिया	113
4. स्वेदन द्रव्यों के गुण-कर्म	85	21. अन्नलेप	114
5. स्वेदनकारक द्रव्य	86	22. शिरोलेप	115
6. उपयोगभेद से स्वेदन द्रव्य	86	23. चूर्ण पिंड स्वेद	116
7. स्वेदन के योग्य रोग एवं रोगी	88	24. जम्बीर पिंड स्वेद	116
8. स्वेदन के अयोग्य रोगी	89	25. नाडी स्वेद	116
9. स्वेदन विधि	89	26. वाष्प स्वेद/क्षीर वाष्प स्वेद	117
10. स्वेदन के भेद	91	27. बालुका स्वेद	117
11. स्वेदन की विभिन्न विधियाँ	93	28. कुक्कुटाण्ड स्वेद	118
12. निराग्नि स्वेदन की विधियाँ	102	29. धान्याम्ल धारा	118
13. स्वेदन के समय सावधानियाँ	104	30. लेप	119
14. स्वेदन के सम्यक् लक्षण	104	31. कटि बस्ति	120
15. स्वेदन के हीन व अतियोग लक्षण	105	32. विभिन्न प्रकार की बाह्य बस्तियाँ	121
16. स्वेदन व्यापद् एवं निराकरण	105	33. Sauna bath	122
17. पिण्ड स्वेद (पत्रपिण्ड स्वेद)	106	34. Steam bath	123

अध्याय–4

वमन कर्म (Vamana Karma) 125-153

1.	वमन-परिचय	125	11.	वमन विधि	131
2.	वमन-परिभाषा	125	12.	वमन के सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण	136
3.	वमन का महत्त्व एवं प्रयोजन	126	13.	वमन व्यापद्	137
4.	वमन के योग्य रोग और रोगी	126	14.	संसर्जन क्रम	139
5.	वमन के अयोग्य रोग व रोगी	127	15.	वमनोत्तर पश्चात् कर्म	142
6.	वमन द्रव्यों के गुण कर्म	128	16.	वमन कार्मुकत्व	143
7.	वमन द्रव्य	129	17.	वमन क्रिया का प्रभाव	144
8.	वमनोपग द्रव्य	129	18.	Physiology of Vomiting	145
9.	वमन द्रव्यों की कल्पना	129	19.	वमन द्रव्य परिचय	150
10.	वमन द्रव्यों की विभिन्न कल्पनाएँ	130			

अध्याय–5

विरेचन (Virechana Karma) 154-178

1.	विरेचन-परिचय	154	10.	संसर्जन क्रम	166
2.	विरेचन-परिभाषा	154	11.	विरेचन के सम्यक् योग के लक्षण	168
3.	विरेचन का महत्त्व एवं प्रयोजन	154	12.	विरेचन के हीन योग के लक्षण	169
4.	विरेचन द्रव्यों के गुण	155	13.	विरेचन के अतियोग के लक्षण	169
5.	विरेचन योग्य रोग व रोगी	157	14.	विरेचन के उपद्रव	169
6.	विरेचन के अयोग्य रोग व रोगी	158	15.	विरेचन की कार्मुकता	171
7.	विरेचन के भेद	159	16.	Physiology of Purgation	172
8.	विरेचन द्रव्यों की कल्पनाएँ	162	17.	विरेचन द्रव्य परिचय	175
9.	विरेचन विधि	162			

अध्याय–6

बस्ति (Basti) 179-232

1.	बस्ति-परिचय	179	
2.	बस्ति-परिभाषा	179	
3.	बस्ति कर्म की उपयोगिता एवं महत्त्व	180	
4.	बस्ति प्रकार	181	
5.	बस्ति कर्म में उपयोगी द्रव्य	186	
6.	आस्थापन बस्ति के अयोग्य रोग एवं रोगी	188	
7.	आस्थापन बस्ति के योग्य रोग एवं रोगी	189	
8.	अनुवासन बस्ति के अयोग्य रोग एवं रोगी	190	
9.	अनुवासन बस्ति के योग्य रोग एवं रोगी	190	
10.	बस्ति यंत्र	191	
11.	बस्ति नेत्र दोष	193	
12.	बस्ति पुटक के दोष	194	
13.	बस्ति निर्माण विधि	194	
14.	बस्तिदान विधि	199	
15.	निरूह बस्ति	199	
16.	सम्यक् योग, अयोग, अतियोग लक्षणों का निरीक्षण	203	
17.	अनुवासन बस्ति	205	
18.	अनुवासन प्रयोग काल	207	
19.	स्नेह बस्ति के उपद्रव और उनका प्रतिकार	209	
20.	मात्राबस्ति	210	
21.	मात्रा बस्ति के योग्य व्यक्ति	211	
22.	उत्तर बस्ति	211	
23.	उत्तर बस्ति योग्य रोग	212	
24.	बृंहण बस्ति	217	
25.	बस्ति व्यापत्तियाँ	218	
26.	बस्ति व्यापद	219	
27.	बस्ति प्रणेताजन्य उपद्रव एवं उपचार	220	
28.	बस्ति की कार्मुकता	222	
29.	Action of Basti Dravya	223	
30.	पिच्छा बस्ति	226	
31.	क्षीर बस्ति	226	
32.	यापना बस्ति	227	
33.	माधुतैलिक बस्ति	228	
34.	एरण्डमूलादि निरूह बस्ति	228	
35.	पञ्चप्रासृतिक बस्ति	229	
36.	क्षार बस्ति	229	
37.	वैतरण बस्ति	229	
38.	कृमिघ्न बस्ति	229	
39.	लेखन बस्ति	230	
40.	बृंहण बस्ति	230	
41.	सर्वरोगहर निरूह बस्ति	231	
42.	वातघ्न बस्ति	231	
43.	पित्तघ्न बस्ति	231	
44.	कफघ्न बस्ति	232	

अध्याय–7

नस्य (Nasya) 233-249

1.	सामान्य परिचय एवं शब्द निष्पत्ति	233	7.	नस्य प्रयोग विधि	243
2.	नस्य–परिभाषा	233	8.	नस्य के सम्यक् योग, हीनयोग व अतियोग के लक्षण	244
3.	प्रयोजन एवं महत्त्व	233	9.	नस्य व्यापद और प्रतिकार	244
4.	नस्यकर्म के अयोग्य रोग एवं रोगी	234	10.	नस्य कार्मुकता	246
5.	नस्य कर्म योग्य रोग व रोगी	235	11.	Modern view of nasya karma	246
6.	नस्य के प्रकार	236			

अध्याय–8

रक्तमोक्षण (Raktamokshana) 250-269

1.	रक्तमोक्षण–परिचय	250	10.	श्रृंग/अलाबु सामान्य परिचय	256
2.	रक्तमोक्षण–परिभाषा	250	11.	रक्तमोक्षण विधि	258
3.	प्रयोजन एवं महत्त्व	250	12.	रक्तमोक्षण के सम्यक्, हीन, अतियोग के लक्षण	261
4.	रक्त दुष्टि हेतु	250	13.	रक्तमोक्षण द्वारा रक्त की मात्रा का ज्ञान	262
5.	वातादि दोषों से दूषित रक्त लक्षण	251	14.	सिराव्यधन द्वारा रक्त मोक्षण विधि	263
6.	रक्त मोक्षण के योग्य/अयोग्य रोग एवं रोगी	251	15.	सिरावेध प्रमाण	265
7.	रक्तमोक्षण प्रकार	252	16.	रक्त रोधक उपाय	267
8.	रक्तमोक्षण योग्य काल	253	17.	दुष्टविध सिराओं का निरीक्षण	267
9.	जलौका	253			

अध्याय–9

Physiotherapy 270-285

1.	Introduction to Physio therapy	270	4.	Area to work for Physiotherapist	272
2.	Branches of Physio therapy	270		A. Shortwave dia thermy	273
3.	Treatment modes of Physio therapy	272		B. Ultra sound therapy	274
				C. Tens	276

D. Cryotherapy	277	H. Ultra violet light therapy	28
E. Heat Therapy	279	I. Paraffin wax treatment	28
F. Phototherapy	280	J. Traction	28
G. Lasers Therapy	281		28

अध्याय–10

Emergency Management 286-29

A.	Hypovolemic shock	286	I.	When BP is > 200 mm Systolic	29
B.	Dehydration Management	287	J.	Breathlessness with wheezing	29
C.	Rectal Bleeding	288	K.	Breathlessness Without wheezing	29
D.	Cardio Respiratory Arrest	288	L.	Severe Hemetemesis or	
E.	Unconscious Diabetic Patient	289		Hemoptysis	29
F.	Suspected Myocardial Infarction	290	M.	Temperature > 104^0F	29
G.	Acute Hypotension	291	N.	Burn	29
H.	Watery Diarrhoea & Hypotension	291	O.	Electric Burn	29
			P.	Acute Abdomen Managment	29

रोगी विवरण प्रारूप 297-31

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 319-32

अध्याय–1

पंचकर्म का परिचय
(Introduction of Pancha Karma)

आयुर्वेद के दोनों प्रयोजन स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर व्यक्ति के रोग प्रशमन, इनकी सिद्धि पंचकर्म द्वारा सम्भव है। चिकित्सा के सिद्धान्तों में सबसे महत्त्वपूर्ण है– 1. संशोधन, 2. संशमन, 3. निदान परिवर्तन, इन तीनों में व्याधि की पुनः उत्पत्ति न होने के कारण संशोधन का प्रथम स्थान है क्योंकि पंचकर्म के द्वारा ही रोग समूल नष्ट होते हैं। पंचकर्म के द्वारा ही प्रयोजन का प्रथम उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को बनाए रखने हेतु ऋतुचर्या के अनुसार पंचकर्म निर्दिष्ट है जिससे रोग उत्पन्न होने से पूर्व ही प्रकुपित दोषों की शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है जिससे त्रिदोषों में साम्य स्थापित होकर आरोग्य की प्राप्ती होती है।

पंचकर्म को अष्टांग आयुर्वेद में स्थान प्राप्त नहीं है अपितु यह अष्टांग आयुर्वेद के सभी विभागों में इसकी अतीव उपयोगिता है। काय चिकित्सा के लगभग सभी रोगों में पंचकर्म निर्दिष्ट हैं केवल उरूस्तम्भ रोग को छोड़कर, जिससे इसकी महत्त्वता, गौरवता एवं उपयोगिता का बोध होता है।

पंचकर्म – कायचिकित्सा साध्य रोगों में प्रमुख है। परन्तु केवल काय चिकित्सा का ही अंग समझना भूल है।

आयुर्वेद की दो विशिष्ट विधा रसायन एवं वाजीकरण के पूर्व पंचकर्म एक आवश्यक कर्म के रूप में निर्दिष्ट हैं। बिना पूर्व पंचकर्म के रसायन एवं वाजीकरण का उपयोग व्यर्थ है।

पंचकर्म– श्रेष्ठ संशोधन उपचार–

चिकित्सा दो प्रकार की होती है।

(1) शोधन (2) शमन

श्रेष्ठ चिकित्सा वही होती है जो रोग के कारण को समूल नष्ट कर दें और रोग की पुनः उत्पत्ति न हो, यह पंचकर्म द्वारा ही सम्भव है। परन्तु शमन द्वारा पुनः रोगोत्पत्ति सम्भव है।

पंचकर्म द्वारा रोगोत्पादक दोष, विष, मल और विजातीय द्रव्य को शरीर से बाहर निकाला जाता है।

पंचकर्म की परिभाषा (Definition of Panchakarma)

पंचकर्म प्रायशः शोधन की वह विधि जिसके द्वारा शरीर के वृद्ध दोषों या उत्क्लिष्ट कराकर दोषों को प्रायः कोष्ठ में लाकर उनके निकटतम प्रायः प्राकृत मार्ग से बाहर निकाल कर त्रिदोष साम्य स्थापित कर अपुर्नःभव को प्राप्त करते है।

✓ प्रथमं वमनं पश्चाद् विरेकश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्चकर्माणि निरूहो नावनं तथा।। (भा. प्र. पू. 7/1)

✓ वमनं रेचनं नस्यं निरुहस्यानुवासनम् ऐतानि पंचकर्माणि कथितनि मुनीश्वरैः। (शा. उत्तर 8/70)

पाँच कर्म – वमन, विरेचन, अनुवासन, निरूह, नावन (नस्य) हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित इन्हीं पाँच कर्मों द्वारा संशोधन किया जाता है।

प्रयोजन एवं महत्त्व (Aims and Importance)-

प्रयोजन (Aim)- पंचकर्म जिन-जिन हेतुओं से किया जाता है- वे तीन भागों में विभक्त हैं-

(1) **स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म** - स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण हेतु।

(2) **रसायनादि असाधारण** गुण प्राप्ति के लिए -

(3) **रोगानुसार पंचकर्म** - रोगी व्यक्ति के रोग का प्रशमन हेतु।

1. स्वस्थ के स्वास्थ रक्षण हेतु-

(A) दैनिक नित्य कर्म में- शौच, दंतधावन, स्नान आदि की तरह स्नेहन (अभ्यंग), शिरस्तैल, प्रतिमर्श नस्य, पादाभ्यंग, मात्राबस्ति, कर्ण तैल आदि पंचकर्म की विधियों का नित्य दैनिक जीवन में प्रयोग करना चाहिये इससे शरीर बलिष्ठ तथा स्वस्थ बना रहता है।

(B) ऋतुचर्या में - ग्रीष्मादि ऋतुओं में जिस-जिस दोष (वातादि) का संचय होता है उसी ऋतु में उस दोष का शोधन बतलाया है। क्योंकि संचय अवस्था में दोष निर्हरण से भावी रोग उत्पन्न नहीं होता है।

ग्रीष्म ऋतु में संचित वात	श्रावण मास में	बस्ति द्वारा
वर्षा ऋतु में संचित पित्त	कार्तिक मास में	विरेचन द्वारा
हेमन्त ऋतु में संचित कफ	चैत्र मास में	वमन द्वारा

आचार्य चरक ने 3 जगह ऋतुचर्या का वर्णन किया है।

आदान = उत्तरायण- सूर्यबल अधिक होता है।

विसर्ग = दक्षिणायन- सूर्य बल कम होता है।

तत्रादित्यस्योद्गमनमादानंच त्रीनृतून शिशिरादीन् ग्रीष्मांतात् व्यवस्येत्। वर्षादीन् पुनर्हेमंतान् दक्षिणायनं विसर्ग च। (च. सू. 6/4)

(1) चरक सूत्र- तस्याशितीय अध्याय में

उत्तरायण (आदान काल)- शिशिरादि से ग्रीष्म ऋतु तक

दक्षिणायन (विसर्ग काल) - वर्षा से हेमन्त ऋतु तक वर्णन किया गया है।

हेमंतो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्ण वर्षा लक्षणत्रयः ऋतुवो भवंति। तेषामंतरेष्वितरे साधारणलक्षणस्त्रय ऋतवः प्रावृड्शरद्वसंताः इति। (च. वि. 8/125)

(2) चरक विमान (8) में

हेमन्त, ग्रीष्म, वर्षा क्रमशः अति शीत, उष्ण, वर्षा काल है।

इनके बीच साधारण काल वाले क्रमशः प्रावृट्, शरद, वसंत है।

प्रावृट् वर्षा का पूर्व काल है इसमें शिशिर ऋतु का वर्णन नहीं है।

(3) चरक सिद्धि (6) में

प्रावृड् शुचि नभौ ज्ञेयौ शरदुर्ज सहौपुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसंतः शोधनं प्रति।
ऐतानृतून् विकलप्यैव दद्यात् संशोधनं भिषग्।
स्वस्थवृतमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु।। (च. सि. 6/5-6)

शुचि नभौ आषाढश्रावणौ। उर्ज सहौ कार्तिकमार्गशीषो, तपस्याः फाल्गुनाः। मधुश्चैत्रः।

यहाँ

प्रावृट	आषाढ़- श्रवण
शरद	कार्तिक- मार्गशीर्ष
वसंत	फाल्गुन- चैत्र

में संशोधन के योग्य ऋतु है का वर्णन किया है। अर्थात् इन ऋतुओं में संशोधन हेतु औषधि प्रयोग करना चाहिए। यह संशोधन का समय स्वस्थ के लिए ही है रोगी या रोग अवस्था देखकर जब संशोधन उचित हो तब ही करना चाहिए।

चरक व सुश्रुत में प्रावृट क्रम में शिशिर छोड़ दी है परन्तु वाग्भट्ट ने प्रावृट का वर्णन नहीं किया है।

शुचि-अषाढ	उर्ज-कार्तिक	तपस्या-फाल्गुन
नभ-श्रवण	सहो-मार्गशीर्ष	मधु-चैत्र

चैत्र, श्रवण, मार्गशीर्ष में हमेशा शोधन करना चाहिए।

पूर्ववत् ऋतु में योग्य दोष संचय नहीं होता अतः बाद की ऋतु में ही शोधन करना चाहिए। (च. पा. च. सू. 7/46 पर)

रसबलोत्पादचिन्तायां स्वस्थ वृत्तानुष्ठानेषुच शिशिरादिक्रमो भवति, संशोधन व्यवस्थायांतु प्रावृडादिरित प्रावृडादि क्रमोऽयं संशोधनानुकूलतयाचार्येण कल्पितो, न पारमार्थिकः। (च. पा., च. सि. 6/5-6 पर)

अतः स्वस्थवृत्त की दृष्टि से शिशिरादि क्रम तथा संशोधन की दृष्टि से प्रावृटादि क्रम का पालन करना चाहिए।

(C) अधारणीय वेग धारणजन्य व्याधियों में – वात, मल, मूत्रादि तेरह प्रकार के वेगों को धारण करने से शरीर को कष्ट होता है इसमें पंचकर्म द्वारा इस कष्ट (दुःख) को दूर किया जाता है।

2. रसायनादि की असाधारण गुण प्राप्ति हेतु-

रसायन-वाजीकरण में- इन कर्मों द्वारा शरीर में बल प्राप्ति तथा संतान उत्पत्ति करने की क्षमता प्राप्त होती है ये क्रियाएँ तभी कार्यकारी होती हैं जब इनके प्रयोग से पहले पंचकर्म द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है।

3. रोगानुसार पंचकर्म-

यदि रोगों को लघंन पाचन आदि क्रियाओं द्वारा नष्ट किया जाता है तो उनकी पुनः उत्पन्न होने की आकांक्षा बनी रहती है यदि पंचकर्म (संशोधन) द्वारा रोगों को नष्ट किया जाता है तो उनकी पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। अर्थात् पुनः रोग उत्पत्ति नहीं हो पाती है।

अष्टाङ्ग आयुर्वेद में पंचकर्म– आयुर्वेद के सभी अंगों में किसी न किसी रूप में पंचकर्म अथवा उसके पूर्वकर्मों का प्रयोग किया जाता है। जैसे- **कायचिकित्सा** में उरुस्तम्भ को छोड़कर सभी रोगों में आवश्यकतानुसार पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है। **शल्यतंत्र**– षष्टि उपक्रमों में पंचकर्म की शोधन क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

जनपदोध्वंस में पंचकर्म– जब वायु, जल, देश, काल की विषमता से जनपदव्यापी महामारियाँ फैलती हैं उस स्थिति में सामान्यजन को निरोग बनाने के लिए पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है उसके पश्चात् शरीर को दृढ़ बनाने के लिए रसायन का प्रयोग किया जाता है।

अगदतंत्र– विष वेगों की चिकित्सा में, **विष प्रतिकार** – विष का भक्षण करने से मृत्यु हो सकती है अतः रोगी का जीवन बचाने के लिए पंचकर्म- (सद्यः वमन/विरेचन) द्वारा विष को शरीर से बाहर निकाला जाता है।

कौमारभृत्य में– धात्री के स्तन्य का शोधन तथा बालकों के अभ्यंग, परिषेक में पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है।

पंचकर्म का सामान्य परिचयः–

पंचकर्म शब्दार्थ– पंच=पांच तथा कर्त्ता का जो इष्ट कार्य है वह कर्म है। 'कृ' धातु में मनिन् प्रत्यय अर्दृचादि सूत्र से कर्म शब्द बना है।

आयुर्वेद में 4 प्रकार के कर्म का वर्णन हैः-

1. दैव या पौर्वदैहिक – प्रत्येक जन्म में व्यक्ति जो सुकृत या दुष्कृत करता है उसके अनुसार अपर जन्म प्राप्त होता है। इसी के कारण निम्न की सम्भावना होती है।

1. अनेक रोगों के बिना कारण उत्पत्ति
2. अल्प कारण से महान रोग उत्पत्ति
3. यथा चिकित्सा से शमन न होना
4. कालांतर से कर्म क्षय के अनंतर उनका स्वयं प्रशम

पूर्व जन्म के कर्म = 'दैव' कहलाते है।

इस जन्म = 'पुरुष कार' कहलाते हैं।

2. द्रव्य का कार्यार्थ वाचक–

द्रव्याणि हि द्रव्य प्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुण प्रभावाच्च तस्मिन् तस्मिन् काले तत्तदधिष्ठानमासाद्य तां तां युक्तिमर्थच तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तद् कर्म।। (च. सू. 26/13)

द्रव्य अपने द्रव्य प्रभाव, गुण प्रभाव या द्रव्य गुण प्रभाव से जिस-जिस काल, जिस-जिस अधिष्ठान, जो-जो युक्ति के आश्रय से जो काम करता है उसे कर्म कहते है।

(a) इसी में द्रव्यों के शमन- शोधनादि सभी कर्मों का समावेश है।

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।

कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।। (च. सू. 1/52)

(b) कर्म द्रव्य के आश्रय से रहता है तथा संयोग और विभाग में कारण बनता है।

3. प्रयत्न के अर्थ में – 6 पदार्थ में वर्णन है- सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, **कर्म** और समवाय

'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते'। (च. सू. 1/49)

प्राणियों के कार्य व्यापार को चेष्टा कहते है।

इस चेष्टा से सभी कर्मों का बोध होते हुए भी चक्रपाणि वमनादि कर्म का निषेध कर अन्य प्राणि व्यापार को कर्म कहते है। जिसमें संकोच, प्रसारण, उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि हैं।

4. चिकित्सा अर्थ:– कार्य करने के लिए जो चेष्टा की जाती है उसे प्रवृति कहते हैं।

प्रवृतिः प्रतिकर्म समारम्भ (च. वि. 8/129)

प्रतिकर्म= चिकित्सा

या रोगी की चिकित्सा के लिए जो कार्य आरम्भ किया जाता है उसे प्रवृति कहते हैं वही क्रिया, कर्म, यत्न एवं कार्य समारम्भ भी कहा जाता है इस प्रवृति को प्रतिकर्म समारम्भ कहते है।

चरक (विमान 8/79) में कार्य करने से पहले परीक्षा– इसके बाद कार्य में प्रवृत्त होना श्रेष्ठ कहा जाता है।

अतः चिकित्सा हेतु कार्य आरम्भ से पूर्व आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान परीक्षा कर कर्म प्रारम्भ करना चाहिए।

अतः कर्म का एक अर्थ त्रिविध परीक्षा भी है।

प्रवृति – दशविध परीक्ष्य भाव में है।

सुश्रुत ने कर्म/क्रिया से स्नेहादि कर्म– शोधन (कवल, गण्डूष), सशंमन तथा च्छेदादि कर्म का ग्रहण किया है।

सुश्रुत के अनुसार कर्म– 3 प्रकार के है।

त्रिविधं कर्म–पूर्वकर्म प्रधानकर्म पश्चात्कर्मेति।। (सु. सू. 5/3)

1. पूर्व 2. प्रधान 3. पश्चात्

डल्हण ने– 3 प्रकार से कर्म को परिभाषित किया है–

तत्रैके लंघनादि विरेकपर्यंत पूर्वकर्म। व्रणस्य पाटन रोपणं यच्च प्रधानं कर्म

बलवर्णाग्निकार्यं तु पश्चात्कर्मेति समादिशेत्। (डल्हण सु. सू. 5/3 पर)

प्रथम **पूर्व**– लंघन, पाचन, दीपन, स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन

प्रधान– व्रण का पाटन, रोपणादि

पश्चात्– चिकित्सा दी जाती है बल, अग्नि को बढाने हेतु।

अपरे तु वयदीनां पूर्वरूपांतानां आतंकोत्पत्तेः प्राक् यत् क्रियते तत्पूर्व कर्म, आर्तकोत्पतौ यत् तत्प्रधानं कर्म, निवृत्तातंकस्यानुबंधोपचारणाय यत् यत् पश्चातकर्म। (डल्हण सु. सू. 5/3 पर)

द्वितीय **पूर्व**– संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थान सश्रयं, पूर्व रूप में योग्य उपाय

प्रधान–रोगोत्पति के बाद किये जाने वाला उपाय

पश्चात्– रोग–पुनः उद्भव न हो इस हेतु किये जाने वाले उपाय।

अन्ये संशोध्यस्य पाचन स्नेहन स्वेदनानि पूर्व कर्म वमन विरेचन बस्ति नस्य शिरा मोक्षणानि प्रधानं कर्म, पेयाद्यन्न संसर्जनं पश्चात्कर्म। (डल्हण-सु. सू. 5/3 पर)

तृतीय पूर्व- पाचन, स्वेदन, स्नेहन

प्रधान- पंचकर्म (वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य, शिरामोक्षण)

पश्चात्- संसर्जन क्रम

पंच के अर्थ में- पंच का यहाँ अर्थ संख्या- पाँच (5) तथा मंगलवाचक अर्थ में है। अष्टोदरीया अध्याय (19) में संख्या को प्रधान्य देकर वर्णन किया है। जैसे 8 संख्या वाले उदर, 7 संख्या-कुष्ठ। इस प्रकार विशिष्ठ संख्या देकर वर्णन करने की आयुर्वेदीय परम्परा है। इसी कारण विशिष्ट कार्य करने वाले समूह को नाम न देकर संख्या के साथ उनकी विशिष्ठता वर्णित की है जैसे महाभूत 5 है उनको अलग-अलग न लिख कर पंचमहाभूत कहने से पृथ्वी, जल आदि पांचों महाभूत का बोध हो जाता है। इसी प्रकार उत्तम शोधन करने के वमन-विरेचन आदि पांच प्रकार है इसलिए जहाँ पाँचों का एक साथ या किसी एक का अथवा एक से अधिक का अभिप्राय होता है वहाँ पंचकर्म कह कर बोध हो जाता है।

संहिताओं में पंचकर्म-

1. चरक :- आचार्य चरक ने वमन, विरेचन आदि शब्दों का प्रयोग प्रथम अध्याय से ही किया है। मूलिनी एवं फलिनी द्रव्यों का प्रयोग स्थल वर्णित करते हुए पृथक्-पृथक् वमन-विरेचन के द्रव्य कहे है परन्तु पंचकर्म शब्द का प्रयोग नहीं किया है। पंचकर्म शब्द का प्रथम वर्णन अपामार्ग तण्डुलीया- अध्याय में

प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिक (च. सू. 2/14) पर किया है तथा

तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः।

पञ्च कर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्।। (च. सू. 2/15)

दोषों के उपस्थित (उत्किष्ट) होने पर पहले स्नेहन, स्वेदन कराकर मात्रा और काल का विचार कर पंचकर्म का प्रयोग करना चाहिए।

तस्याशितीय अध्याय में-

तस्माद् वसंते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्। (च. सू. 6/23 च. पा.) दोष चयाद्यथं 'पंचकर्म' प्रवृत्त्यर्थचाभिघातव्य प्रावृडादि ऋतुक्रमेण फाल्गुन चैत्रो वसंतो भवति। न वैशाखः।

यहाँ वसंत को फाल्गुन- चैत्र के अर्थ में लिया गया हैं स्वस्थवृत्त के अनुसार चय आदि से, न की वैसाख से हैं (शोधन कर्म हेतु चरक सिद्धि 6 के अनुसार है, जिसमें वैसाख माना जाता है।)

(विविधाशितपितीय) अध्याय में -

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।

वस्तयः क्षीर सर्पींषि तिक्तकोपहितानि च।। (च. सू. 28/27)

अस्थि के आश्रित रोगों में पंचकर्म करना औषध है।

इसमें विशेषकर बस्ति और तिक्त वर्गों से सिद्ध किये हुए दूध व घृत का प्रयोग हितकर है।

''दश प्राणायतनीय'' अध्याय में

शिरोविरेचनादेश्च 'पंचकर्माश्रयस्यौषध गणस्य:----प्रयोक्तार:।।' (च. सू. 29/7)

शिरोविरेचन आदि पंचकर्म में प्रयुक्त होने वाले औषध समुदायो का ज्ञान तथा **प्राणाभिसार** के लक्षण देते हुए कहा है कि पंचकर्माश्रय औषधियों का सम्यक् प्रयोग करने वाले प्राणाभिसार होते है।

चरक चिकित्सा में अनेक जगह वर्णन हैं जैसे- अपस्मार- **''कर्मभिर्वमादिभि''**

पंचकर्म के प्रभाव की सीमा (Limitation of Panchakarma)

चरक चिकित्सा उरुस्तम्भ अध्याय में (27/6 पर)

क्या दोष से उत्पन्न ऐसा भी रोग है जो चिकित्सा से साध्य हो पर जिस रोग को शान्त करने में पंचकर्म असमर्थ हो। इस संशय का निराकरण करते हुए कहा है कि उरुस्तम्भ को छोड़कर अन्य सभी रोगों में पंचकर्म कारगर है।

कल्पना सिद्धि अध्याय में (1/1-5)

पंचकर्म विषय पर प्रश्न आदि के माध्यम से पंचकर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

2- पंचकर्मीया सिद्धि- अध्याय में पंचकर्म का विस्तार से वर्णन है।

वाग्भट्ट एवं सुश्रुत में अपेक्षाकृत कम वर्णन प्राप्त होता है किन्तु अधिक व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है। परावर्ती अन्य संहिताओं में भी पंचकर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

पंचकर्म चिकित्सा का मूल स्रोत

चरक अनुसार चिकित्सा के जो मूल उपक्रम है वे ही पंचकर्म के मूल स्त्रोत है। यथा-

चरक ने उपक्रमो को 6 प्रकार का बताया है।

चरक सूत्र 22 लंघन- बृंहणीय अध्याय में

लंघनं बृंहण काले रुक्षण स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तंभनं चैव जानीते य: स वै भिषक्।। (च. सू. 22/4)

जो इन 6 उपक्रमों को जानता है वह भिषग् है।

तर्पण- रस रक्तादि धातु को पोषण देना जिससे धातु की तृप्ति हो- संतर्पण कहलाता है।

बृंहण- शारीरिक धातु के अणुओं को आकार में बड़ा करने वाली चिकित्सा बृंहण है।

अत: संतर्पण में रूक्ष संतर्पण किया जा सकता है, जैसे- सत्तु द्वारा

परन्तु बृंहण वह कभी रुक्ष नहीं होता है।

बृंहण विशेषत: मांस मेद का अधिक बृंहत्व करता है।

जहाँ संतर्पण- रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र के लिए अलग-अलग प्रकार का होता है।

मांस-मेद का तर्पण करने वाले बृंहण के अंतर्गत आ सकते है। परन्तु इससे सभी संतर्पण का बृंहण में समावेश नहीं हो सकता है।

संतर्पण में वात, मूत्र, मल, कफ, पित्त के अनुलोमन, मूत्रकृच्छहर तर्पण, मद्य विकारनुत तर्पण इत्यादि अनेक प्रकार है- इसका कार्य- मल और दोषों पर भी स्पष्ट है।

परन्तु बृहंण केवल धातु बृहंण ही है। संतर्पण- बृंहण में अधिक स्पष्ट करने हेतु ही सम्भवतः चरक ने लघंन-बृंहणीय अध्याय के अतिरिक्त स्वतंत्र संतर्पणीय (सू. 23) अध्याय की रचना की है। इसी तरह लघंन व अपतर्पण एक नहीं हो सकते है।

लंघन से लघुता- कर्श्या होगा और अपतर्पण से भी होगा, परन्तु अपतर्पण में हमेशा कार्श्य होना आवश्यक नहीं है।

रसादि धातुओं में जो अधिक तत्व है उसे निकालना अपतर्पण हैं परन्तु उससे लघनं होना जरूरी नहीं है।

जैसे- मांस-मेद, आस्थि, मज्जा दुष्टि में तिक्त घृत का प्रयोग अपतर्पण होता है परन्तु लघंन नहीं।

लघंन का मुख्य प्रभाव मेद पर है।

अतः गद्य पद्य भेद से कभी लघंन-अपतर्पण, बृंहण-संतर्पण का कही-कही प्रयोग किया हो तो भी उससे पर्याय नहीं समझना चाहिए। परन्तु आचार्य वाग्भट ने दोनों को अधिक सरल रूप में समझने हेतु, स्थूल रूप में पर्याय समझा जा सकता है परन्तु सूक्ष्म स्तर पर नहीं। अतः उपक्रम में इन छः प्रकारों में ही पंचकर्म पद्धति का मूल स्रोत है।

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रमो मतः।
एक संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः।।
बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।। (अ. ह. सू. 14/1-2)

वाग्भट्ट में चिकित्सीय पुरुष उपक्रम्य को 2 प्रकार का मानकर चिकित्सा भी 2 प्रकार की बताई है।

1. संतर्पण - (पर्याय बृंहण)
2. अपतर्पण - पर्याय लघंन माना है।

वाग्भटानुसार या तो आतुर का तर्पण या कर्षण करना पडता है। क्योंकि पंचमहाभूत भी 2 स्वभाव वाले होते है-

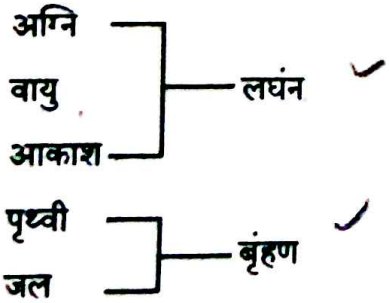

वाग्भट्ट ने अपतर्पण को शोधन एवं शमन में विभक्त किया है तथा

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लंघनम्।
पंचधा शोधनं च तत्-निरूहो वमनं काय शिरोरेकास्त्रविस्रुतिः।
शमनं तच्च सप्तधा-पाचनं दीपनं क्षुतृड्व्यायामातपमारूताः।। (अ. ह. सू. 14/4 से 7)

शमन 7 प्रकार- दीपन, पाचन, क्षुत्, तृषा, व्यायाम, आतप, वायु।

शोधन 5 प्रकार- वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य एवं रक्त मोक्षण

पंचकर्म सामान्य विचार

पंचकर्म के क्रम का वर्णन :-

शार्ङ्गधर- **''वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम् ऐतानि पंचकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः''**(श.उ.8/70)

भाव प्रकाश - **''प्रथमं वमनं पश्चात् विरेकश्चानुवासनम्।**

ऐतानि पंचकर्माणि निरूहो नावनं तथा।।'' (भा. प्र. पूर्व 7/1)

पंचकर्मोक्तिप्रस्तावे वमन विरेकान्वासन निरूहानुक्त्वा नस्य विधिमाह। (अ. द., अ. ह. सू. 20/1 पर)

अष्टांग हृदयकार वाग्भट्ट के टीकाकार अरुणदत्त ने नस्य अध्याय के प्रारम्भ में पंचकर्म प्रस्ताव के अंतर्गत वमन, विरेचन, निरुह, अनुवासन कहकर अब नस्य कह रहे है, संदर्भ प्राप्त होता है।

वमन-विरेचन-निरुह-अनुवासन-नस्य का क्रम वस्तुतः चरक- सिद्धि स्थान में प्रथम अध्याय (कल्पना सिद्धि) के अनुसार है। न कि द्वितीय सूत्र (अपामार्ग तण्डुलीय) अध्याय के अनुसार हैं, इस अध्याय में शिर को प्रधान इन्द्रियाँ मान कर केवल संख्या का वर्णन किया है न कि प्रयोग करने के क्रम का।

स्नेहन-स्वेदन को प्रधान कर्म में सम्मिलित न करने का कारण-

इह वमनादिषु कर्म लक्षणं बह्वितिकर्तव्यता योगि दोष निर्हरण शक्तिज्यायस्त्वम्।

तेन तंत्रांतरेण स्नेहस्वेदौप्रक्षिप्य सप्त कर्मणि इति यदुच्यते तन्न स्यात्। नहि स्नेहस्वेदौ दोष बहिर्निस्सरणं कुरुतः। दोष संशमनं तु कुरुतः। (च. सू. 2/15 पर च. पा.)

प्रधान कर्म- पंचकर्म के अन्तर्गत स्नेहन-स्वेदन को स्थान न देकर पूर्वकर्म में रखा है। क्योंकि इसमें निर्हरण शक्ति का प्रकर्ष नहीं होता हैं परन्तु पंचकर्म में दोष निहरण की शक्ति का होना आवश्यक है।

पंचकर्म के पूर्व व अंत में स्नेहन प्रयोग

आचार्य चरकानुसार-

कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च।

स्नेहस्वेदौ प्रयुंजीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत्।। (च. सि. 6/7)

वमन आदि कर्मों के बीच-बीच में स्नेहन और स्वेदन तथा वमनादि के अंत में स्नेहन का प्रयोग करना चाहिये। जैसे-

स्नेहन → वमन → स्नेहन → विरेचन → स्नेहन → बस्ति → स्नेहन → नस्य
स्वेदन स्वेदन स्वेदन निरुह स्वेदन
अनुवासन

निरुह के पूर्व व पश्चात् अनुवासन अर्थात् स्नेह देते है।

प्रश्नः अनुवासन- निर्हरण करने में प्रधान नहीं है- फिर भी यह पंचकर्म में सम्मिलित है। नेत्रांजन, गंडूष, कर्णपूरण, आश्च्योतन, नेत्रतर्पन आदि क्यों नही है।

उत्तर- पक्वशयस्थ प्रभूत पुरीष का निर्हरण के कारण (च. पा.) अनुवासन पंचकर्म में सम्मिलित है।

जबकि नेत्राजंन आदि में शोधन कर्त्तव्यता नहीं है। इसी प्रकार मूत्र शोधन भी पंचकर्म में नहीं है। क्योंकि मूत्रल हेतु औषधियों का आभ्यंतर प्रयोग है उसे कर्म (Process) प्रधान्य नही है परन्तु ऐसा विचार ठीक नहीं है। क्योंकि वमनादि में भी आभ्यन्तर औषध प्रयोग है। और यदि कर्म प्रधान्य का विचार करे तो श्लाकावचारण कर मूत्र निर्हरण कर सकते है।

परन्तु- इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म प्रधान्य श्लाकावचारण को पंचकर्म में सम्मिलित होना चाहिए अपितु वमनादि में शोधन के साथ दोष व्यवस्था संबद्ध है। जो उपरोक्त कर्म में नहीं है इसीलिए

संशोधनसंशमनीये तु दोष प्रत्यनीकप्रायाः पंचकर्मोपयोगिनः शोधन द्रव्य संग्रहगणा, वातादि शमन द्रव्यगणाश्च कथयितव्या इति शेषः। (सु. सू. 39/1 पर डल्हण)

पंचकर्म को दोष प्रत्यीक प्रायत्व कहा है।

पंचकर्म और शोधन

प्रश्न – क्या पंचकर्म केवल शोधन है।

उत्तर- प्रायशः शोधन है, केवल शोधन नहीं क्योंकि निरूह के भेद में बृहंण बस्ति आदि तथा नस्य के भेद- बृहंण नस्य आदि का वर्णन है।

अनुवासन बस्ति, शमन बस्ति, आदि भी केवल शोधन कर्म नहीं करती है।

चरक ने शोधन वर्णन में अनुवासन छोड़कर शेष चार माने है।

चरक ने लघंन बृहंण अध्याय में

चतुष्प्रकारासंशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।

पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।। (च. सू. 22/18)

च. पा.-चतुष्प्रकारा संशुद्धिः इति अनुवासनं वर्जयित्वा तस्य बृंहणत्वात्।।

पंचकर्म में रक्तमोक्षण न होने का कारण

1. रक्तमोक्षण को शल्य प्राधान समझकर महत्व न दिया हो।

2. आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार-

मुख से प्रयुक्त औषध	आमाशयगत रोगों में	वमन व विरेचन उपाय है।
गुद से प्रयुक्त औषध	पक्वाशयगत रोगों में	विरेचन व बस्ति उपाय है।
नासा से प्रयुक्त औषध	ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में	नस्य उपाय है।

इसमें प्राकृत स्त्रोतों द्वारा ही शोधन होता है। (अ. ह. सू. 13/31)

रक्तमोक्षण हेतु ऐसा प्राकृत स्त्रोत नहीं है। कृत्रिम बनाना पडता है।

3. वमन, विरेचन आदि में दोष व्यवस्था है।

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।

बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।। (अ. ह. सू. 1/25)

वमन – कफ के लिए

विरेचन – पित्त के लिए

बस्ति – वात के लिए

परन्तु रक्त मोक्षण पर सीधे दोष व्यवस्था नहीं है। किन्तु आश्रय-आश्रयी भाव से पित्त दोष से सम्बन्धित है।

पंचकर्म प्रयोग विषय

अतः पंचकर्म प्रायशः शोधन है और शोधन सामान्य सिद्धान्त निम्न है-

1. दोषः– बहुदोष अवस्था होने पर

बहु दोष लक्षण :–

अविपाकोऽरुचि स्थौल्यं पांडुता गौरवं क्लम। पिंडका कोठ कंडूनां संभवोऽरतिरेव च।

आलस्य श्रम दौर्बल्यं दौर्गंध्यमवसादकः। श्लेष्मपित्त समुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता।

तंद्राक्लैव्यमबुद्धित्वमशस्त स्वप्नदर्शनं। बलवर्णं प्रणाशश्च तृष्यतो बृंहणैरपि।

बहुदोषस्य लिंगानि तस्मै संशोधनं हितं उर्ध्वं चैवानुलोमं च यथादोषं यथाबलम्।।

(च. सू. 16/13 से 16)

अविपाक, अरूचि, स्थौल्य, पाण्डु, गौरव, क्लम, पिडका, कोठ, कण्डू, अरति, आलस्य, श्रम, दौर्बल्य, दुर्गन्ध, अवसाद, कफ-पित्त उत्क्लेश, अनिद्रा, अतिनिद्रा, तंद्रा, क्लैव्य, अबुद्धि, दुष्ट स्वप्न, बल-वर्णनाश, अतिपुष्ट बहुदोष के लक्षण है। इनमें संशोधन हितकर है।

उपाय–

बहु दोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वल प्रसेकोऽस्ति, तद्वत् दोषावसेचनम्।। (च. वि. 3/44)

जब दोष अधिक बढ जाए तो उनकी चिकित्सा दोषों का अवसेचन (बाहर निकालना) करना चाहिए जैसे पानी में डूबे खेत को सुखाने के लिए उस खेत की मेड तोडकर पानी बाहर निकालते है वैसे ही बहुदोष अवस्था में अवसेचन करना चाहिए।

2. मध्य बल युक्त दोष होने पर

मध्यबल रोग लक्षण

येषां मध्यबला रोगाः कफपित्त समुत्थिताः। वम्यतीसार हृद्रोग विसूच्यालसकज्वराः।।

विबंध गौरवोद्गार हृल्लासा रोचकादयः। पाचनैस्तान् भिषग् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत्।।

(च. सू. 22/20-21)

कफ-पित्त, उत्क्लेश, छर्दि, अतिसार, हृद्य रोग, विसूचिका, अलसक, ज्वर, विबंध, गौरव, उद्गार, हृल्लास, अरोचक ये लक्षण होने पर पाचन करना चाहिए।

उपाय

लंघन पाचने तु मध्यबलदोषाणां। लंघनपाचनाभ्यां हि सूर्य संतापमारुताभ्यां

पांशुभस्मावकिरणैव चानति बहूदकं मध्यबलोदोषः प्रशोषमापद्यते।। (च. वि. 3/44)

मध्यम प्रमाण में जलाश्रय में जल होने पर वायु आतप तथा मिट्टी द्वारा ही जल सूख जाता है उसी प्रकार मध्यम दोष लघंन पाचन द्वारा शोषण हो जाता है।

लघंन- पाचने मध्य बल दोषाणां- (च. वि. 3/44)

यदि दोष का बल मध्यम हो उसे कुछ अंश में लघनं द्वारा तथा प्रधान रूप से पाचन प्रयोग करना चाहिए।

रोगाञ्जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः।

बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवरं बलम्।। (च. सू. 22/23)

व्यायाम, आतप सेवन, वायु सेवन करना चाहिए

3. दोष हीन होने पर

लंघनं अल्पं बल दोषाणां। लंघनेन ह्यग्नि मारुत वृद्धया वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोषः प्रशोषमापद्यते।। (च. वि. 3/44)

जब दोष अल्प हो वहाँ केवल लघंन, उपवास, तृष्णा को रोकना आदि उपायों से शमन होता है जैसे-अल्प जल होने पर केवल सूर्य ताप से ही जलाशय सूखता जाता है।

त्वग् दोषिणां प्रमीढानां स्निग्धाभिष्यंदि बृंहिणाम्।

शिशिरे लंघनं शस्तमपि वातविकारिणाम्।। (च. सू. 22/24)

इसी प्रकार त्वक् रोग, प्रमेह, स्निग्ध, अभिष्यंद, बृंहित शरीर/रोग में एवं शिशिर ऋतु के वात विकारों में लघंन करना चाहिए।

बहुदोष के साथ सामावस्था होने पर-

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत्।

लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव।

आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युः दुर्निहरत्वतः।। (अ. हृ. सू. 13/28/29)

बहुदोष अवस्था में शोधन निर्दिष्ट है परन्तु बहुदोष होने पर भी यदि सामावस्था हो तो, शोधन नहीं करना चाहिए। क्योंकि सामदोष, शरीस्थ रस, रक्तादि धातु में लीन होकर ऐसे चिपक कर रहते है जैसे कच्चे फल में उनका रस रहता है।

यदि शोधन की कोशिश करेगें तो फल/शरीर का नाश हो जाए परन्तु रस/दोष बाहर या प्राप्त नहीं होंगे।

उपाय-

पाचनैः दीपनैः स्नेहैः तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।

शोधयेच्छोधनैः काले यथा सत्त्वं यथा बलम्।। (अ. हृ. सू. 13/30)

साम और सर्व शरीर प्रसृत दोषो के होने पर पहले पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये और दोष शिथिल होने पर शोधन का प्रयोग करना चाहिए।

संशोधनार्हों में भी संशोधन कब न करे :-

दोषावसेचनं तु खलु अन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवं विधस्य कुर्यात्। तद्यथा अनपवादप्रतीकार-स्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्य मानिनश्चंडस्यासूयकस्य तीव्राधर्मारुचेः अतिक्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्य रोगोपहतस्य मुमुर्षुलिंगान्वितस्य चेति। एवंविध ह्यातुरमुपचरन् भिषग् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छतीति।। (च. वि. 3/45)

1. **अनपवाद प्रतिकारी** :- जो वैद्य के निर्देशो का पालन न करता हो।
2. **अधन**- जिसके पास धन नहीं हो या अल्प हो।
3. **अपरिचारक वाले**- जिसके पास परिचारक न हो।
4. **वैद्यमानी**- अपने आप को वैद्य मानने वाला/ठीक से आदेश पालन न करने वाला।
5. **चंड** - अति पराक्रमी व साहस अर्थात मन स्थिर न हो।
6. **असूयक**- जो द्वेष करता हो।
7. **तीव्र धर्म अरूचि वाले**- धर्म/पंचकर्म में अनिच्छा या अविश्वास हो।
8. **अति क्षीण बलमांस रक्त**- अति रसादि धातु क्षय होने पर।
9. **असाध्य रोग** - असाध्य रोग होने पर।
10. **मुमुर्ष लिंगान्वितः**- मृत्यु सूचक लक्षण उत्पन्न होने पर।

पंचकर्म काल विचार

(प्रवर) शोधन की दृष्टि से

1 से 7 दिन---------- स्नेहपान

8 वे दिन ---------- विश्राम

9 वे दिन ---------- **वमन**

10 से 17 वे दिन तक---- संसर्जन क्रम

18 वे दिन
19 वे दिन — स्नेह पान
20 वे दिन

21 वे दिन
22 वे दिन — विश्राम
23 वे दिन

स्नेहात्प्रस्कंदनं जंतुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत्।

स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्।। (च. सू. 13/80)

स्नेह पीने के बाद 3 दिन विश्राम करे तथा इन 3 दिनों में स्नेह से मिश्रित द्रव, उष्ण मांस रस और भात का सेवन कर विरेचन औषध का सेवन करें।

24 वे दिन → विरेचन

यदि वमनानंतरं विरेचनं कर्तव्यं तदा नवमेऽह्नि सर्पिः पानं। (च. पा., च. सि. 1/20 पर)

पक्षाद् विरेको वांतस्य ततश्चापि निरूहणम्।। (सु. चि. 36/52)

(वमन पश्चात विरेचन हेतु 9वें दिन स्नेहपान तथा वमन के 15 वे दिन विरेचन दे)

25 वे दिन
से — संसर्जन क्रम
31 वे दिन तक

वात हेतु - 9 से 11 पित्त हेतु - 5 से 7 कफ हेतु - 1 से 3 बस्ति देते हैं।	कर्म बस्ति 30 काल- 16 योग - 8 बस्ति देते है।

(रोग व रोगी के अनुसार)

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा

तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्यात्र्यहान्नाति बुभुक्षिताय:। (च. सि. 1/20)

विरेचितस्तु समरात्रात्परतो अनुवास्यः नार्वाक्।। (सु. चि. 36/51 पर डल्हण)

सद्योनिरूढश्चान्वास्यः समरात्रात् विरेचितः। (सु. चि. 36/51)

विरेचन के बाद 7 दिन पुन संसर्जन क्रम तथा 9 वे दिन अनुवासन

वमन-विरेचन से शुद्ध तथा संसर्जन क्रम से बल प्राप्त पुरुष को 9वें दिन घृत पिलाना चाहिये अथवा अनुवासन बस्ति देनी चाहिए इसके बाद 3रे दिन जो व्यक्ति अत्यधिक भूखा न हो अभ्यंग कर निरूह दे।

32 वे दिन - विश्राम

33 वे दिन - अनुवासन

+ 29 दिन तक कर्म बस्ति क्रम में देने पर

62 वे दिन - बस्ति पूर्ण हो जाती है।

60 दिन - परिहार काल (बस्ति का दुगुण काल = कर्म बस्ति (30 दिन = 60 दिन परिहार काल)

122 दिन - फिर नस्य (पर इसके दिन निश्चित 7 दिन देने पर)

+7 दिन

129 दिन पूर्ण हो जाते है नस्य देने तक (चरक के अनुसार)

रक्तमोक्षण - यदि 7 दिन स्नेहपान देना हो।

8 वे दिन अभ्यंग/स्वेदन

9 वें दिन- रक्त मोक्षण

138 दिन

यदि बिना स्नेहनपान के रक्तमोक्षण देना हो कुल दिवस लगेंगे = 130 दिन

इस प्रकार नस्य तक 129 दिन में या रक्तमोक्षण स्नेहपान रहित में 130 दिन में प्रवर शुद्धि अनुसार पंचकर्म पूर्ण हो जाता है।

मध्यम शोध्य (स्नेहनपान काल 3 से 5 दिन के आधार पर)

कुल = 85 दिन।

अवर शोध्य हेतु- (3 दिन तक स्नेहन/संसर्जन के आधार पर)

= 57 दिन में पंचकर्म पूर्ण होता है।

पंचकर्म और परिहार

पंचकर्म के बाद आतुर प्राकृत अवस्था को प्राप्त हुआ है या नहीं देखना आवश्यक हैं

प्रकृतिस्थ पुरुष लक्षण/पंचकर्म पश्चात् आतुर लक्षण

सर्वक्षमो हि असंसर्गो रतियुक्तः स्थिरेंद्रियः।

बलवान सत्वसंपन्नो सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृति गतः।। (च. सि. 12/9)

सर्वक्षमो- सभी प्रकार के आहार-विहार में सक्षम या सभी रसों का सेवन में सक्षम

हय संसर्गो- मल मूत्रादि वेग प्राकृत ढंग से विसर्जित

रति युक्तो- प्रेम पूर्वक सभी कार्य या सभी विषयों में रूचि हो

सर्व सहो- सभी चेष्टाओं को सहन करने के लिए बल प्राप्त कर चुका हो।

अष्ठ महादोषहार भाव:-

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्व वर्ज्यानि वर्जयेत्। महादोष कराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः।।

उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचंक्रमणासने। अजीर्णाहित भोज्ये च दिवा स्वप्नं समैथुनं।।

(च. सि. 12/10-11)

ऊँचे स्वर में भाषण, विभिन्न वाहनों से गमन, ज्यादा घूमना, एक स्थान पर अधिक देर तक बैठा, अजीर्ण, अध्यशन न हो, दिन में सोना तथा मैथुन नहीं करना चाहिए।

संशोधित व्यक्ति की रक्षा की उपमा

शून्यदेहं प्रतिकारंसहिष्णुं परिपालयेत्।

यथांडं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथैव च।

गोपाल इव दंडीगाः सर्वस्मादपचारतः।। (च. सि. 12/4-5)

जिनका शरीर दूषित दोष, धातु, मल से शून्य हो गया है तथा शरीर में शून्य और दुर्बल हो जाने से जो व्यक्ति अन्य चिकित्सा कार्यों को सहन करने में असमर्थ हो ऐसे व्यक्ति की रक्षा निम्न प्रकार से करनी चाहिए।

1. तरूण अण्डे के समान- तरूण अण्डे में कलल भरा रहता है यदि स्थान परिवर्तन से कलल हिल जाएगा जिसके शरीर का ठीक प्रकार से परिवर्द्धन नहीं होगा। उसी प्रकार दुर्बल व्यक्ति को निश्चित स्थान पर रख कर चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् अण्डे को पकने तक की सावधानी, पकाने में लगने वाला श्रम, आवश्यक प्रेम, चिन्ता का रहना आवश्यक है।

2. तैल भरे पात्र समान- गमन करने पर भी तैल न गिरे इसी प्रकार इसकी दक्षता होनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक प्रक्रिया में विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

3. गोपाल इव दण्डीगा- कृशकाय आतुर को दूसरे रोग न हो या शोधन में अपथ्य आहार विहार करे तो कठोर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् हमेशा रोगी हित में सजग रहना चाहिए।

सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त और पंचकर्म

दोषों का कोष्ठ से शाखा में जाने का कारण :-

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्।

कोष्ठाच्छाखा मलायान्ति द्रुतत्वान्मारूतस्य च।। (च. सू. 28/31)

1. व्यायाम द्वारा प्रक्षोभ से
2. उष्मा की तीक्ष्णता से, उष्ण-तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से
3. हितकर आहार विहार सेवन न करने से
4. वायु की अति शीघ्र गति से

दोष- कोष्ठ से शाखा की ओर गमन कर रोगोत्पत्ति करते हैं।

ज्ञात्वा कोष्ठ प्रपन्नाश्च यथास्वं विनिहरेत्।। (अ. हृ. सू. 13/23)

शाखा से पुनः कोष्ठ में लाना और समीप मार्ग द्वारा बाहर निकालना यह चिकित्सा का सिद्धान्त है।

शाखा से पुनः कोष्ठ में लाने की विधि

वृद्धया विष्यन्दनात्पाकात् स्रोतो मुख विशोधनात्।

शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यांति वायोश्च निग्रहात्।। (च. सू. 28/33)

1. दोषों की वृद्धि कर
2. विष्यंदन या विलयन कर
3. दोषों का पाक करके।
4. स्रोतों का मुख खोलकर
5. वायु पर नियन्त्रण करने से

शाखा में पहुँचे दोषों को पुनः कोष्ठ में आ जाते हैं।

स्नेहन- विष्यंदन करता है, दोषों को मृदु करता है, क्लेद को बढ़ता है। जिससे आप्य द्रव्य प्रमाण बढने से, सर और द्रवगुण से, स्रवण होने में सहायक होता है।

स्वेदन- उष्ण गुण से दोष का पाक होता है दोष पाक से ढीले होकर स्थान छोडते है।

स्वेद से स्रोतों के मुख का विकास होता है जिससे स्रोतों के मुख पर से चिपके धातु और मल हटकर शोधन होता है।

"वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधन मृदुः"

स्नेहन-स्वेदन से वात का नियत्रंण भी होता है। अतः स्नेहन व स्वेदन दोषों को पुनः शाखा से कोष्ठ में लाने में सहायक है।

शोधन (पंचकर्म) का महत्त्व

दोषाः कदाचित्कुप्यंति जिता लंघन पाचनैः।

जिताः संशोधनैर्येतु न तेषां पुनरुद्भवः।। (च. सू. 16/20)

शमन चिकित्सा द्वारा दोषों का प्रशम तो होता है परन्तु पुनः प्रकोप की सम्भवना बनी रहती है परन्तु संशोधन करने से मूल से ही दोष नष्ट होता है जिससे उसका पुनः रूद्भव नहीं होता है।

उपमाः-

दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति।

रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा।। (च. सू. 16/21)

जिस प्रकार वृक्ष के नष्ट हो जाने पर भी यदि उसका मूल न नष्ट किया जाए तो उसमें पुनः हरापन (जीवन) आ जाता है। उसी प्रकार यदि रोगों को समूल नष्ट न किया जाए तो पुनः रोग उत्पत्ति सम्भव है।

वातादि दोष दूष्यो के साथ निम्न प्रकार के समवाय है-

1. प्रकृति सम समवाय (Physical relation)
2. विकृति विषम समवाय (Chemical relation)

प्रकृति सम समवाय स्थिति में दोषा का निवारण आसान है।

परन्तु विकृति विषम समवाय होने पर पंचकर्म द्वारा ही साध्य है।

संशोधन सशमनं निदानस्य च वर्जनम्।

एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि।। (च. वि. 7/30)

चिकित्सा के तीन प्रकार- संशोधन, सशमन और निदान परिवर्जन है, जिसका चिकित्सक को प्रत्येक रोग में इन तीनों का प्रयोग विधिपूर्वक करना चाहिए।

दोषों की वृद्धि की अवस्था को निवारण करने के लिए 3 प्रकार की चिकित्सा वर्णित है:-

1. **अंत: परिमार्जन**- शोधन
2. **बहि: परिमार्जन** - अभ्यंग, स्वेदन, परिषेक, उद्वर्तन
3. **शास्त्र प्रणिधन** - शल्य कर्म

इस प्रकार चिकित्सा के प्रकार तथा सिद्धान्तों में पंचकर्म का विशिष्ठ रूप से वर्णन है।

संशोधन के गुण

एवं विशुद्ध कोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते। व्याधयोश्नोपशाम्यते प्रकृतिश्चानुवर्तते।।

इंद्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्यप्रसीदति। बलं पुष्टिरपत्यंच वृषतां चास्य जायते।।

जरां कृच्छ्रेण लभते चिरंजीवत्यनामय:।। (च. सू. 16/17-19)

1. काय अर्थात् शरीर की अग्नि में वृद्धि
2. रोगों का उपशमन
3. स्वास्थ्य (प्रकृति) का अनुवर्तन
4. इंद्रियां, मन एवं बुद्धि के कार्यों में श्रेष्ठता
5. वर्ण का प्रसादन
6. बल की वृद्धि
7. शरीर की पुष्टि
8. अपत्य या संतान उत्पत्ति की क्षमता तथा वीर्य वृद्धि
9. जरा/वृद्धावस्था में देरी
10. रोग रहित दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

पंचकर्म का संक्षिप्त परिचय

पञ्चकर्म की रूपरेखा

1. पूर्वकर्म, 2. प्रधानकर्म और 3. पश्चात्कर्म - इन तीन कर्मों के द्वारा पञ्चकर्म पूर्ण/सफल होता है।

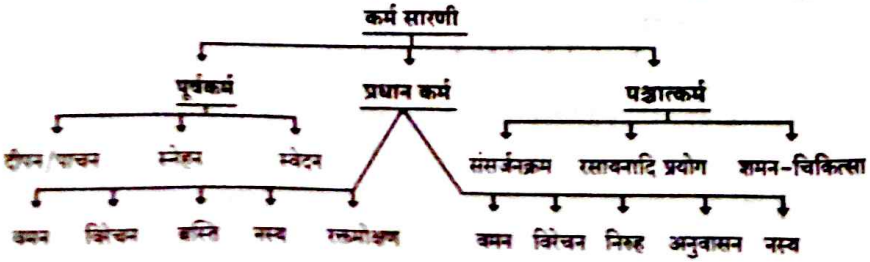

1. पूर्वकर्म- पञ्चकर्म द्वारा जिस व्यक्ति का शोधन करना अभीष्ट होता है, उससे पूर्व जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें पूर्वकर्म कहते हैं। पूर्वकर्म तीन प्रकार के हैं- 1. दीपन/पाचन, 2. स्नेहन और 3. स्वेदन।

(i) दीपन/पाचन- सम्यक् पाचनार्थ अग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधी और आम पाचन हेतु औषधों का प्रयोग करना दीपन-पाचन कर्म है।

(ii) स्नेहन- घृत-तैल-वसा-मज्जा ये चार उत्तम स्नेह हैं और इनके सदृश्य स्नेहों का प्रयोग बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से किया जाता है। किसी को केवल स्नेह (अच्छ स्नेह) का पान कराया जाता है और किसी को भात, यूष आदि में मिलाकर स्नेह (प्रविचारण के रूप में) दिया जाता है। बाह्य प्रयोग में तेल या अन्य स्नेह द्वारा अभ्यंग, पिंडिचिल आदि का प्रयोग किया जाता है।

(iii) स्वेदन- स्वेदन दो प्रकार से किया जाता है-

(A) साग्नि और (B) निराग्नि।

(A) साग्नि में अग्नि से तपाकर संकर, प्रस्तर, नाडी, जेन्ताक आदि तेरह प्रकार से स्वेदन किया जाता है।

(B) निरग्नि स्वेद में व्यायाम कराकर, उष्ण सदन (गर्म कक्ष में रखकर), गुरु प्रवाहण (रजाई आदि ओढ़ाकर), क्रोध, क्षुधा आदि उपायों से बिना अग्नि संयोग के स्वेदन कराया जाता है।

इन पूर्वकर्मों द्वारा जब दोष कोष्ठ की ओर आते है, तो निकट के मार्ग से उनका निर्हरण कर दिया जाना चाहिए।

2. प्रधानकर्म- वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण या वमन, विरेचन, निरुह व अनुवासन बस्ति तथा नस्य। ये पाँच प्रधान कर्म है।

3. पश्चात कर्म- वमन-विरेचन आदि के द्वारा शरीर का शोधन करने के पश्चात्, अग्नि वृद्धि हेतु और बलाधान के लिए तथा शरीर को प्राकृत अवस्था में लाने हेतु जो कर्म किये जाते हैं, वे पश्चात् कर्म कहे जाते हैं। जैसे- (i) संसर्जन क्रम, (ii) रसायन-वाजीकरण प्रयोग और (iii) शमन प्रयोग।

(i) संसर्जन कर्म- पञ्चकर्म द्वारा शोधन किये जाने पर जठराग्नि दुर्बल हो जाती है और आहार का पाचन करने में क्षीण/असमर्थ होती है, अतः अग्नि वर्द्धन हेतु आहार कल्पना लघु से गुरु की ओर की जाती है। जैसे पेया, विलेपी, यूष, मांसरस और कृत मांसरस, क्रमशः उत्तम-मध्यम-अवर शुद्धि के अनुसार खिलाकर तदन्तर प्राकृत आहार दिया जाता है। इस क्रम को संसर्जनक्रम कहते है।

(ii) रसायनादि क्रम- यदि किसी व्यक्ति का शोधन रसायन या वाजीकरण औषध-सेवन कराने के लिए किया गया हो, तो उस व्यक्ति को संसर्जन क्रम के पश्चात् रसायन या वाजीकरण औषध का प्रयोग करना चाहिए।

(iii) शमन चिकित्सा- रोगी को संसर्जनक्रम के पश्चात् रोगानुसार रोगाशक औषध का प्रयोग कराना चाहिए।

वमन कर्म : परिचय

वमन द्वारा दोषों को उर्ध्वमार्ग अर्थात् मुखमार्ग से बाहर निकाला जाता है।

जो द्रव्य अपक्व पित्त तथा कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर मुख द्वारा बाहर निकाल देता है, उसे वमन कारक द्रव्य कहते है। जैसे-मदनफल।

वमन के पर्याय- वमि, वमथु, वमन

वमन का कार्य- कफ का प्रमुख स्थान आमाशय है और दोषों का सन्निकृष्ट मार्ग से निकालने का सिद्धान्त है; अतः वमन से आमाशयस्थ कफदोष के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर स्थित वैकृत कफ दोष का समूलोच्छेदन हो जाता है जिससे कफज रोगों के होने की सम्भावना क्षीण या समाप्त हो जाती है।

विरेचन कर्म : परिचय

दोषों को अधोमार्ग (गुदा) से बाहर निकाल देना विरेचन कहलाता है। तथा उर्ध्व व अधः मार्ग शोधन हेतु भी विरेचन संज्ञा दी गई है। यह पित्तदोषज विकारों का उपचार है। पित्त के लिए, पित्तप्रधान दोषों के लिए, कफसंसृष्ट पित्त के लिए और पित्तस्थानगत कफ के लिए विरेचन देना उत्तम है। विरेचन आमाशय के पित्त का शोधन कर अन्य शरीर स्थित वैकृत पित्त को भी शान्त कर देता है।

बस्ति कर्म : परिचय

बस्ति मूत्राशय को कहते हैं और बस्ति (Urinary bladder) के द्वारा जो औषध (गुदादि मार्ग से) शरीर में प्रविष्ट की जाती है तथा शरीर में कुछ काल रह कर कार्य करती है। उसे बस्ति कहते हैं। इस प्रकार बस्तिकर्म का अर्थ है- 'मूत्राशय या बस्ति द्वारा औषधियों को आभ्यन्तर प्रविष्ट करना।

बस्ति शब्द से निरूह, अनुवासन और उत्तरबस्ति आदि बस्तियों का बोध होता है। बस्ति द्वारा प्रायः गुदामार्ग से औषध-सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, मांसरस आदि को पक्वाशय में प्रविष्ट कराया जाता है। मूत्रमार्ग या योनिपथ से जो बस्ति दी जाती है, उसे उत्तरबस्ति कहते हैं। व्रण मुख में जो बस्ति देते है उसे व्रण बस्ति कहते हैं। गुद से पक्वाशय में, मूत्रमार्ग से मूत्राशय में और योनिमार्ग से गर्भाशय में बस्ति यन्त्र द्वारा औषध पहुँचाई जाती है।

पूर्वकाल में गाय, बैल, बकरे या भैंस आदि प्राणियों के मूत्राशय का बस्ति के लिए प्रयोग होता था। परन्तु रबर के आविष्कार पश्चात् प्राणि मूत्राशय का प्रयोग लगभग न्यून हो गया है।

बस्ति सर्वाङ्ग शरीर के लिए व्यापक लाभकर के साथ-साथ वायुजन्य रोगों के प्रतिकार के लिए श्रेष्ठतम चिकित्सा है। क्योंकि सर्वाधिक रोग वायु के कारण होते है। इसी कारण बस्तिकर्म आधी चिकित्सा तथा कुछ विद्वानों के अनुसार बस्तिकर्म सम्पूर्ण चिकित्सा है।

नस्य कर्म : परिचय

परिचय- नासिका द्वारा औषध-चूर्ण अथवा औषध-सिद्ध द्रव्यों का प्रयोग नस्यकर्म कहलाता है।

पर्याय- नस्यकर्म, नस्तः कर्म, शिरोविरेचन, शिरोविरेक, मूर्धविरेचन, नस्तः प्रच्छर्दन

उर्ध्व जत्रुगत विकारों में विशेषकर नस्य का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि नासिका शिर का द्वार है और इस द्वार से प्रविष्ट औषध शिर में व्याप्त होकर ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों को दूर करती है।

आचार्य चरक के अनुसार शिर, ग्रीवा, स्कन्ध, नेत्र, नासिका, मुख, दन्त आदि के रोगों में, अर्दित में, स्वरभेद में, वाग्ग्रह और गद्गद (हकलाने) में नस्य उपयोगी है। (च. सि. 2/22) .

रक्तमोक्षण : परिचय

पर्याय- रक्तावसेचन, रक्तनिर्हरण, रक्तस्रावण, शोणितमोक्षण, रक्तहरण और अस्रविश्रुति।

परिचय- शरीर के किसी स्थान-विशेष से रोग मुक्ति हेतु रक्त को निकालना रक्तमोक्षण कहलाता है। रक्त के दूषित होने पर अनेक प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है। अतः रक्त दुष्टी होने पर उसको रक्त मोक्षण के द्वारा शरीर से बाहर निकालने पर तज्जन्य रोगों के होने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। क्योंकि रक्त और पित्त का आश्रय-आश्रयी भाव होने के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए रक्त रोगों की चिकित्सा हेतु रक्त-पित्तहर, विरेचन, उपवास तथा रक्तमोक्षण निर्देशित है।

विभिन्न संहिता में पञ्चकर्म के प्रमुख सन्दर्भ

1. चरकसंहिता- सूत्रस्थान अ. 2, 13, 14, 15, 16, 22। विमान. अ. 8। कल्प. अ. 1-12 तथा सिद्धि. अ. 1-12
2. सुश्रुतसंहिता- सूत्र. अ. 13, 14, 39। चिकित्सा. अ. 1 तथा 31-40 तक।
3. अष्टाङ्गहृदय- सूत्र. अ. 16, 17, 18, 19, 20, 26, 27। कल्प. अ. 1-5 तक।
4. योगरत्नाकर- प्रकीर्ण विषय।
5. भावप्रकाश- पूर्व खण्ड।

वर्त्तमान में पंचकर्म की उपादेयता

वर्त्तमान समय एक व्यस्तम आधुनिक मशीनी युग बन गया है। जिसके कारण लोगों की जीवनचर्या में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं जिसमें आहार सम्बन्धी जैसे फास्ट फूड, डिब्बा बंद भोजन, उच्च कैलोरी युक्त भोजन, अतिशीत भोजन ग्रहण तथा शारीरिक श्रम एकदम अल्प हो गया है। अर्थात् वर्त्तमान युग में शारीरिक श्रम कम तथा मानसिक श्रम अधिक हो गया है। आरामदेह जीवन व्यतीत करने को लालसा के कारण अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त होते जा रहे हैं जिसमें प्रमुख रूप से मोटापा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हाइपोथाईरोडिज्म, हृदय रोग आदि शामिल है। पक्षाघात, अर्दित, कटिशूल, ग्रीवा शूल, आमवात, संधिगत वात जैसी व्याधियाँ के साथ इम्यून सिस्टम के रोग भी अधिक तेजी से बढ रहे हैं। इन सभी रोगों की भारत में बहुत तेजी से प्रगति हो रही है। तथा सार्वाधिक चिन्तनीय विषय यह है कि ये रोग अब ग्रामीण परिवेश तक पहुँच गए हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में भी इनकी कोई कारगर या स्थाई चिकित्सा उपलब्ध नहीं है।

परन्तु चिन्तनीय विषय केवल आतुर के रोग शमन का नहीं है अपितु रोग ही न हो इस हेतु स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा भी अपेक्षित है। इस सिद्धान्त की पूर्ति केवल आयुर्वेद द्वारा ही सम्भव है और पंचकर्म के द्वारा रोग शमन एवं स्वस्थ के स्वास्थ्य के नियमन होता है। अतः वर्त्तमान समय में स्वस्थ के स्वास्थ्य हेतु स्वस्थवृत्त की दृष्टि से शास्त्र में वर्णित पंचकर्म करना चाहिए जैसे वसंत में वमन, शरद में विरेचन तथा वर्षा में बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा के सिद्धान्त के अनुसार चाहे वह आयुर्वेद या आधुनिक विज्ञान के हो, दोनों के अनुसार रोग मूल से नष्ट होकर पुनः उद्भव नहीं होना चाहिए तथा कोई नया अन्य रोग या उपद्रव भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए। चिकित्सा के इस सिद्धान्त को पुष्टि भी पंचकर्म के द्वारा सम्भव है क्यों पंचकर्म से ही रोगों को समूल नष्ट कर सकते हैं जिससे उनका पुनः उद्भव न हो अथवा रोग अवश्य ही पहले की अपेक्षाकृत क्षीण हो जाते है जिससे दीर्घकाल तक औषध सेवन की आवश्यकता नहीं होती है जैसी आजकल आधुनिक चिकित्सा पद्धति के सेवन में होती है।

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में जो रोगी आयुर्वेद चिकित्सक के पास आता है वह बहुलोल्वण दोष प्रकोप की अवस्था में आता है तथा पूर्व में ही अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा (अनेक औषध प्रयोग) लेकर आता है इसलिए उस दृष्टि से भी पंचकर्म चिकित्सा का महत्त्व बढ जाता हैं क्योंकि इस अवस्था में आतुर को पंचकर्मात्मक आशुकारी चिकित्सा से ही शीघ्र लाभ दिलवाया जा सकता है।

वर्तमान समय में पंचकर्म सम्पूर्ण विश्व में डी-टोक्सीफिकेशन एवं रेलेक्स थैरेपी के रूप में विख्यात हैं पंचकर्म के ही कारण मेडिकल टूयूरिज्म के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं और पंचकर्म चिकित्सा लेने हेतु लोग विदेशों से भी भारत आने लगे हैं इसकी ख्याति का अनुमान इससे लगा सकते हैं कि विदेशों में भी अनेक आयुर्वेद एवं पंचकर्म के केन्द्र खुल गए हैं। क्यों सम्पूर्ण विश्व एक ऐसी चिकित्सा पद्धति चाहता हैं जो सुरक्षित, उपद्रव रहित जिसका प्रभाव अधिक

समय तक हो तथा रसायनिक पदार्थों का उपयोग अल्प या न हो। आयुर्वेद की पंचकर्म चिकित्सा पद्धति ही ऐसी चिकित्सा पद्धति है जिसने चिकित्सा अनुसंधान, रोग मुक्ति, स्वास्थ्यानुवर्तन क्षेत्र में अपने नये आयाम स्थापित कर, सभी चिकित्सा पद्धतियों में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

पंचकर्म चिकित्सा पद्धति, वर्तमान में तेजी से बढ रहे ऐसे रोग जिनकी कोई विशेष चिकित्सा उपलब्ध नहीं है या केवल शल्य पर आधारित हैं पर भी कारगर है जैसे- हारमोनल सम्बन्धी रोग, इम्यून सम्बन्धी, त्वक् रोग जैसे (सोरायसिस, SLE, श्वित्र, विचर्चिका) मस्कुलो स्कलेट्रल, न्यूरोलोजिकल, रूमेटिज्म, स्पाइनल कोड सम्बन्धी, अस्टियोपोरोसिस, मानसिक व्याधियाँ जैसे अनिद्रा, उन्माद, अपस्मार तथा ई. न. टी. के रोग आदि में।

जिससे जैविक शोधन अंगों के स्तर (Organ level) तक ही न होकर कोशिका के स्तर (Cell level) पर भी होता हैं इसीलिए जिन रोगों की आशातीत चिकित्सा नहीं हो पाती है उनके लिए पंचकर्म ही विकल्प के रूप में देखा जाता है।

Specifications of the Panchakarma Theatre

No. of treatments depends on type & nature of treatments e.g. Basti will take less time however Vaman will take long time.

No. of treatment rooms

1. Snehana Kaksha (Male)
2. Snehana Kaksha (Female)
3. Swedana Kaksha (Male)
4. Swedana Kaksha (Female) and also for shastik shali, patra pinda, pindichill janu, kati basti and other procedures
5. Shirodhara Kaksha(Male)
6. Shirodhara Kaksha(Female)
7. Vamana Kaksha(Male)
8. Vamana Kaksha(Female)
9. Virechana Kaksha(Male)
10. Virechana Kaksha(Female)
11. Basti Kaksha(Male)
12. Basti Kaksha(Female)
13. Rakta Mokshana, Jalaukavacharana, Agnikarma, Pracchanna etc Kaksha
14. Panchakarma therapist/ Physician's room
15. Panchakarma store room

All rooms have attached toilet-bath with wash basin and geyser facility in each.

Physiotherapy Unit

16. Physiotherapy Room
17. Waiting Space for patients

18. Staff room- for changing uniform, lockers and rest
19. Male and Female toilets for common use
20. Medicine preparation area/Kitchen (to prepare medicine use for panchakarma procedure)

All Room Size: Minimum 10 ft. X 10 ft.

Instruments

- Droni: Minimum 7ft. X 2.5ft. (Wood or Fibre)
- Appropriate stand to fix droni: 2.5ft.height
- Swedana chamber (vertical & Horizantal) and nadi swedan yantra
- Footstool
- Stool
- Arm chair
- Heating facilities
- Shirodhara stand and shirodhara table
- Basti Yantra
- Uttara Basti Yantra for males and females
- Bedpan (male and female)
- Vamana patra/Table (Peeth)
- Kidney trays
- Raktamokshana kit including leeches,syringes and needles
- Gokarnas
- Stethoscope
- Sphygmomanometer
- Thermometer
- Hot water-bath
- Pressure cooker (5litres)
- Small pillows covered with rexin sheet
- Small almairah
- Plastic aprons, gloves and masks
- Knife and scissor
- Clock
- Hot water facility
- Exhaust fans- Minimum 1 per room
- Sufficient light and ventilation in each room
- Autoclave equipment for sterilization

Specifications of the specialized Panchkarma – Uttarbasti (for Male and Female)

For Female Uttarbasti

1. **Room requirements** – Minimum 100 sq feet having good ventilation and light
2. **Articles requirements** -

a. Sterilizer or Autoclove
b. Pillow
c. Hot water bag
d. Kidney tray
e. Good light source
f. Table having bars for giving lithotomy position
g. Disposable syringes (5–10cc)
h. Sterilized Gloves
i. Sterilized cotton
j. Sterilized tampoons
k. Sterilized medicine (Medicated Ghee or oil or decoction used for treatment of Uttarbasti)

3. **Instrument requirements** – All instruments should be sterilized or autoclaved

a. Sims speculam
b. Anterior vaginal wall retractor
c. Vulsellum
d. Uterine sound
e. Swab holder
f. Artery forceps
g. Toothed forceps
h. Metallic or disposable insemination canula

For Male Uttarbasti –

1. **Room requirements** – Minimum 100 sq feet having good ventilation and light
2. **Articles requirements** -

a. Sterilizer or Autoclove
b. Pillow
c. Hot water bag
d. Kidney tray
e. Good light source
f. Disposable syringes (20 – 50 cc)
g. Sterilized Gloves
h. Sterilized cotton
i. Sterilized gauze
j. Foley's catheter (various sizes as per requirement)
k. Sterilized medicine (Medicated Ghee or oil or decoction used for treatment of Uttarbasti)

3. **Instrument requirements** – All instruments should be sterilized or autoclaved

a. Swab holder
b. Artery forceps

Specifications of Leech therapy

I. Space Requirement :

a) Room for Minor O.T. : 200 Sq. ft.

II. Equipments / Miscellaneous items:

a) Storage Aquarium for fresh leeches : 50-75 litres capacity (may be with partitions)

b) Glass containers (1 litre capacity) for storing used leeches : 25 - 50 (For each patient requires separate container and the number may vary according to the number of patients)

c) Leeches : (As per the requirement, usually 3-5 leeches per patient / treatment period)

d) Surgical table : 02

e) Surgical trolley : 04

f) Surgical tray : 05

g) Instruments : Different types of Forceps, Scissors, Needles, Suturing material etc. (As per the requirement)

h) Dressing tray with gloves, Bandage cloth, Bandages etc. (As per the requirement)

i) Materials : Turmeric, Saindhava lavana, Jatyadi ghrita taila, honey. (As per the requirement)

Panchakarma Technican/Assistant/Therapist- Minimum 2 per treatment room; male and female separate; i.e. minimum 2 male panchakarma technicians or 2 female panchakarma technicians for a treatment room.

Panchakarma Attendant Minimum 1 per treatment room; male and female separate

(1) अभ्यंग टेबल– यह एक काष्ठ निर्मित सादा टेबल है जो द्रोणी हेतु उपयोगी लकडी जैसे सागवान की लकडी जिसकी लम्बाई 6 फिट, चौडाई 2.5 फिट और ऊँचाई 2.5 फिट की बनी होती है। जिसके ऊपर का स्तर प्रशस्त स्निग्ध, श्लक्ष्ण तथा दृढ हो और सम्भवतः एक ही काष्ठ से निर्मित अन्यथा एक संधिवाला हो। संधिस्थान पक्का होना चाहिए जिससे तैलादि का स्रवण (Leakage) न हो, और आतुर को किसी प्रकार की क्षति भी न हो, यह भी आवश्यक है। स्तर के कौने से चारों बाजू पर आधा इंच गहरा, 1 से 1.5 इंच चौड़ा एक ढलाव होना चाहिये। यह ढलाव इस टेबल को बहुलक्षी (Multipurpose) बनाता है। और समयानुसार इसका धारा आदि कर्मों के लिये उपयोग किया जा सकता है। टेबल के शिर की तरफ में –7 इंच व्यास की गोलाकार अंदर की ओर ढलाव वाली एक ऐसी चक्रिका लगी होती है जिसके मध्य में एक छिद्र होता है और वह छिद्र टेबल के उसी स्थान के छिद्र के साथ संयुक्त होकर आरपार छिद्र बनाता है। यह चक्रिका इस टेबल को शिरोधारा के लिये उपयोगी बनाती है।

उपयोग–

(1) इस टेबल पर आतुर को 7 अवस्था में रखकर अभ्यंग कर सकते हैं।

(2) धारा कर्म के लिये।

(3) शिरोधारा के लिए।

(4) इस टेबल पर उद्वर्तन, मर्दन, लेपन, संवाहन इत्यादि कर्म किये जा सकते हैं।

(2) वाष्पस्वेदन यंत्र– सर्वांग में वाष्पस्वेद करने के लिये निर्मित यह लकडी का पेटी के आकार का, टेबल के सदृश ही उपकरण है। यह 6 फिट लम्बा, 2.5 फिट चौडा और 2 फिट ऊँचा लकडी का ऐसा टेबल है– जिसकी चारों बाजूएँ लकडी से बंद है– जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। इसके ऊपरी सतह पर लकडी की एक जालीदार सछिद्र पट्टी लगी होती है। जिसका प्रत्येक छिद्र एक इंच चौडाई प्रमाण का बना होता है। सिर के तरफ एक शिरःफलक बना होता है। जो 9 इंच लम्बा और 10 इंच चौड़ा होता है। जालीदार स्तर को ढकने का फलक है जो सीधा और स्तर पर अंतर न रखते हुए उससे चिपटकर ढक देता है। वाष्पस्वेदन यंत्र के बाजू में दो कपाट होने चाहिये– जिनको बंद करने पर अन्दर के भाग को पूर्णतः बंद कर सके।

उपयोग– स्वांग स्वेदन हेतु

3. अवगाह कोष्ठक– यह नहाने का टब सदृश होता है जो स्टील, या फायबरग्लास के द्वारा बना होता है। यह 5.5 फिट लम्बा 2.5 फिट चौडा तथा 1.5 फिट ऊँचा कोष्ठक होता है। इस कोष्ठक के तल में एक बहिःस्रोत (छिद्र) रखना चाहिये जिसको पूर्णतः बंद करने के लिये मजबूत डाट या ढक्कन होना चाहिये। कोष्ठक का अवगाहोत्तर द्रव इस स्रोत से बाहर निकाल दिया जाता है।

उपयोग– इस कोष्ठक को करीब 1 फुट क्वाथ आदि द्रव तक भरकर आतुर का विधिवत् अवगाह स्वेद करने हेतु।

4. तैल द्रोणि– यह द्रोणि एक ही काष्ठ से निर्माण निर्मित होनी चाहिए अर्थात् इसमें संधि नहीं हो, क्योंकि संधिस्थान से स्राव (Leakage) होने की सम्भावना रहती है। द्रोणी 11 फिट 9 इंच लम्बा और 2 फिट 9 इंच चौडा होता है। इसके दोनों बाजू में 9-9 इंच का अंतर छोड़कर गोल आकार के दो दो हस्तक (handles)–जिनका परिणाह 2 इंच का होता है। द्रोणी के अंदर का भाग दो उपभागों से विभक्त होता है। सामने का पुरो–विभाग अथवा शिरोविभाग (Anterior Compartment or Head Compartment) जिसकी लम्बाई 2.5 फिट और चौडाई 2.5 फिट होती है और दूसरा पश्चात् विभाग या शरीर विभाग (Posterior Compartment or Body Compartment) 7.5 फिट लम्बा और 2.5 फिट चौड़ा होता है इसके लिये सामने के बाजू से 2 फिट 4 इंच अंतर पर स्तर की चौड़ाई में छेद करने वाली एक रेखा पट्टिका और इसके 1.5 इंच के अंतर पर इस रेखा के समान्तर दूसरी रेखा पट्टिका होती है। इन दो रेखाओं के द्वारा शिरो विभाग और शरीर विभाग एक दूसरे से पृथक् हो जाते है। इस तरह इन रेखाओं से निर्मित उत्सेध युक्त स्थान पर आतुर को शिर रखने की सुविधा हो जाती है।

शिरोविभाग (Head compartment) पुनः दो छोटे विभागों में विभक्त होता है। एक विभाग जो सामान्य स्तर सिर की ओर जिसका परिमाण 11 इंच का होता है। दूसरा विभाग 17.5 इंच परिमाण का होगा जो विभागीय मध्य रेखा से सिरा की ओर ढलाव वाला (Sloping) होता है। इस शिरो विभाग में एक ऐसा गड्ढा होता है जो अर्ध वृत्ताकार और 10 इंच परिमाण का तथा 6 इंच गहराई का होता है। जिससे कि शिरोधारा करने पर गिरा हुआ द्रव ढलाव वाले स्तर से बहते हुए इसमें संचित हो जाये और पुनः प्रयोग के लिये इसका उपयोग किया जा सके। रेखापट्टिका से इस गड्ढे तक का स्तर ऐसा होता है कि जो गड्ढे की ओर ढलाव रखता हो।

शरीर विभाग (Body Compartment) का स्तर ऐसा होता है जो पाँव की ओर क्रमशः ढलाव लिये हुए 7.5 इंच का गहरा हो और अंत भाग में इसमें एक स्रोत (छिद्र) हो जिससे द्रव पदार्थ द्रोणी के बाहर एकत्रित किया जा सके। दो विभागों को विभक्त करने वाली रेखा पट्टिका ऊपरी भाग से गोल, श्लक्ष्ण और मध्य भाग में अंतरायाम (Concave)

गर्त वाली होती है। जिससे सुविधा पूर्वक सिर रखा जा सके। द्रोणी को रखने के लिये इसी प्रमाण के काष्ठ का प्रतिष्ठान (स्टैण्ड) जो 2.5 फिट ऊँचा और 10 फिट लंबा, तथा 2.5 फिट चौड़ा होता है जिसमें शिरो विभाग की और कुछ ज्यादा ऊँचाई और पाँव की ओर ढलाव हो।

द्रोणी हेतु उपयोगी काष्ठ– प्लक्ष, उदुबंर, गंधासार, वरुण, वट, देवदारु, बकुल, अशोक, असन, आम्र, चंपक, बेल, निंब, खैर, अर्जुन, इत्यादि वृक्षों के काष्ठ प्रशस्त माने गये हैं। वर्तमान में प्रायः एक काष्ठ में निर्माण करने के लिये इतना बड़ा काष्ठ उपलब्ध नहीं होती है अतः आजकल फायवरग्लास की बनी जो उष्णसहत्व में उत्तम और वजन में हलका होता है का उपयोग किया जा सकता है।

उपयोग– द्रौणी का उपयोग शिरोधारा पिर्षिचिल तथा अन्य अभ्यंगादि कर्म के लिये होता हैं शिरोधारा हेतु पुरोविभाग का उपयोग और पिर्षिचिल हेतु पश्चात् विभाग में करते हैं।

5. धारा टेबल– स्नेहधारा और शिरोधारा के लिये द्रोणी के समान ही धारा टेबल का प्रयोग किया जाता है, परन्तु यह द्रोणि के समान ही उपयोगी, अल्प लागत में निर्मित और सुविधाजनक होता है। जो 7 फिट लम्बा, 2.5 फिट चौडा, 2.5 फिट ऊँचा होता है। इसकी ऊपरी सतह पर दोनों बाजू में किनारों से 3 इंच ऊँचाई की आलवाल होती है। जिससे टेबल पर गिरा हुआ द्रव टेबल से बाहर नहीं जा सकेगा। इसके सतह पर सिर की ओर से 2.5 फिट अंतर पर एक मध्यरेखापट्टि का जो टेबल को दो भागों में विभक्त करती है। ऊपर का शिरोभाग (Head Compartment) छोटा भाग जो शिरोधारा के काम में लाया जाता है– और दूसरा शरीर भाग (Body Compartment) जो पिर्षिचिल के लिये काम में लाया जाता है। शिरोविभाग में 6 इंच व्यास का वृत्ताकार ढलाव से युक्त-अंतर्मध्यछिद्र से युक्त एक चक्रिका होती है जिसके द्वारा शिरोधारा का द्रव छिद्र द्वारा नीचे रखे हुए पात्र में संचित हो जाता हैं शरीर विभाग का पांव की ओर ढलाव होना चाहिये और अंतभाग में एक छिद्र होता है जिससे सभी द्रव एकत्रित किया जा सकते है। शिरोधारा के लिये शिरो विभाग (Head Compartment) के ऊपर शिरोधारा स्टेण्ड पर एक तार या मजबूत डोरी बांधकर उससे धारापात्र इस प्रकार लटकाते कि वह आतुर के शिर से 4 अंगुल अंतर से धारा गिरा सके।

(6) धारा पात्र– शिरोधारा के लिये उपयोगी पात्र को धारापात्र कहा जाता है। यह पीतल, एल्यूमीनियम, स्टील, मिट्टी या काष्ठ में से या किसी अन्य धातु का होता है। यह एक ऐसा पात्र है जिसका मुख चौड़ा होता है, नीचे की ओर गोलाई में सिकुड़ा होता है और गहराई में 6 इंच का होता है। इसमें 2 प्रस्थ या लगभग 2 लीटर द्रव की क्षमता कम से कम होती है। इस पात्र के नीचे तल भाग में–कनिष्ठिका अंगुली का अग्रभाग प्रविष्ट हो सके इस तरह का लगभग 2 सें. मि. परिणाह का छिद्र जो बिलकुल मध्य में होता है। इस तल भाग पर एक वर्तुलाकार सिकुड़ा लकड़ी का या धातुनिर्मित कप के आकार का– मध्यभाग में छिद्रवाला पात्र उलटा कर ऐसा रखा होता है जिससे कि पात्र का छिद्र और धारापात्र का छिद्र ठीक समांतर दिशा में आ जाये। इस पात्र के स्थान पर नारियल का बराबर आधा काटा हुआ कवच भी उपयोग कर सकते हैं। पात्र के या नारियल कवच के किनारे स्निग्ध और धारापात्र में ठीक तरह अवकाश न रखते हुए बैठ जाये इसका ध्यान रखना चाहिए। ऊपर उलटाकर रखे हुए पात्र के छिद्र में से कपड़े की या रुई की दृढ़ वर्ति इस तरह बंधी होती है ताकि वर्ति के ऊपर का भाग पात्र के छिद्र को सम्पूर्णतः बंद न करे– अपितु जिसके द्वारा थोड़ा थोड़ा और सतत धारा युक्त द्रव छिद्र में से पूर्ति हेतु उतर सकें। वर्ति का दूसरा भाग धारा पात्र के छिद्र से उतरकर पात्र के बाहर आतुर शिर से करीब 4 इंच ऊँचाई तक लटकता रहना चाहिये। वर्ति को ग्रंथिस्थान में छोटी सी लकड़ी की पट्टी डाट के स्वरूप में लगी होती है जिससे वह छिद्र द्वारा बाहर गिर न सकें।

उपयोग– शिरोधारा हेतु

(8) शिरोबस्ति यंत्र– शिरोबस्ति यंत्र यह चमड़े या रेग्जीन का टोप के आकार का गोल–दोनों बाजू से बंद पट्ट है, साधारणतः 18 इंच से 24 इंच के परिणाह या आतुर के सिर की मापानुसार बनाना चाहिये। इसका परिणाह तल की ओर से ऊपर शिखर की ओर क्रमशः कम होकर करीब 3 इंच कम होता है। अर्थात् तल में 24" का परिणाह हो तो शिखर में 21" का परिणाह रखें इसकी ऊँचाई 12 अंगुल (9 इंच) रखनी चाहिये। सामने की ओर एक पट्टा रखना चाहिये जो कसकर गोलाई का अंतर कम करने के लिये और छोटे शिरवाले व्यक्ति पर इसे संनद्ध करने के लिये उपयोग में लाया जा सके। चर्मपट्ट का चमड़ा या रेग्जीन दृढ़, स्निग्ध, श्लक्ष्ण और छिद्ररहित होना चाहिए।

(9) बस्तिनेत्र– यह धातु निर्मित गोल–दोनों तरफ से खुले मुख वाली नलिका हैं– जिसकी लम्बाई लगभग 7 इंच होती है। इसके मूल भाग में छिद्र लगभग 6 एम.एम. व्यास का और अग्र भाग का छिद्र 2.5 से. मी. व्यास का होता है। अग्र–भाग से 4 इंच के अंतर पर एक कर्णिका रखनी चाहिये जो नेत्र को गुद में अधिक प्रवेश से रोकती है। मूल भाग पर प्रथम एक कर्णिका और उसके 1 इंच के अंतर पर दूसरी कर्णिका होती है। इन दोनों के बीच बस्तिपुटक को अच्छी तरह बांधने हेतु होती है।

(10) उत्तर बस्ति यंत्र एवं उपयोगी उपकरण– वर्तमान में उत्तर बस्ति के लिये व्होलसेलम फौर्सेप्स (Volsellum forceps), सिम्स युटराईन साउंड (Sims uterine sound), ब्लॅडर साउंड फिमेल और मेल कैथेटर (रबर या मेटल), युटराईन केन्युला (Uterine canula) या रुबीन्सटैस्ट केन्युला (Rubin's Test Canula) और मेटल सिरिज इनका उपयोग करते हैं।

व्होलसेलम फोर्सोप्स में तेज दांत लगा होता है जो यंत्र को दबाने पर गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) को दृढ़ पकड़ने के काम में आता है इससे अवयव पर क्षत नहीं होता। यह 20 सें. मि. (8 इंच) लंबा सीधा या कुछ वक्राकार का होता है। यूटराईन साउंड यह एक सीधे नेत्राकार की शलाका है जिसका उपयोग गर्भाशयग्रीवा के स्रोत को खुला करने के लिये तथा गर्भाशयमार्ग के अन्वेषणार्थ किया जाता है।

ब्लेडर साउंड (Bladder Sound) – यह मूत्राशय शलाका है जो अलग–अलग आकार (भिन्न–भिन्न मोटाई) की होती है। ये साउंड पुरुष और स्त्रियों में दोनों में उपयोग किये जा सकते हैं। इनकी लम्बाई सामान्यतः 25 सें. मि. (10 इंच) के लगभग होती है।

फीमेल कैथेटर– (Female Catheter) ये शलाकायें धातु की, काँच की, प्लास्टिक की, रबर की बनी होती है। कांच और धातु की शलाकाएँ अग्रभाग में कुछ वक्र होती है। इनमें एक छिद्र (Channel) होते हैं। सामान्यतः नं. 6 और 8 की शलाकाएँ प्रयोग करते हैं आजकल रबर कैथेटर का उपयोग करते है। क्योंकि यह निरापद और सुविधा जनक होता है।

मेल कैथेटर– इन में भी अनेक आकार (मोटाई के अनुसार क्र. 1 से 12 तक) होत हैं। रबर कैथेटर का उपयोग अधिक सुविधाजनक है। सामान्यतः नं. 6, 7, 8 का उपयोग किया जाता है। ये दोनों, स्त्री और पुरुष की शलाकाएँ मूत्राशय में से मूत्र को निकालने के लिये तथा अनुवासन बस्ति हेतु प्रयुक्त की जाती है।

यूटराईन केन्युला– रुबिन टेस्ट केन्यूला– (Uterine Canula- Rubin's Test Canula) –यूटराईन केन्युला, यह धातु की करीब 6 इंच लंबी नलिका होती है, जिसे गर्भाशय में प्रविष्ट कराकर पीछे मेंटल सिरींज से संलग्न

कर गर्भाशय में औषधि पहुँचाने के काम में लाई जाती है। इसका अग्रभाग क्रमशः कुछ वक्र होता है और उसमें तीन या चार छिद्र होते हैं। रुबिन टेस्ट केन्यूला स्त्रियों में वंध्यत्व परीक्षा में– फौलोपियन ट्यूब के स्रोतोरोध की परीक्षा हेतु प्रयोग में लिया जाता है। इसके अग्रभाग में करीब 6 इंच लम्बी युटराईन केन्युला ही होता है। जो 6 इंच लम्बे धातुनिर्मित रिक्त नेत्र से संलग्न होता है। पीछे के भाग में पकड़ने के लिये कर्णिकाएँ होती हैं। अग्रभाग में रबरकैप लगी होती है जो गर्भाशय में विशिष्ट अंतर तक प्रवेश कराने के लिये और उससे अधिक प्रवेश को रोकने के लिए कर्णिका के सदृश काम करती है। इसके अग्रभाग में वक्रनेत्र में 3 या 4 छिद्र होते हैं। इसके पीछे के नेत्र भाग में कर्णिका के पीछे एक कपाट मुद्रिका लगी होती है जिसे घुमाकर नेत्रस्रोत को बंद कर सकते हैं या खोल सकते हैं। इसके पीछे के स्रोत में औषधि से भरी हुई मेटल सिरींज या प्लास्टिक सिरींज जोडी जा सकती है।

✕ ✕ ✕

अध्याय–2

पूर्वकर्म–स्नेहन

(Poorva Karma-Snehana)

प्रत्येक पंचकर्म विधि को तीन चरणों में सम्पादित किया जाता है।

1. पूर्व
2. प्रधान
3. पश्चात् कर्म

"त्रिविधं कर्म– पूर्वकर्म, प्रधानकर्म पश्चात्कर्मेति।" (सु. सू. 5/3)

पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् कर्म ये तीन कर्म मिलकर पंचकर्म को सफल बनाते हैं–

पूर्वकर्म

पंचकर्म द्वारा जिस व्यक्ति का शोधन करना है, उसकी तैयारी के लिए जो कर्म किए जाते हैं उन्हें पूर्वकर्म कहते हैं।

संशोध्यस्य पाचन–स्नेहन–स्वेदनानि पूर्वकर्मः (सु.सू. 5/3) डल्हण टीका

पूर्व कर्म के निम्न तीन प्रकार (Types of Poorva Karma)

(1) पाचन

(2) स्नेहन

(3) स्वेदन

(1) पाचन– आहार के ठीक प्रकार से पाचन हेतु तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधियों द्वारा यह पाचन कर्म किया जाता है। जैसे– पंचकोल चूर्ण, हिंग्वादि वटी, अग्नितुण्डी वटी, चित्रकादि वटी। क्योंकि पंचकर्म हेतु निराम अवस्था आवश्यक है जिससे आम दोष को पाचन द्वारा नष्ट करते है तथा अगले कर्म स्नेहन हेतु उपयुक्त अग्नि प्रदीप्ती एवं पाचन शक्ति बढ सके।

(2) स्नेहन– यह पंचकर्म का पूर्वकर्म है तथा कुछ रोगों में यह प्रधान कर्म के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। घृत, तैल, वसा, मज्जा चार उत्तम स्नेह हैं। स्नेह का प्रयोग बाह्य (अभ्यंग आदि) तथा आभ्यांतर (स्नेहपान) दोनों प्रकार

से किया जाता है। स्नेहन द्वारा शरीर में मृदुता आती है। जिससे दोष अपने स्थान से अलग हो जाते हैं। वमन एवं विरेचन में स्नेहपान के द्वारा (आभ्यान्तर) दोषो को उत्क्लिष्ट किया जाता है तथा अन्य जो स्नेहपान द्वेष करते हो उन्हें स्नेह प्रविचारण (भोजन आदि के साथ स्नेह मिश्रण करके देना) द्वारा स्नेहन किया जाता है।

(3) स्वेदन – जिस क्रिया द्वारा शरीर से स्वेद (पसीना) निकाला जाता है। वह स्वेदन है। इससे शरीर में जकडन, भारीपन तथा शीतता दूर होती है। स्नेहन से जो दोष उत्क्लिष्ट होते है उन्हे स्वेदन द्वारा पृथक कर प्रधान कर्म के द्वारा शरीर से बहार निकाल देते हैं।

वमन–विरेचन बस्ति नस्य सिरामोक्षणानि प्रधानकर्मः

पेयादिन्नसंसर्जन पश्चात् कर्म। (सु. सू. 5/3 डल्हण टीका)

कर्म–सारणी

पूर्व कर्म	प्रधान कर्म	पश्चात कर्म
पाचन	वमन	संसर्जन क्रम
स्नेहन	विरेचन	रसायनादि प्रयोग
स्वेदन	निरुह	शमन चिकित्सा
	अनुवासन	
	नस्य	
	(या)	
	वमन	
	विरेचन	
	निरुह	
	नस्य	
	रक्त मोक्षण	

स्नेहन

परिभाषा (Definition)

स्नेहन स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्। (च. सू. 22/10)

जिस क्रिया द्वारा शरीर में चिकनापन (स्निग्धता), दोषों का विलयन होकर, स्त्रवणशीलता, कोमलता, जलीय घटकों का प्रमाण बढ कर क्लेदता (चिपचिपापन) उत्पन्न होती है वह स्नेहन कहलाता है।

परिचय (Introduction)

वमनादि कर्मों का सम्यक् निष्पादन के लिए उन कर्मों के पहले स्नेहन कर्म करना परम् आवश्यक होता है। यह पंचकर्म का पूर्वकर्म है।

किन्तु वातप्रधान रोगों में किसी रोग की चिकित्सा के प्रयोजन हेतु जब स्नेहन का प्रयोग किया जाता है तो प्रधान कर्म के रूप में माना जाता है।

लघनं बृहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक्।। (च. सू. 22/4)

प्रधान कर्म के रूप में आचार्य चरक ने षड उपक्रम (6 प्रकार की चिकित्सा) के अन्तर्गत स्नेहन की गणना करके इसकी महत्त्वता को निर्देशित किया है।

परिचय (Introduction)– स्नेह का सामान्य अर्थ है-स्निग्ध तथा वह प्रक्रिया जिसके द्वारा स्निग्ध किया जाता है वह स्नेहन कहलाती है।

व्युत्पत्ति– स्निग्ध में 'घञ्' प्रत्यय से स्नेह यह (पुल्लिंग) शब्द बनता है जिसका अर्थ प्रेम, तैलादि, रस भेद से है।

शोधन पूर्व (वमन-विरेचन आदि), स्वस्थ एवं रोगी में तथा बृहंण या शमन हेतु स्नेहपान कराया जाता है। यह दोषानुसार या रोगानुसार अच्छ स्नेह या औषध संस्कार युक्त स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) द्वारा स्नेहनपान किया जाता है।

स्नेहों के प्रकार (Types of Sneha)

स्नेहों के अनेक भेद होते हैं। यथा

योनी/उत्पत्ति भेद से दो प्रकार–	(a) स्थावर	(b) जाङ्गम।	
उपयोग भेद से दो प्रकार–	(a) बाह्य और	(b) आभ्यन्तर	
संयोग/ मिश्रण भेद से तीन प्रकार–	(a) यमल	(b) त्रिवृत और	(c) महास्नेह
कर्म भेद से तीन प्रकार–	(a) बृंहण	(b) शमन और	(c) शोधन
संज्ञा भेद से तीन प्रकार–	(a) अच्छ	(b) सद्यः स्नेह	(c) पंचप्रासृतिकी पेया।
पाक भेद से तीन प्रकार–	(a) मृदु	(b) मध्यम और	(c) खर।
मात्रा भेद से चार प्रकार–	(a) हसीयसी	(b) ह्रस्व	(c) मध्यम और (d) उत्तम।

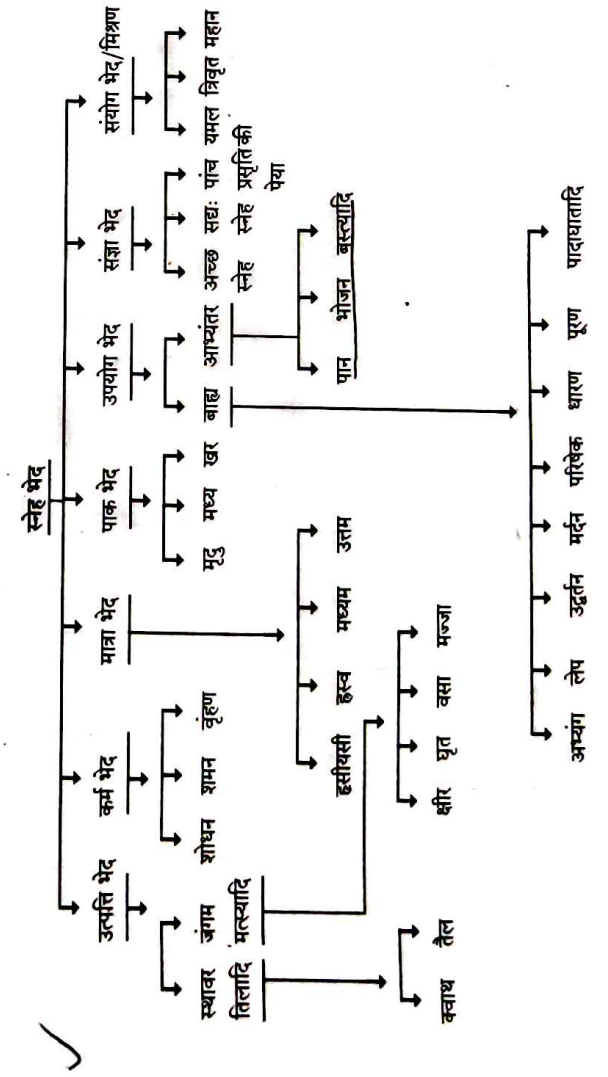

योनी/उत्पत्ति भेद से स्नेह

तिलः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्रामयैरण्डमधूकसर्षपाः।

कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोठकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः।।

स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञिताः स्युः। (च. सू. 13/10-11)

(A) स्थावर स्नेह- चरक ने 18 वनस्पतियों से स्थावर स्नेह के स्रोत है। जैसे-

1. तिल 2. चिरौंजी 3. अभिषुक 4. विभीतक 5. चित्रा 6. अभया
7. एरण्ड 8. मधुक 9. सर्षप 10. कुसुम्भ 11. बिल्व 12. भल्लातक
13. मूली 14. अतसी 15. अंकोठ 16. अखरोट 17. सहिजन 18. करञ्ज।

इनके अतिरिक्त मिर्ची, चालमोगरा (तुवरक) जयपाल, मालकांगनी, बादाम, नीम, जैतून, नीलगिरि, लवंग, कोकम, मूंगफली आदि द्रव्यों से भी तेल प्राप्त होता है।

सुश्रुत ने द्रव्यों के गुण कर्मानुसार अनेक वर्ग बनाये है, जैसे- पंचकर्म हेतु उपयोगी- वमनोपयोगी, विरेचनोपयोगी, शिरोविरेचनोपयोगी तथा रोगानुसार उपयोग जैसे- दुष्ट व्रण, कुष्ठ, मूत्रावरोध, अश्मरी, प्रमेह आदि (सु. चि. 31)

(B) जाङ्गम स्नेह- जो स्नेह प्राणियों से प्राप्त किया जाता है, उसे जाङ्गम स्नेह कहते हैं। जैसे-1. मछली का तेल, 2. गाय-भैंस-बकरी से प्राप्त घृत, 3. बकरा, हिरण, वाराह आदि की वसा और मज्जा।

उपयोग भेद से स्नेह-

(A) बाह्य स्नेह-स्नेह का बाह्य प्रयोग निम्नलिखित रूप में किया जाता है-

1. अभ्यङ्ग 2. लेप 3. मर्दन 4. उद्वर्तन 5. संवाहन 6. पादाघात
7. मूर्धतैल 8. गण्डूष 9. कर्णपूरण 10. नेत्रतर्पण 11. परिषेक
12. योनि आदि में पिचुधारण 13. मस्तिष्क्य 14. अवगाहन (स्नेह द्वारा)

(B) आभ्यन्तर स्नेह-

1. भोजन 2. पान 3. नस्य और 4. बस्ति

इन चार प्रकारों से स्नेह का आभ्यांतर प्रयोग होता है।

संयोग/मिश्रण भेद से स्नेह-

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकः त्रिवृतो महान्। (अ. ह. सू. 16/4)

विभिन्न स्नेहों को एक से मिलाकर प्रयोग किया जाता है। और उनके मिश्रण को पृथक्-पृथक् नाम से जाना जाता है। जैसे- दो स्नेहों का मिश्रण यमक कहलाता है, तीन का त्रिवृत् और चार का मिश्रण महास्नेह कहा जाता है।

(A) यमकस्नेह- (दो स्नेहों का मिश्रण)

1. सर्पि+तैल। 2. सर्पि+वसा। 3. सर्पि+मज्जा
4. तैल+वसा। 5. तैल+मज्जा। 6. वसा+मज्जा।

(B) त्रिवृतस्नेह- (तीन स्नेहों का मिश्रण)

1. सर्पि+तैल+वसा। 2. सर्पि+तैल+मज्जा। 3. तैल+वसा+मज्जा। 4. सर्पि+वसा+मज्जा।

(C) महास्नेह- (चारों स्नेहों का मिश्रण) सर्पि+तैल+वसा+मज्जा

संज्ञा भेद से स्नेह-

विशेष नाम देकर स्नेहों के निम्न प्रकार का वर्णन किया गया है।

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्।

स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः।। (च. सू. 13/26)

(A) अच्छपेय- अकेले बिना किसी द्रव्य में मिलाये स्नेह अर्थात् प्रविचारणा रहित शुद्ध स्नेह या केवल मात्र स्नेह पान 'अच्छपेय' कहते है। इस कल्पना को स्नेहपान की मुख्य कल्पना कहा गया है।

(B) सद्यः स्नेहन- जिस स्नेह के प्रयोग से कम से कम समय में (1/2/3 दिन में) अर्थात् शीघ्र ही स्नेहन होता है, उसे 'सद्यः स्नेहन' कहते है।

लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्।

तद्ध्यभिष्यन्दरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च।। (च. सू. 13/98)

लवण के साथ सेवन किया गया स्नेह मनुष्य का शीघ्र ही स्नेहन कर देता है, क्योंकि लवण अभिष्यन्दी होने से स्रोतों में स्राव उत्पन्न करता है, स्निग्ध होने से स्निग्धता लाता है, सूक्ष्म होने से शरीर के अतिसूक्ष्म स्तर तक प्रवेश कर जाता है, उष्ण होने से स्नेहों का पाचन करता है और व्यवायी होने से पहले सम्पूर्ण शरीर में स्नेह को फैलाकर बाद में उसकी पाचन क्रिया सम्पन्न कर शीघ्र स्नेहन करता है।

(C) पञ्चप्रासृतिकी पेया- घृत, तैल, वसा, मज्जा और चावल प्रत्येक एक-एक प्रसृत (लगभग 100ग्राम) लेकर बनायी गयी पेया पञ्चप्रासृतिकी पेया कहलाती है। इस पेया के साथ दूध में चावल तथा उड़द डालकर सिद्ध की हुई खीर (जिसमें अधिक घी मिलाया गया हो) का सेवन करने से शीघ्र ही (1/2/3 दिन में) स्नेहन हो जाता है।

पाक-भेद से स्नेह

खरोऽभ्यङ्गे स्मृतः पाको मृदुर्नस्तः क्रियासु च।

मध्यपाकं तु पानार्थे वस्तौ च विनियोजयेत्।। (च. क. 12/104)

स्नेह पाक भेद निम्न 3 प्रकार के होते हैं-

1. मृदुपाक- मृदु पाक होने पर, तैलपाक में डाली हुई औषधियों का कल्क प्रथम डाले हुए कल्क के समान हो जाता है। **उपयोग-** नस्य हेतु

2. मध्यपाक- मध्य पाक होने पर तेल का कल्क हलवा की तरह कछुल को छोड़ने लगता है। **उपयोग-** पान एवं बस्ति हेतु

3. खरपाक- खर पाक होने पर तेल का कल्क अँगुलियों से मसलकर वर्ती बनाते समय टूट जाय एवं कडा हो जाती है। **उपयोग-** अभ्यङ्ग हेतु।

मात्रा भेद से स्नेह–

स्नेह की चार प्रकार की मात्रा बतलायी गयी है– 1. ह्रसीयसी, 2. ह्रस्व, 3. मध्यम और 4. उत्तम।

1. ह्रसीयसी मात्रा– रोगी के दोष, दूष्य, शरीरबल और अग्निबल आदि का विचार कर पहले ह्रसीयसी (लगभग 30 एम.एल) स्नेहमात्रा देनी चाहिए उसके पश्चात् अग्निबल के अनुसार मात्रा बढ़ाते जानी चाहिए। अज्ञात कोष्ठ, बालक, वृद्ध और सुकुमार व्यक्तियों को ह्रसीयसी देनी चाहिए।

2. ह्रस्व मात्रा– जिनका कोष्ठ मृदु हो एंव अग्निबल अल्प हो, उन्हें अल्पमात्रा में स्नेहपान कराना चाहिए। जो मात्रा 2 प्रहर (6 घण्टे) में जीर्ण होती है, उसे ह्रस्वमात्रा कहते हैं। यह मात्रा अल्प दोषों में दी जाती है।

3. मध्यम मात्रा– यह मात्रा मध्यम बलवाले दोषों में दी जाती है। यह मात्रा 12 घण्टे में पचती है। इसका प्रयोग प्रमेह, त्वक् एवं रक्तविकृति में होता है। इससे सुखपूर्वक स्नेहन और शोधन होता है। (चरकानुसार)

4. उत्तम मात्रा– यह अत्यधिक दोषबल में दी जाती है। इस मात्रा को तीक्ष्णाग्नि में देना चाहिए। यह ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् मार्गों में फैल जाती है। यह दोषों का क्षय करती है और शरीरबल को बढाती है।

कर्मानुसार स्नेहपान भेदः–

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोच्छः शुद्धये बहुः।
शुद्धयर्थं पुनराहारनैशे जीर्णे पिवेन्नरः।। (अ. ह. सू. 16/19 च. सू. 13/61)

1. संशमन– भोजन के समय भूख लगने पर संशमन स्नेह का पान किया जाता है इसमें मध्यम मात्रा में स्नेह प्रयोग करते है तथा दोषों के शमन हेतु प्रयुक्त होता है।

शमनः क्षुद्धतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते।। (अ. ह. सू. 16/19)
पिबेत्संशमनं स्नेहं अन्नकाले प्रकांक्षितः।। (च. सू. 13/61)

2. संशोधन– पूर्व रात्रि में खाये हुए अन्न का ठीक से पाचन हो जाने पर प्रातः काल शोधन स्नेह का प्रयोग करते है, यह निश्चित मात्रा में (वृद्धि क्रम में) 3 से अधिकतम 7 दिन प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा दोषों को स्निग्ध, विलयन तथा उत्क्लेशन कर कोष्ठ में लाकर शरीर से बहार निकाल देते है इसमें प्रभूत (उत्तम) मात्रा में स्नेह प्रयोग करते हैं।

बृंहणो रस मद्याद्यैः स भक्तोऽल्प हितः स च।। (अ. ह. सू. 16/20)

3. बृंहण– यह मद्य, मांस तथा भोजन के साथ मिश्रित कर अल्प मात्रा में स्नेह शरीर को पुष्ट करने हेतु दिया जाता है।

उत्तम गुणानुसार स्नेह भेद :–

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः।
एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्।। (च. सू. 13/13)

चार उत्तम स्नेह

घृत, तैल, वसा एवं मज्जा ये चार स्नेह सभी स्नेहों में उत्तम माने जाते हैं और इन चारों में घृत सर्वोत्तम होता है क्योंकि यह संस्कार का अनुवर्तन करता है।

घृत के गुण–

घृत पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितं।
निर्वापर्ण मृदुकरं स्वरवर्ण प्रसादनं।। (च. सू. 13/14, 15)

(1) यह पित्त व वात शामक है।
(2) रस, शुक्र और ओज के लिए हितकारी होता है।
(3) दाहशामक, कोमलताकारक, स्वर–वर्ण प्रसादक होता है।

तैल के गुण–

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनि विशोधनम्।। (च. वि. 13/15)

तैलंतु आग्नेयं उष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधा मार्दवं मांस स्थैर्य वर्ण बलकरं चक्षुष्यं....। (सु. सू. 45/112)

वातनाशक– कफ का वर्द्धन न करने वाला, बलवर्धक होता है।
ऊष्ण, त्वचा के लिए हितकारी, देहस्थिरता कारक व योनिशोधक होता है।

वसा के गुण–

वातातपसहा ये च रुक्षा भाराध्व कर्षिता। संशुष्क रेतोरुधिराः निष्पीत कफमेदसः।।
अस्थि संधिसिरा स्नायु मर्मकोष्ठ महारुजः। बलवान् मारुतो ह्येषां खानिचावृत्य तिष्ठति।।
महच्चाग्नि बलं ह्येषां वसासात्म्याश्च ये नराः। तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते।।
(च. सू. 13/47 से 49)

(1) विद्ध होने पर, काण्डभग्न, संधिभग्न होने पर, चोट लगने पर यह लाभदायक होती है।
(2) कर्णशूल, शिरोवेदना में लाभदायक होती है।
(3) पुरुषार्थ वृद्धि हेतु, शरीर स्निग्धता हेतु उपयोगी है।
(4) जो लोग अधिक व्यायाम करते हैं अधिक धूप में घूमते है, अति रूक्ष, अधिक भार उठाने से क्षीण तथा अस्थि, संधि, मर्म कोष्ठ में तीव्र रूजा वाले। उनमें भी लाभदायक है।

मज्जा के गुण–

बलशुक्र रसश्लेष्म मेदो मज्जा विवर्धनः।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहन हित।। (च. सू. 13/17)
दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मरा स्नेह सेविनः।
वातार्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेहा मज्जानमाप्नुयुः।। (च. सू. 13/50)

(1) शरीर में बल, वीर्य, रस, कफ, मेद की वृद्धि करती है।
(2) मज्जा के प्रयोग से संधियों में बल आता है, शरीर का स्नेहन होता है।
(3) तीक्ष्ण अग्नि, अधिक श्रम, घस्मर (अधिक खाने वाले), वात एवं क्रूर कोष्ठ हेतु उत्तम है।

आधुनिक स्नेह द्रव्य

आधुनिक मतानुसार स्नेह द्रव्य 3 प्रकार के होते हैं-

1. स्थिर तैल (Fixed oil)-जो वायु के सम्पर्क में आने पर उडनशील (Non-Volatile) नहीं होते है तथा अपने गंध व गुण युक्त रहते हैं। अर्थात् अपनी स्थिति स्थिर बनाए रखते है, उदाहरण-मूंगफली, बादाम, जैतून, एरण्ड, तिल तैल आदि।

2. अस्थिर तैल (Volatile oil) - ये स्वभाव से उडनशील (Volatile) होते हैं तथा वायु के सम्पर्क में आते ही इनके गंध व गुण कम हो जाते हैं। जैसे- शतपुष्पा तैल, लवंग, दालचीनी, यूकेलिप्टस, पिपरमेंट आदि तैल।

3. मिश्रित तैल (Compound oil) - ये उपर्युक्त दोनों प्रकार के तैलों से मिलकर बने होते हैं।

स्नेह की प्रविचाराणाएँ (Other types of Snehan)

स्नेहद्विषः स्नेहनित्याः मृदुकोष्ठाश्च ये नराः।
क्लेशासहामद्य नित्यास्तेषामिष्टा विचारणाः।। (च. सू. 13/82)

जिन व्यक्तियों को स्नेह सेवन से कष्ट (स्नेह द्वेषी) अनुभव होता है कोष्ठ मृदु तथा क्लेश सहन नहीं कर सकते है। जो सदा स्नेह का सेवन करते हैं जो व्यक्ति प्रतिदिन मदिरापान करते है, उनके लिए प्रविचारणा का प्रयोग उत्तम है। स्नेह की प्रविचारणाएँ 24 प्रकार की होती हैं।

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयोदधि। यवागुः सूपशाकौ च यूषः कांबलिकः खडः।।
सक्तवस्तिल पिष्टंच मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिः तथा चोत्तरबस्तयः।।
गंडूषः कर्णतैलं च नस्त कर्माक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः।।
(च. सू. 13/23 से 25)

जो स्नेह ओदन आदि भोज्य पदार्थों या किसी प्रकार के शरीरोपयोगी अन्य द्रव्यों का योग कर उनके साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है उसे प्रविचारणा कहते हैं।

1. **ओदन**- पाँच (5) गुने पानी में पकाया हुआ चावल भात या ओदन है।
2. **विलेपी** - दले हुये चावल या मक्के की चौगुने जल में पकाने पर जिसमें अन्नकण का सम्पूर्ण रूप से पाक (गल गए) हो और द्रव स्वरूप हो वह विलेपी है। अर्थात् यह विरल द्रव स्वरूप होती है।
3. **मांसरस**- मांस को पकाकर उसके द्रव या रस को मांसरस कहते हैं।
4. **मांस** - ताजे मांस को पकाकर विधिवत् प्रयोग करना।
5. **दूध** - गरम दूध के साथ स्नेह प्रयोग।
6. **दही** - दूध को जमाकर दही तैयार करना।
7. **यवागु** - चावल को 6 गुने पानी में पकाना।
8. **सूप**- दाल को 18 गुने पानी में पकाकर चौथाई शेष रखना।
9. **शाक**- यह वनस्पतियों के पत्र, पुष्प तथा फल को पकाना।

10. **यूष**- मूंग की दाल आदि को 18 गुने जल में पकाकर आधा अर्थात् 9 गुना जल रह जाए।
11. **काम्बलिक**- तिल और उडद की पिट्ठी में दही, खटाई, नमक, तैल मिलाकर रायता जैसा बनाना।
12. **खण्ड**- मट्ठे के साथ कैथ, चांगेरी, मरिच, जीरा, चित्रक आदि डालकर पकाना।
13. **सक्तू**- जौ को भूनकर, पीसकर बनाया जाता है।
14. **तिलकल्क** - तिल को कूट-पीसकर बनाया जाता है।
15. **मद्य**- इसमें आसव, अरिष्ट, मदिरा का प्रयोग करते है।
16. **लेह**- आटे को घी, तैल में भूनकर चीनी डालकर हलवा बनाना।
17. **भक्ष्य**- घी की कचौडी, मालपुआ आदि भक्ष्य हैं।
18. **अभ्यञ्जन**- औषध सिद्ध स्नेह द्वारा अभ्यंग करना।
19. **बस्ति**- अनुवासन बस्ति (स्नेह) का प्रयोग।
20. **उत्तरबस्ति**- योनि व मूत्रमार्ग से स्निग्ध बस्ति का प्रयोग।
21. **गण्डूष**- मुख में किसी स्नेह को धारण करना।
22. **कर्णतैल**- औषध सिद्ध स्नेह को कान में डालना।
23. **नस्यकर्म**- नासिका द्वारा स्नेह का प्रयोग अर्थात् नस्य लेना।
24. **अक्षितर्पण** - अक्षि पर तर्पण हेतु घृत या घृत मण्ड का प्रयोग करना।

स्नेहन योग्य पुरुष (Indication of sneha)

स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रुक्षा वातविकारिणः।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्यास्युर्येच चिंतकाः।। (च. सू. 13/52)

स्वेद्यसंशोध्य मद्यस्त्री व्यायामाहव चिंतकाः। वृद्धा बालाबला रुक्षा कृशा क्षीणाऽरेतसः।
वातार्तस्यंद तिमिर दारुण प्रतिबोधिनः।। (अ. ह. सू. 16/51)

(कुछ परिवर्तन के साथ यही श्लोक शार्ङ्गधर में तथा भावप्रकाश में है।)

1. जिनका स्वेद करना हो
2. जिनका शोधन करना हो।
3. रूक्ष शरीर वाले।
4. वातरोग से पीडित।
5. जो नित्य स्त्री का सेवन करते हों।
6. नित्य चिन्तन करने वाले
7. युद्ध करने वाले
8. वृद्ध, बालक, स्त्रियाँ, कृश व्यक्ति
9. रूक्ष, क्षीणरक्त, क्षीणवीर्य व्यक्ति
10. तिमिर रोग से पीडित व्यक्ति
11. जिनकी निद्रा कठिनाई से खुलती है वे सभी स्नेह्य है।

स्नेहन के अयोग्य पुरुष (Contra indication of sneha)

संशोधनादृते येषां रुक्षणं संप्रवक्ष्यते। न तेषां स्नेहनं शस्तं उत्सन्नकफमेदसां।।
अभिष्यण्णानन गुदा नित्य मंदाग्नयश्च ये। तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालु शोषिणः।।
अन्नाद्विषश्चर्दयंतो जठरामगरार्दिताः दुर्बलाश्च प्रतांताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः।।
त स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तो बस्तिकर्मसु। स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः।।

(च. सू. 13/53 से 56)

1. कफमेद वृद्धि वाले, लालास्त्राव युक्त पुरुष
2. प्रवाहिका, मंदाग्नि रोगी
3. तृष्णा, मूर्च्छा, तालुशोष रोगी
4. अत्यंत दुर्बल, क्षीण रोगी
5. स्नेहपान से ग्लानियुक्त
6. मदरोगी, अजीर्ण व्यक्ति
7. तरूणज्वर, अकालप्रसुता, ऊरुस्तम्भग्रस्त रोगी
8. रुक्षणार्ह, अतितीक्ष्णाग्नि व्यक्ति

स्नेहपान का काल (Time of Snehapana)

सर्पिः शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे।
तैलं प्रावृषि नात्युष्ण शीते स्नेहं पिबेन्नरः।। (च. सू. 13/18)
वातपित्ताधिको रात्रौ उष्णे चापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिको दिवा शीते, पिबेच्चामल भास्करे।। (च. सू. 13/19)

ऋतु के अनुसार स्नेहपान (Snehapana according to season & anupana)–

अत्यंत शीत व अत्यंत उष्णकाल में स्नेह का सेवन नहीं करना चाहिए।

ऋतु	स्नेहपान	अनुपान
शरद वसंत (वैशाख) प्रावृट् (आषाढ़, सावन)	घृतपान वसा, मज्जा पान तैल पान	उष्ण जल मण्ड यूष या सर्वत्र उष्ण जल देना चाहिए।

दोषानुसार स्नेहपान (Snehapana according to Dosha)

वातापित्ताधिकौ रात्रौ उष्णे चापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिको दिवा शीते, पिबेच्चामलभास्करे।। (च. सू. 13/19)
अत्युष्णे वा दिवा पीते वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छा पिपासां उन्मादं कामलां वा समीरयेत्।।
शीते रात्रौ पीवेत् स्नेहं नर श्लेष्माधिकोऽपिवा आनाहमरुचिं शूलं पांडुतां वा समृच्छति।।

(च. सू. 13/20-21)

1. वातपित्तप्रधान दोषों में तथा ग्रीष्म में, रात्रि के समय स्नेहपान करायें।
2. वातकफप्रधान दोषों में तथा शीत ऋतु में दिन के समय स्नेहपान करायें जब आसमान साफ हो और सूर्य का प्रकाश निर्मल हो।

स्नेह मात्रा निर्णय (Assessment of the Dose)–

अमात्रयाहिते काले मिथ्याहार विहारतः। स्नेहः करोति शोफार्शोतंद्रा स्तंभ विसंज्ञताः।
कंडू कुष्ठ ज्वरोत्क्लेश शूलानाह भ्रमादिकान्।। (अ. ह. सू. 16/32)

मात्रा का निर्णय बडा महत्व रखता है। अमात्रा युक्त स्नेहपान कराने से शोथ, तंद्रा, स्तम्भ, संज्ञाहानि, कंडु, ज्वर, उत्क्लेश, शूल, आनाह, भ्रम आदि रोग उत्पन्न हैं। ह्रस्वमात्रा, मध्यमात्रा, उत्तम मात्रा ये मात्रा के प्रकार है।

ह्रसीयसी मात्रा को आचार्य वाग्भट्ट ने बताया है।

1. प्रभूतस्नेह नित्याश्च क्षुत्पिपासासहा नराः। पावकोश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले।।
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये। उन्मत्ताकृच्छ्रमूत्राश्मगाढवर्चस एव च।।
पिबेयुरूत्तमा मात्रा तस्याः पाने गुणान् शृणु। विकाराञ्छमयत्येषा शीघ्रं सम्यक् प्रयोजिताः।।
दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्व मार्गानुसारिणी। बल्या पुनर्नवकरी शरीरेंद्रिय चेतसां।।

(च. सू. 13/31 से 34)

2. या मात्रा परिजीर्येतु तथा परिणतेऽहनि। ग्लानि मूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्।
अहोरात्रादसन्दुष्टा या मात्रा परिजीर्यति। सा तु कुष्ठ विषोन्माद ग्रहापस्मार नाशिनी।।

(सु. चि. 31/28)

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते। स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता।। (सु. चि. 31/27)

	मात्रा नाम	पचन काल	प्रयोग
1.	ह्रसीयसी	अत्यल्प	यह परीक्षण मात्रा है (Test Dose)
2.	ह्रस्वमात्रा	यह 6 घण्टे (2 याम) में पचती है	इसका प्रयोग अल्प दोष हेतु, अग्नि प्रदिसी हेतु, वृद्ध, बाल, सुकुमार, मंदाग्नि, ज्वर, अतिसार है। कास, अवर बल (हीन बल) वालों के लिए करना चाहिए।
3.	मध्यम मात्रा	यह 12 घण्टे (4 याम) में पचती है।	अरूष्क, स्फोट, पिडका, पामा, खुजली, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त में मध्यम शरीर बल एवं मध्यम अग्नि बल वालों की देना चाहिए। (शोधन हेतु प्रयुक्त–चरकानुसार)
4.	उत्तम मात्रा	(क) यह एक अहोरात्र (24 घण्टे) में पचती है। (ख) आचार्य सुश्रुत ने स्नेह की 5 मात्राएँ बताई है जो स्नेह जीर्ण काल के आधार पर है।	बहुदोष लक्षण वाले, तीक्ष्णाग्नि एवं उत्तम शरीर वालों में, नित्य स्नेह का प्रयोग करने वाले तथा कुष्ठ, अपस्मार, सर्पदंश, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, विबंध, गुल्म में देय।

स्नेहपान विधि (Procedure of Snehapana)

यह तीन चरणों में पूर्ण होती है-

(A) पूर्वकर्म (Pre operative procedure)

(B) प्रधान कर्म (Main procedure)

(C) पश्चात कर्म (Post operative procedure)

(A) पूर्वकर्म (Pre operative procedure)- इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं-

1. सभांर संग्रहण (Collection of necessary facilities)

A उपकरण (Equipments), बर्तन (Utencil)

B परिचारक (Assisting Staff)

C आवश्यक औषधि (Necessary Medicine)

A उपकरण/बर्तन/आवश्यक सामग्री संग्रह

(i) मापन हेतु जार-1 (ii) ग्लास - 1

(iii) नींबू - 1 (iv) कपडा -1

(v) रुई, तौलिया, नेपकीन आदि (vi) गोस पीस

(vii) लोहे का बर्तन

(B) परिचारक - 1

(C) आवश्यक औषधि

स्नेहार्थ द्रव्य संग्रह- जिस स्नेह से स्नेहपान कराना हो उसका पर्याप्त प्रमाण में संग्रह करना चाहिए। जैसे-

जीर्ण ज्वर में - पिप्पल्यादि घृत **रक्तपित्त में** - वासा घृत

कुष्ठ में - महातिक्त घृत/पंच तिक्त घृत **उन्माद में** - कल्याण घृत

स्थौल्य- त्रिफला तैल **अपस्मार में** - पंचगव्य घृत

वात रोग - बला/क्षीर बला

आदि रोगानुसार स्नेह का संग्रह करना चाहिए।

स्नेहपान में व्यापद हेतु उचित प्रतिकारक औषध तैयार रखें।

अनुपान हेतु ऊष्ण जल, यूष, मंड, निंबूक रस प्रतिदिन तैयार रखें।

2. आतुर परीक्षा (Examination of patient) -

तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतिश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च, प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तिततश्च वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेष ग्रहणं हेतोः।।

(च. वि. 8/94)

आतुर स्नेह्य है या नहीं इसे विधिवत् परीक्षा कर लेनी चाहिए। आतुर प्रकृति की परीक्षा, विकृति की परीक्षा, सार, संहनन, प्रमाण, सत्त्व, सात्म्य, आहार शक्ति, व्यायाम शक्ति, वय इन भावों की भी परीक्षा करनी चाहिए।

आतुर की बलादि परीक्षा के बाद स्नेहन मात्रा, कालादि का निश्चय करते है। आतुर परीक्षा में घृत स्नेहनार्ह, तैल स्नेहनार्ह, वसा, मज्जा स्नेहनार्ह इत्यादि का भी निश्चय करते है।

3. आतुर सिद्धान्त (Prepration of the patient)

स्नेहन कालावधि तथा मात्रा का निर्णय-

त्र्यहावरं सप्तदिनं परन्तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।

नातः परं स्नेहनमादिशंति सात्म्यी भवेत् सप्तदिनात्परं तु।। (च. सि. 1/6)

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।

स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः।। (च. सू. 13/65)

पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पंचाहं षडहं तथा।

सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्म्यी भवति सेवितः।। (सु. चि. 31/36)

शोधनार्थ प्रयुक्त स्नेह अधिक मात्रा में और अधिक दिन तक देते हैं। लघुकोष्ठी में तीन दिन, मध्यकोष्ठी तीन से पाँच दिन और क्रूर कोष्ठी में सात दिन स्नेह स्नेहन हेतु देते हैं। कम से कम तीन दिन तथा सात दिन से अधिक दिन स्नेहन नहीं करते हैं क्योंकि 7 दिन बाद वह सात्म्य हो जाता है।

यदि सात दिन पश्चात् भी स्नेहन न तो पुनः कुछ दिनों का अंतराल देकर या रुक्षण कर अधिक मात्रा में स्नेह देना चाहिए अथवा स्निग्ध लक्षण मिलने तक स्नेहन करना चाहिये।

स्नेहपूर्व भोजनादि की व्यवस्था-

द्रवोष्णमनभिष्यंदी भोज्यमन्न प्रमाणतः।

नाति स्निग्धमसंकीर्णश्चः स्नेहं पातुमिच्छता।। (च. सू. 13/60)

द्रव, ऊष्ण, प्रमाणयुक्त, न अति स्निग्ध, असंकीर्ण, न अति देर से, चुपचाप, बिना हँसे, सात्म्य आहार स्नेहपान से पूर्व करना चाहिए।

स्नेहपान पूर्व निषिद्ध आहार- अभिष्यंदी, संकीर्ण, अतिस्निग्ध आहार का ग्रहण न करें।

स्नेहपान के समय रोगी को सुखासन या कुर्सी पर बैठाकर, सूती तथा अधिक तंग न हो ऐसे वस्त्र पहनाना चाहिये या एप्रिन पहनाकर स्नेहपान कराएँ जिससे कपडे खराब न हो।

तापक्रमादि अंकन (Vital recording) - रोगी का तापक्रम, वजन, नाडी गति, श्वसन गति, रक्तचाप को सूचीबद्ध करें। चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों की जानकारी रोगी को देवें तथा उसकी लिखित में सहमति (Consent form) लेकर सूचीबद्ध करें।

(B) प्रधान कर्म (Main procedure) -

स्नेह्य आतुर को पूर्वकर्म में कही हुई सभी बातों का ध्यान रखकर विशिष्ट दिन स्नेह पिलाने के लिए प्रारम्भ करना यह प्रधान कर्म है इसमें निम्न कर्म आते हैं-

(i) स्नेहप्राशन विधि–

स्नेहपान करते हुए

(1) चिकित्सक यह निश्चय करें कि रोगी द्वारा खाया गया सायंकाल का आहार अच्छी तरह पच गया है और उसका कोष्ठ लघु है।

(2) सर्वप्रथम रोगी को अपने इष्टदेव का स्मरण करवाना चाहिए।

(3) रोगी को आश्वासन देकर उसका धैर्य बढाए।

(4) रोगानुसार स्नेह स्नेहपान हेतु देवें।

(5) स्नेहपान सूर्योदय से 30 मिनट के अंदर ही करना चाहिए।

(6) यदि स्नेहद्रव्य तीक्ष्णगन्धी हो तो रोगी के नेत्र और नासिका पर पट्टी बांध देनी चाहिए।

स्नेह की पहली मात्रा 30 मिलीलीटर की देवें। तथा स्नेह अनुसार अनुपान देवें।

मृदु, मध्य और क्रूर कोष्ठ एवं अग्निबल का विचार कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। निम्न लिखित मात्रा साधारणतः प्रयोग में लाई जाती है। अल्पबल रोगी को उत्तम मात्रा की आधी मात्रा देनी चाहिए।

व्यवहारोपयोगी अच्छ स्नेह पान मात्रा सारणी– (मध्यम मात्रा – जो 12 घण्टे में पच जाए) = शोधन हेतु

दिवस	क्रूर कोष्ठ	मध्यम कोष्ठ	मृदु कोष्ठ
प्रथम दिन	60 ml. (2 Ounce)	60 ml	60 ml
द्वितीय दिन	90 ml. (3 Ounce)	90 ml	90 ml
तृतीय दिन	120 ml. (4 Ounce)	120 ml	120 ml
चतुर्थ दिन	180 ml. (6 Ounce)	180 ml	
पंचम दिन	240 ml. (8 Ounce)	240 ml	
षष्टम् दिन	300 ml. (10 Ounce)		
सप्तम् दिन	360 ml. (12 Ounce)		

वस्तुतः उपरोक्त स्नेहपान क्रम में स्नेह मात्रा का निर्धारण रोगी की जरण शक्ति के आधार पर किया जाता है दिया गया मात्र वृद्धिक्रम को दर्शाने हेतु व्यवहारोपयोगी मात्रा है।

क्रूर कोष्ठी 7 दिन में, मध्य कोष्ठी 4, 5, या 6 दिन (सामान्य 5 दिन) तथा मृदु कोष्ठी 3 दिन में स्निग्ध हो जाते है।

आचार्य चरक ने शोधन हेतु मध्यम मात्रा (12 घण्टे में पचित) तथा वाग्भट्ट ने उत्तम मात्रा (24 घण्टे में पचने वाली) बताई है।

उपरोक्त स्नेह मात्रा सारणी अच्छ स्नेह हेतु है विरापणा युक्त स्नेहपान का नहीं क्योंकि उसमें स्नेह की मात्रा अल्प होती है। विरापणायुक्त स्नेहपान तब तक जारी रखा जाए जब तक रोगी स्निग्ध न हो जाए तब तक दिया जा सकता है। अर्थात् कोई निश्चित दिवस नहीं होते है।

स्नेहपान के समय रोगी को अरुचि, छर्दि या उद्गार हो तो नींबू की शिंकजी के साथ स्नेहपान कराना चाहिए। तथा स्नेहपान पश्चात् उष्ण जल द्वारा कवल (कुल्ला) कराकर मुँह स्वच्छ करना चाहिए।

वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलम भिष्यते।
वैद्यो दद्यात् बहुकफे क्षारात्रिकटुकान्वितम्।। (अ. सं. सू. 25)

केवलं पैत्तिके सर्पिः वातके लवणान्वितं।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम्।। (सु. चि. 31/19)

वातप्रधान्य में	नमक मिला घृत पिलावें
पित्त प्रधान्य में	केवल घृत पान करायें।
कफ प्रधान्य में	क्षार और त्रिकटु के साथ घृत पिलावें।

अच्छ स्नेह पान (शुद्ध स्नेह) हेतु विभिन्न स्थितियाँ–

कर्म	मात्रा/रोग/अवस्था	देने का काल	कोष्ठानुसार दिवस
1. शोधन	मध्यम (च.) उत्तम (वा.)	प्रातः (रात्रि भोजन जीर्ण होने पर)	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम – 4/5/6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
2. शमन	(a) उत्तम मात्रा देंगें यदि स्नेह नित्या, गुल्म, सर्पदंश विसर्प, उन्माद, मूत्रकच्छ्र, मल सूखा हो	भूख लगने पर	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
	(b) मध्यम मात्रा देंगें यदि अरुष्क, स्फोट, पिडिका कण्डू, पामा, कुष्ठ, प्रमेह वात रक्त, अधिक न खाने वाले, मृदु कोष्ठी, बल मध्यम हो	भूख लगने पर	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
	(c) हीन मात्रा देंगें यदि वृद्ध, बालक, सुकुमार, रिक्त कोष्ठ, मंदाग्नि, जीर्ण ज्वर, जीर्ण कास, जीर्ण अतिसार तथा अल्प बल हो।	भूख लगने पर	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन
सामान्यतः आचार्य चरक ने शमन हेतु उत्तम मात्रा में तथा शोधन हेतु मध्यम मात्रा में कोष्ठानुसार (मृदु–3 दिन तक, मध्यम 4–5 या 6 दिन, क्रूर में 7 दिन तक स्नेहपान का विधान बताया हैं।)			
3. बृंहण	हीन मात्रा में देंगे	चरक ने कोई निश्चित काल नहीं बताया।	(a) मृदु – 3 दिन (b) मध्यम–4,5 या 6 दिन (c) क्रूर – 7 दिन

आचार्य वाग्भट्ट ने बृंहण हेतु स्नेहपान भोजन, मांसरस या अन्य भोज्य के साथ अल्प मात्रा (हसीयसी मात्रा) (10-20 ग्राम) में देना निर्देशित है परन्तु भोजन के साथ, कोष्ठानुसार न देकर प्रतिदिन भोजन में मिश्रित कर कहा है जैसे रोटी पर, खिचड़ी के साथ।

आचार्य चरक ने केवल शोधन, शमन हेतु काल बताया है, परन्तु बृंहण हेतु नहीं बताया है। (च. सू. 13/61)

अनुपान–

वायुष्णमच्छेनुर्पिबेत् स्नेहे तत्सुख पक्तये।
आस्योपलेप शुद्धयै च, तौवरारुष्करे न तु।। (अ. ह. सू. 16/23)
जलमुष्णं घृतपेयं युषः तैलेऽनुशस्यते।
वसा मज्ज्ञोस्तु मंडः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा।। (च. सू. 13/22)

1. **ऊष्णोदक**– सभी स्नेहों में, विशेषकर घृतपान में देना चाहिए। तुवरक तैल व भल्लातक तैल में नहीं देना चाहिए।

2. **यूष** – यह तैलपान का अनुपान है।

3. **मंड** – यह वसा व मज्जा का अनुपान है।

सम्पूर्ण स्नेहपान काल (3 से 7 दिन) में उष्ण जल या नागर-धान्यांबु पीने के लिए देना चाहिए। तथा भोजन में लघु उष्ण आहार देना चाहिए।

(C) पश्चात् कर्म (Post operative procedure)

सेवनीय व वर्जनीय (Dos and Don't)- स्नेहोत्तर काल में जो पथ्यापथ्य उनका पालन करना यह स्नेह का पश्चात् कर्म है। स्निग्ध आतुर जितने दिन स्नेहन करें उससे दुगने दिन में आचार का पालन करना चाहिए।

ऊष्णोदकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारी क्षपाशयः। शकृन्मूत्रानिलोद्गारान् उदीर्णांश्च न
धारयेत् व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोध शोको हिमा तपौ।
वर्जयेत् प्रवातं च सेवेत् शयनासनम्।। (च. सू. 13/62-63)

(1) समस्त खान-पान में ऊष्णोदकोपचार।
(2) स्नान में ऊष्ण जल का प्रयोग करें।
(3) ब्रह्मचर्य का पालन करें।
(4) दिवाशयन, रात्रि जागरण, वेगावरोध, उच्च स्वर में नहीं बोलना चाहिए।
(5) क्रोध, शोक का त्याग करें।
(6) अतिशीत, अति ऊष्ण का सेवन नहीं करें, समशीतोष्ण एवं वात रहित वातावरण में रहना चाहिये।
(7) धूम्रपान न करें।
(8) अभिष्यंदी, रुक्षान्न का सेवन नहीं करें।
(9) धूल व धूएँ से बचाव रखें।

आहार (Diet) – स्नेहपान पश्चात् लघु आहार, पेया या यवागु का सेवन कराएँ।

तापक्रमादि सूचीबद्ध करना (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, वजन, नाड़ी गति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध कर पूर्व में लिए गए विवरण से अंतर ज्ञात कर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

(ii) स्नेहपान के जीर्यमान और जीर्ण लक्षण (Symptoms of Shehapena during digestion/after digestion) –

प्रथम दिन के स्नेहपान के निर्विघ्न पचन के आधार पर ही अगले दिन स्नेहपान की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। अर्थात् पूर्व दिन से आगामी दिन को कितने अधिक मात्रा बढ़ा कर स्नेह देना है। स्नेह के पच्यमान काल में होने वाले लक्षण, स्नेह जीर्ण लक्षणों पर स्नेह की मात्रा निर्भर करती है।

स्नेहपान के पच्यमान लक्षण (Symptoms of Snehapana during digestion)–

शिरोरुक भ्रम निष्ठीव मुच्छां सदारति क्लमैः।
जानीयात् भेषजं जीयेत्.....।। (अ. सं. सू. 25)
स्युः पच्यमाने तृड्दाह भ्रम सादारति क्लमाः।। (सु. चि. 31/33)

(1) शिरःशूल	(2) भ्रम	(3) लालास्त्राव
(4) मूर्च्छा	(5) थकावट (साद)	(6) क्लम
(7) तृष्णा	(8) दाह	(9) अरति।

स्नेह के जीर्ण लक्षण (Symptoms of snehapana after digestion) –

..... जीर्णे तद् शांति लघवात्।
अनुलोमोनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोद्गार शुद्धिभिः।। (अ. सं. सू. 25)

(1) शिरोरुजा का शमन	(2) शरीर में लघुता	(3) वातानुलोमन
(4) क्षुधा होना	(5) पिपासा	(6) उद्गार शुद्धि।

स्नेह जीर्ण लक्षणों में, अजीर्ण लक्षणों की शांति और भूख प्यास की प्रकृत प्रवृत्ति ये लक्षण मुख्य हैं। स्नेहपान पश्चात प्रतिदिन भूख कितने समय पर लगती है इसकी जानकारी आवश्यक है।

जीर्णाजीर्ण विशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्।
तेनोद्गार विशुद्धः स्यात् ततश्च लघुता रुचिः।। (अ. ह. सू. 16/24)

स्नेह जीर्ण हुआ है या नहीं इसका संदेह होने पर गरम पानी पिलाना चाहिये।

(iii) स्निग्धास्निग्ध लक्षणों का विश्लेषण (Analysis of Snehana)– जिस प्रयोजन हेतु स्नेहपान किया है उसकी सिद्धि के लिए आवश्यक है कि स्निग्ध, अस्निग्ध, अतिस्निग्ध लक्षणों का अच्छी तरह से निरीक्षण करें अन्यथा अस्निग्ध व अतिस्निग्ध पुरुष या आगे शोधन होने पर उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण (Symptoms of proper oleation)–

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निवर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते।। (च. सू. 13/58)

वायु का अनुलोमन, अग्नि दीप्त, मल की स्निग्धता, अर्थात् मल गाढा व कठिन नहीं आता, शरीर में लघुता होती है, शरीर मृदु होता है, त्वचा स्निग्ध होती है। स्नेह से द्वेष होता है।

असम्यक् स्निग्ध लक्षण (Symptoms of improper oleation)–

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्का खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम्।। (च. सू. 13/57)

मल का गांठदार व रुक्ष होना, वात का अनुलोमन न होना, अग्नि की मंदता, अंगों में खरता व रूक्षता।

अतिस्निग्ध के लक्षण (Symptoms of Excessive Oleation)–

पाण्डुता गौरवं जाडयं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रीरुचित्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्।। (च. सू. 13/59)

पाण्डुता, अंगगौरव, जडता, अपक्वपुरीषता, तन्द्रा, अरुचि, उत्क्लेश, मुखस्त्राव।

(H) स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार (Complications & its treatment of snehapana)

स्नेहपान में प्रमादवश उपद्रव उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यापद कहते हैं। वैद्य तथा आतुर दोनों के प्रमाद से व्यापद होते हैं। स्नेह का उचित निर्णय न करना, मात्रा काल का निर्णय न करना, स्नेह योग्य अयोग्य का निर्णय न करना इन सभी से व्यापद उत्पन्न होते हैं।

स्नेहपान सेवन काल में सावधानियाँ/स्नेहन पान के उपद्रव होने में हेतु (Precaution/Causes of complications during oleation)

.....तंद्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तंभो विसंज्ञता। कुष्ठानि कंडूः
पांडुत्वं शोफार्शास्यारुचितृषा। जठरं ग्रहणी दोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः।
शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्।। (च. सू. 13/75-76)

(1) अकाल में स्नेहपान (अयोग्य रोग व रोगी में स्नेहपान करना)।
(2) अहितकर स्नेहपान प्रयोग।
(3) अमात्रा पूर्वक स्नेहपान।
(4) स्नेह सेवन के नियमों का पालन न करने से।
(5) निर्धारित (बताएँ हुए) समय से अधिक समय तक स्नेह सेवन से।

1. तन्द्रा	2. उत्क्लेश	3. आनाह	4. ज्वर	5. अंगों में जकडन
6. बेहोशी	7. कुष्ठ	8. कंडु	9. पाण्डुता	10. शोथ
11. अर्श	12. अरुचि	13. तृष्णा	14. उदररोग	15. ग्रहणी विकार
16. स्तैमित्य	17. वाक्ग्रह	18. उदरशूल	19. आमदोष	

ये स्नेह व्यापद उत्पन्न होते हैं।

स्नेह व्यापद चिकित्सा–

मिथ्याचारात् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यन्ति।
विष्टंभ्य चापि जीर्यन्ति वारिणोष्णेन वामयेत्।। (सु. चि. 31/31)

वमन करना, स्वेदन, समय की प्रतीक्षा, रोगी व रोग के व्याधि व बल को देखकर विरेचन कराना चाहिए।

शीघ्र चिकित्स्य उपद्रवों के प्रतिकारक चिकित्सा–

तक्रारिष्ट प्रयोगाश्च रुक्ष पानान्न सेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलयाश्च स्नेह व्यापत्तिभेषजम्।। (च. सू. 13/78)

इसमें उष्णोदक मुख्य औषधि है ऊष्णोदक स्नेह को पचाता है- आम पाचन तथा वातानुलोमक है। तृष्णा अधिक होने पर वमन करायें। तक्र, अरिष्ट प्रयोग, रुक्ष अन्नपान, गोमूत्र, त्रिफला ये सभी स्नेह व्यापद् में औषधियाँ कहीं गयी हैं।

चिर चिकित्स्य व्यापद जैसे– कुष्ठ, कण्डु, पाण्डु, शोथ, उदर रोग, ग्रहणी, अर्श, स्तैमित्य (जडता) वाक्ग्रह इनकी चिकित्सा उन-उन रोगों की कथित चिकित्सा अनुसार करें जो स्नेहन रहित हों। सामान्यतः लघंन, रुक्षण, वमन और पाचन औषध का प्रयोग करना चाहिये।

स्नेह द्रव्यों के गुण (Properties of Sneha Dravya) -

पृथ्व्यिम्बु गुण भूयिष्ठः स्नेहः (सु. सू. 41/11)

स्नेहन द्रव्यों में जलीय और पार्थिव गुणों की अधिकता होती है।
उनमें निम्न गुण होते हैं जो शोधनकर्म में उपयोगी हैं–

द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलं।
प्रायो मदं मृदु च यत् द्रव्यं स्नेहनमतम्।। (च. सू. 22/15)

1. द्रव– द्रवः प्रक्लेदनः प्रोक्तः। (सु. सू. 46/527)
यस्य विलोडने शक्तिः स द्रवः।। हे.।।

जो गुण क्लेदन का कार्य करता है उसे द्रव कहते है। इस गुण से शरीर में तरलता आती है जिससे दोषों का विलयन, स्थानच्युति, स्त्रावण एवं प्लावन होता है।

2. सूक्ष्म– सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः।। (सु. सू. 46/531)
यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः। हे.।।

हेमाद्रि ने सूक्ष्म को विवरणशील कहा है अर्थात् घटकों को अलग-अलग करना। इस गुण के कारण यह सूक्ष्म छिद्रों में प्रवेश कर जाता है और अपना कार्य करता है।

3. सर – सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः।। (सु. सू. 46/529)
यस्य प्रेरणे शक्तिः स सरः,।। हे. ।।

जिससे अनुलोमन होता है वह सर है। इस गुण के कारण सरकने वाला तथा प्रेरणशील होता है।

4. स्निग्ध– स्नेहमार्दवकृत स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।। (सु. सू. 46/523)

इसका सामान्य अर्थ चिकनाहट होता है हेमाद्रि के अनुसार वह क्लेदन कारक हैं इसके कारण स्नेहद्रव्य शरीर में बल, वर्ण, स्नेह और मार्दव कारक होता है।

5. पिच्छिल– **पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलोगुरुः।।** (सु. सू. 46/524)

यस्य लेपने शक्तिः स पिच्छिलः। हे.

इसका सामान्य अर्थ चिपचिपापन है। बल्य, गुरु आयुष्य, कफवर्धक एवं लेपन कारक होता है।

6. गुरू– **साटोपलेप बलकृत् गुरुस्तर्पण बृंहणः।** (सु. सू. 46/525)

यस्य द्रव्यस्य बृंहणे शक्तिः स गुरु। हे.।।

सामान्य अर्थ भारीपन है। वातनाशक, कफकर, देहवृद्धिकर होता है। इसका कर्म साद, उपलेप, बल, तर्पण एवं बृंहणकृत है।

7. शीत – **ह्लादनः स्तंभनः शीतः मूर्च्छा तृट् स्वैददाहजित।** (सु. सू. 46/522)

स्तंभने हिमः।। हे.।।

आनंदकर, उत्साहवर्धक, मूर्च्छाहरण एवं दाह शामक होता है।

8. मंद गुण – **मंदो यात्राकरः स्मृतः।।** (सु. सू. 46/529)

यस्य शमने शक्तिः स मंदः।। हे.।।

इस गुण के कारण स्नेह द्रव्य शरीर में धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं और शमन कार्य करते हैं। अरुण दत्त ने इसे चिरकारित्व कहा है।

9. मृदु गुण – **शिथिलावयत्वं मृदुत्वं।। अ. द.।।**

यस्य द्रवस्य श्लथने शक्तिः स मृदुः।।हे.।।

इस गुण कारण स्नेहद्रव्य शरीर के अवयवों को कोमल बनाते हैं। इसका कार्य शिथिलीकरण है।

स्नेह द्रव्यों के गुणों का भौतिक संगठन तथा कार्य

क्र.	गुण	भौतिक संगठन	शारीर कार्य
1.	स्निग्ध	आप्य	स्नेहन, आह्लादन, क्लेदन, विष्यंदन
2.	गुरु	पार्थिव	स्थैर्य, संघात, बल, उपचयादि।
3.	शीत	आप्य वायव्य	ह्लादनादि, वैशद्य, लाघव,
4.	मृदु	नाभस	मार्दवता, शैथिल्यकर, लाघवकर।
5.	द्रव	आप्य	प्रक्लेदन, आलोडन।
6.	पिच्छिल	आप्य	बल, संघात, जीवन, गौरवकर।
7.	सर	आप्य आग्नेय	स्नेहनादि, पचन, अनुलोमन
8.	मंद	आप्य	शमन आदि
9.	सूक्ष्म	नाभस	अति सूक्ष्म अवयवों में प्रवेश

अभ्यंग (Abhyanga)–

अभ्यंग का अर्थ है- शरीर पर तैलादि लगाना।

अभ्यंग शब्द निष्पत्ति 'अंग्' धातु गति के अर्थ में प्रस्तुत है इसमें "अभि" उपसर्ग से अभ्यंग शब्द बनता है इसका शब्दतः अर्थ होता है कुछ गतियाँ कराना।

तैल, वसा, मज्जादि स्नेहों को शरीर पर रगडकर हाथ से उन स्नेहों को अच्छी तरह शोषणार्थ गतियाँ कराई जाती हैं।

अभ्यंग स्वस्थों में स्वास्थ्य रक्षणार्थ प्रति दिन प्रशस्त है। वृद्ध वाग्भट्ट ने ऋतु के अनुकूल वातघ्न और सुगंधित तैलों से नित्य अभ्यंग करने को कहा है।

अभ्यंग का अर्थ मालिश से है। शरीर पर स्नेह का लगाना या अन्य किसी स्नेह द्रव्य द्वारा शरीर पर अनुलोम गति से मालिश करना अभ्यंग कहलाता है।

संधि स्थानों पर वर्तुलाकार (गोल-गोल) अभ्यंग करनी चाहिये। शिर पर सामान्य या ठण्डा तैल तथा अन्य शरीर पर अभ्यंग हेतु सुखोष्ण (हल्का गरम) तैल प्रयोग करना चाहिये।

अभ्यंग काल– सामान्यतः 15 मिनट से लेकर 45 मिनट तक रोग व रोगी की अवस्थानुसार चिकित्सक द्वारा निश्चित किया जाता है।

अभ्यंग पश्चात् विश्राम करके ऊष्णोदक (गरम जल) से स्नान करना चाहिये।

अभ्यंग रोगानुसार लगातार 7 दिन, 14 दिन, 21 दिन, 28 दिन या रोगानुसार किया जाता है।

आचार्य डल्हण ने अभ्यंग काल उसके प्रभावानुसार बताया है।

1. तीन सौ मात्रा	(लगभग 95 सैकण्ड)	इतने समय में स्नेह त्वचा के रोमांत पहुँचाता है।
2. चार सौ मात्रा	(लगभग 136 सैकण्ड)	त्वचा में पहुँचने तक का काल।
3. पाँच सौ मात्रा	(लगभग 158 सैकण्ड)	रक्त में पहुँचने तक का काल।
4. छः सौ मात्रा	(190 सैकण्ड)	मास में पहुँचने तक का काल।
5. सात सौ मात्रा	(222 सैकण्ड)	मेद में पहुँचने तक काल।
6. आठ सौ मात्रा	(253 सैकण्ड)	अस्थि तक का।
7. नौ सौ मात्रा	(285 सैकण्ड)	मज्जा तक का काल।

अतः रोमान्त से मज्जा तक के क्रम से अभ्यंग में लगभग 5 मिनट लगते है। अतः प्रत्येक अंग पर अभ्यंग हेतु 2 से 5 मिनट लगते है इस तरह कुल 15 मिनट से 45 मिनट तक अभ्यंग हितकर है।

(1 मात्रा = 19/60 सैकण्ड = .3166 Second)

अभ्यंग में प्रयुक्त स्नेह द्रव (Oil/Medicated Sneha used for Abhyanga) – अभ्यंग हेतु स्नेह का चयन दोषानुसार किया जाता है। जैसे-

वातज दोष में– नारायण तैल, महानारायण तैल, कार्पासस्थ्यादि तैल, कौटुचुक्कादि तैल, माष तैल, महामाष तैल (समिष, निरामिष), धन्वन्तरं तैल, बला तैल, अश्वगंधा तैल आदि।

पित्तज दोष में– चंदनादि तैल, मंजिष्ठादि तैल, क्षीर बला तैल, कर्पुरादि तैल, पंचतिक्त घृत, शतावरी घृत, पिण्ड तैल आदि।

कफज दोष में–सहचरादि तैल, विषगर्भ तैल, धतूरपत्रादि तैल, सैंधवादि तैल।

अभ्यंग के गुण (Merits of Abhyanga)–अभ्यंग स्वस्थ व्यक्तियों में तथा रोगानुसार भी लाभकारी होता है। इसके निम्न गुण हैं-

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जरा-श्रम-वातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्न सुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्।। (अ. ह. सू. 2/8)

1. **जराहर** – वृद्धावस्था देर से आती है।
2. **श्रमहर** – थकान को दूर करता है तथा अच्छी निद्रा लाने वाला होता है।
3. **वातहर** – वात शामक है।
4. **दृष्टिप्रसादकर** – नेत्रज्योति बढती है।
5. **पुष्टिकर** – शरीर को पुष्ट बनाता है।
6. **आयुष्यकर** – धातुओं को पोषित कर आयु बढाता है।
7. **स्वप्नकर** – निद्रा अच्छी आती है।
8. **क्लेशसहत्व**– शरीर में दृढता आती है जिससे अनेक कष्टों को सहन करने की शक्ति आती है।
9. **अभिघात सहत्व** – चोट लगने पर भी विशेष तकलीफ नहीं होती है।
10. **कफवातशामक**– कफ वात शामक होता है।
11. **मृजावर्ण बलप्रद** – अभ्यंग से बल बढता है त्वचा में निखार आता है।

अभ्यंग अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Abhyanga)–

(1) कफप्रधान रोग (2) आमज व्याधि
(3) अजीर्ण (4) दोष की सामावस्था में या जो आम दोष से पीडित हो
(5) वमित पुरुष (6) विरेचित पुरुष
(7) निरूढ (8) तरुण ज्वरी
(9) सतर्पण से उत्पन्न रोग

अभ्यंग विधि (Mode of Massage)–यह तीन चरणों में पूर्ण होती है-

(1) पूर्व कर्म (2) प्रधान कर्म (3) पश्चात् कर्म

पूर्वकर्म (Poorva Karma) – इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं-

(1) संभार संग्रहण (Collection of necessary facilities)
(2) आतुर परीक्षा (Examination of the patient)
(3) आतुर सिद्धान्त (Preparation of patient)

(1) संभार संग्रहण (Collection of necessory facilites) –

(a) उपकरण (Equipments) (b) बर्तन (Utensil)
(c) परिचारक (Assisting staff) (d) आवश्यक औषधि- व्यापद हेतु भी

आवश्यक उपकरण व परिचारक– अभ्यंग टेबल या ट्रोली, स्टूल, छोटी बाल्टी, कटोरी, तौलिया, अभ्यंग हेतु तैल, ऊष्ण जल पात्र आदि होना चाहिए।

अभ्यंग हेतु दो परिचारकों की आवश्यकता होती है।

2. आतुर परीक्षण (Examination of the patient) – इसमें यह देखा जाता है कि रोगी अभ्यंग हेतु योग्य है या नहीं। फिर रोगी के दोष, देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, आहार, सत्व प्रकृति इन अवस्थाओं का ज्ञान किया जाता है।

(a) तापक्रमादि सारणी (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाड़ीगति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध किया जाता है।

(b) चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – अभ्यंग से पूर्व रोगी को चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों की जानकारी देकर उसकी लिखित में सहमति ले लेते हैं।

3. आतुर सिद्धान्त (Preparation of Patient) –

औषध योग निर्धारण– रोग व रोगी की प्रकृति अनुसार औषध योग का निर्धारण किया जाता है। तथा प्रधान कर्म से पूर्व सभी आवश्यक व्यवस्था एवं कर्म करते है। जैसे दोषानुसार औषध तैलों का चयन। जैसे-

वात हेतु - बला/नारायण तैल
पित्तज हेतु - चन्दनादि तैल
कफज हेतु - विषगर्भ तैल/सहचरादि तैल

आहार एवं वेशभूषा (Diet & uniform)- अभ्यंग से दो-तीन घण्टे पूर्व रोगी को लघु आहार जैसे- पेया यवागु का सेवन कराया जाता है। रोगी को अभ्यंग हेतु कोपीन (लंगोट) वस्त्र पहनाया जाता है।

प्रधान कर्म (Pradhan Karma)

अभ्यंग हेतु आसन– प्रत्येक अंग/अवयव पर अभ्यंग अच्छी प्रकार से हो इसलिए अभ्यंग तथा अभ्यंग जैसी अन्य क्रिया विधियों को निम्नोक्त सात अवस्थाओं में या आसन में आतुर को रखकर अभ्यंग करना चाहिये।

1. पाँव सीधा रखकर बैठाकर (Sitting with legs Extended)
2. पीठ के बल लिटाकर (Supine Postion or Lying)
3. वामपार्श्व पर लिटाकर (Left lateral)
4. वक्ष उदर के बल लिटाकर (Prone)
5. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर (Right lateral)
6. पुनः पीठ के बल लिटाकर (Again Supine)
7. पुनः बैठाकर (Again Sitting with leg extened)

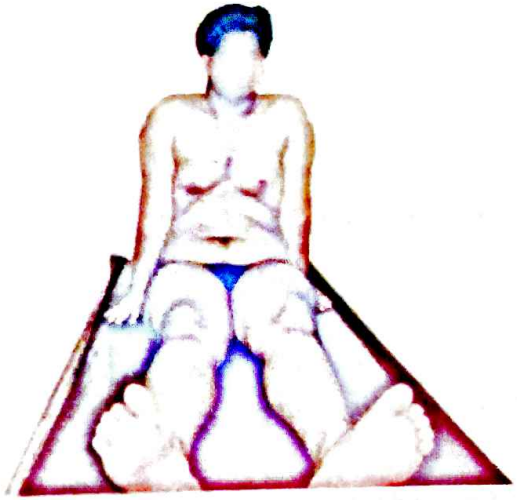

1. पाँव सीधा रखकर बैठाकर (Sitting with legs Extended)

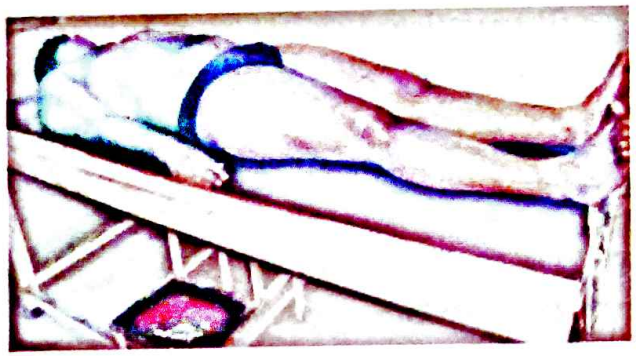

2. पीठ के बल लिटाकर (Supine Postion or Lying)

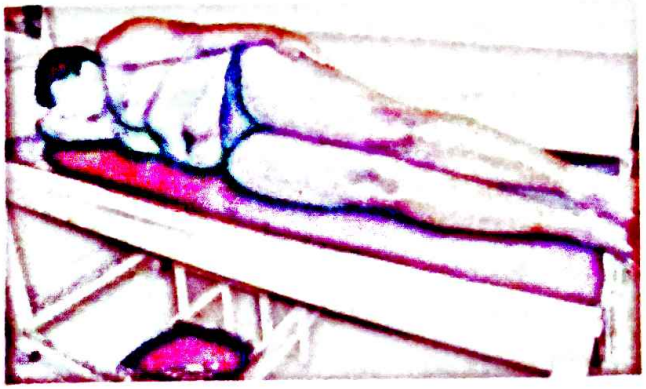

3. वामपार्श्व पर लिटाकर (Left lateral)

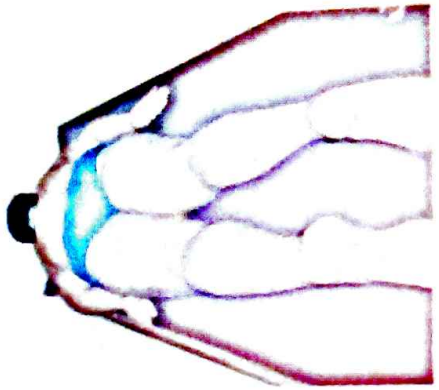

4. वक्ष उदर के बल लिटाकर (Prone)

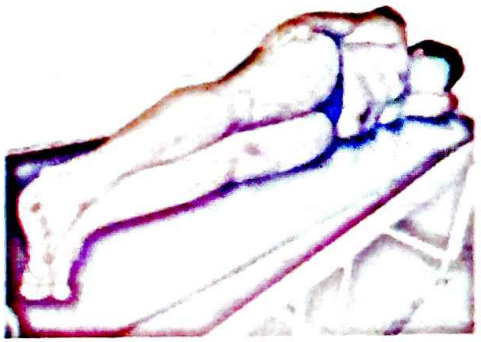

5. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर (Right lateral)

6. पुनः पीठ के बल लिटाकर (Again Supine)

7. पुनः बैठाकर (Again Sitting with leg extened)

अभ्यंग विधि (Method of massage)– रोगी को कोपीन पहनाकर अभ्यंग टेबल पर लिटाया जाता है। सुखोष्ण सुगंधी, वातघ्न, ऋतु, दोषादि के अनुकूल तैल लेकर धीरे-धीरे अनुलोम गति (अनुलोम=जिधर शरीर के लोम/बाल झुके हुए हो, उसी दिशा में अभ्यंग करना) से अभ्यंग करना चाहिए। सिर पर अभ्यंग हेतु शीत स्नेह या सुखोष्ण स्नेह से तथा हाथ पांव इत्यादि भागों पर ऊष्ण स्नेहों से अभ्यंग करें।

शीत ऋतु में ऊष्ण तैलों से तथा ऊष्ण ऋतु में शीत तैलों से अभ्यंग करना चाहिए।

सर्वप्रथम ब्रह्मरंध्र- सम्पूर्ण सिर- कर्ण-हस्त-पाद अभ्यंग करके अन्य शरीर के भागों का अभ्यंग प्रारम्भ करना चाहिये।

दीर्घाकार वाले अवयवों (हाथ, पांव) पर अनुलोमतः अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर, संधिस्थान (कर्पूर, अंस, जानु, गुल्फ, कटि) में वर्तुलाकार अभ्यंग करें। अभ्यंग का मुख्य उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है। अभ्यंग विशेषतः सिर, पांव व कान पर करना चाहिये।

अभ्यंग की जो सात अवस्थाएँ हैं उन सभी अवस्थाओं में शरीर की 5-10 मिनट तक अभ्यंग करना चाहिये इस प्रकार 45 मिनट से 1 घण्टे तक अभ्यंग करना चाहिये।

कर्ण अभ्यंग

कर्ण अभ्यंग

शिरो अभ्यंग

शिरो अभ्यंग

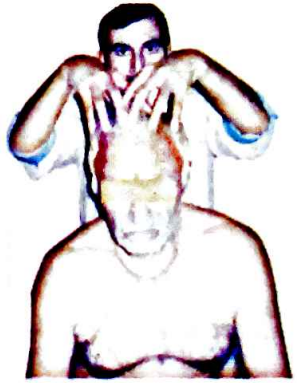

शिरो अभ्यंग

हस्त अभ्यंग

हस्त अभ्यंग

हस्त अभ्यंग

पाद अभ्यंग

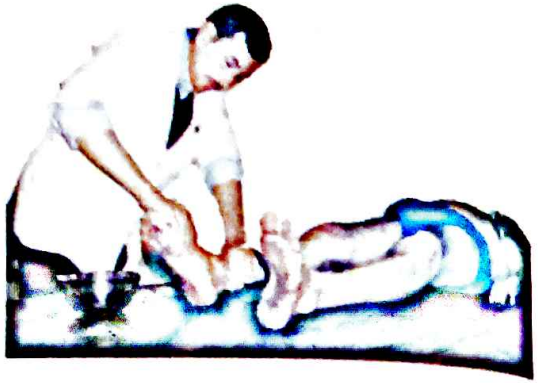

पाद अभ्यंग

पाद अभ्यंग

नाभि अभ्यंग

सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण– अभ्यंग पश्चात् रोगी के लक्षणों का निरीक्षण किया जाता है। हीन योग के लक्षण उत्पन्न होने पर पुनः अभ्यंग करना चाहिए हैं। अतियोग के लक्षणों पर होने क्रिया की रोक कर रोगी को विश्राम कराते हैं तथा सम्यक् लक्षण होने पर आगे की प्रक्रिया करते हैं।

पश्चात् कर्म (Post operative procedure)

इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं–

1. शरीर स्वच्छता (Clean/Sponge) – अभ्यंग पश्चात् टॉवल को गर्म पानी से निचोडकर पूरे शरीर पर स्पंज करते हैं जिससे शरीर पर लगा हुआ तैल पोछकर शरीर को स्वच्छ किया जाता है।

2. विश्राम (Rest) – अभ्यंग पश्चात् 15 मिनट से 30 मिनट तक विश्राम करना चाहिये।

एक से ढेड घण्टे बाद रोगी को उष्णोदक से स्नान करवाया जाता है। या रोगानुसार औषध क्वाथ स्नान भी करा सकते हैं।

3. तापक्रमादि सूचीबद्ध (Vital recording) – रोगी का पुनः तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाडी गति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध करके पूर्व तथा वर्तमान के विवरण के आधार पर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

4. आहार विहार सम्बन्धी निर्देश (Deit & other regimen)– अभ्यंग पश्चात् रोग को लघु आहार, पेया, यवागू का सेवन करवाया जाता है। उसे समशीतोष्ण वातावरण में रखा जाता है।

5. यदि अभ्यंग पश्चात् स्वेदन करना हो तो अल्प विश्राम कराकर स्वेदन करना चाहिये।

अभ्यंग की विभिन्न विधियाँ (Various methods of massage)–

(1) दलन/पीडन (Kneading)- पीठ, कमर और नितम्बों पर दोनों हाथ रखकर शरीर का दबाव हथेलियों पर डालते हुए घुमायें और ऊपर की ओर ले जायें। इसी को दलन अथवा पीड़न कहते हैं। यह क्रिया आठ-दस बार करनी चाहिए। इससे शिराएँ (Veins) में रक्त संचार बढ जाता है। तनी पेशियाँ नरम पड़ जाती हैं।

लाभ–सुस्ती दूर करने हेतु, मोटापा, अर्धांग वात (Paralysis) इत्यादि में लेकिन यह क्रिया वहाँ कभी न करें, जहाँ शोथ (सूजन) हो।

दलन/पीडन

(2) घर्षण (Friction)- अभ्यंग करने वाला (Massager) रोगी के शरीर पर अपनी ऊँगलियों को खुला रखकर दोनों हाथों से जल्दी-जल्दी रगड़ते हुए अभ्यंग करते है। इस क्रिया को घर्षण कहते हैं। यह क्रिया एक सन्धि से दूसरी सन्धि तक करनी चाहिए, जैसे पहले टखनों से घुटनों तक, फिर घुटने से जाँघ तक। घर्षण सम्पूर्ण शरीर पर कर सकते हैं।

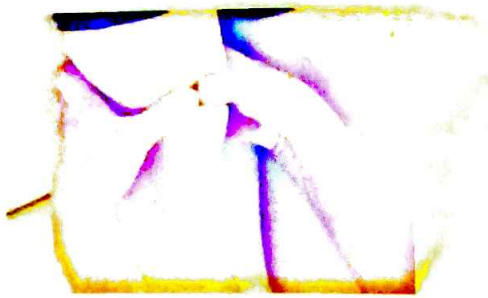

घर्षण

लाभ– इससे त्वचा पुष्ट होता है, सन्धियों पर की शोथ (सूजन) कम हो जाती है और पेशियों का तनाव कम हो जाता है। ग्रन्थि धीरे-धीरे ठीक हो जाती हैं। कमर और सन्धियों के दर्द दूर हो जाते हैं।

(3) थपथपाना (Stroking)- हाथों को ढीला कर रोगी के शरीर पर थपथपाते है। इसका असर नाड़ियों पर ज्यादा पडता है। इसलिए पीठ पर ऊपर से नीचे की ओर थपथपाइये। लेकिन पेट पर नाभि के चारों तरफ दाहिनी ओर से बांयीं ओर थपथपाना चाहिए।

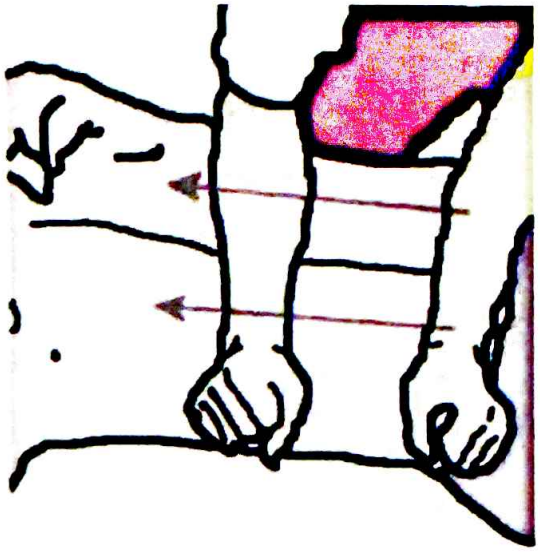

थपथपाना

लाभ–इससे स्नायु मजबूत बनते हैं। अनिद्रा, उद्विग्नता, कास, श्वास हिस्टीरिया आदि को रोकने में सहायक है।

(4) ताल के साथ हाथ चलाना (Effluarage)- अंगों की बनावट के अनुसार तेल रगड़ने के बाद हल्के हाथ से हल्के दबाव की ठोकों के साथ अभ्यंग हर एक अंग के शुरू से अन्त तक एक-सा ताल होना आवश्यक है। टूटी हड्डी या अन्य चोटवाले भाग को अभ्यंग करते समय केवल उतने ही भाग की अभ्यंग न करें, अभ्यंग शिराओं (Veins) को उत्तेजित कर हृदय की ओर रक्त-संचार तेज करता है।

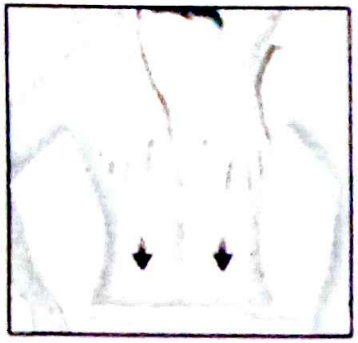

ताल के साथ हाथ चलाना

लाभ–इससे मांसपेशियों का खिंचाव कम हो जाता है, अनिद्रा दूर होती है और शोथ (सूजन) में कमी आती है।

(5) मसलना (Petrissage)- रोगी की मांसपेशियों को उँगलियों और अँगूठों के बीच पकड़कर धीरे-धीरे मसलते हैं और हृदय की ओर हाथों को बढ़ाते हैं। यह क्रिया मांसपेशियों के समानान्तर होनी चाहिए।

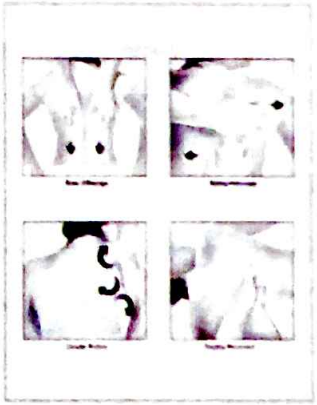

मसलना

लाभ–इससे नस, नाड़ियाँ और मांसपेशियाँ सबल बनती हैं।

(6) मरोड़ना (Wringing)- दोनों हाथों की उँगलियों को मिलाकर चूड़ी की तरह रगड़ने को मरोड़ना अथवा मोड़ना कहते हैं। यह क्रिया अक्सर टाँगों, हाथों और गर्दन पर की जाती है। हाथों को ऊपर की ओर गोलाई के साथ ले जाना चाहिए। लेकिन हाथों का दबाव हड्डी पर ज्यादा न पड़े, इसका ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा हड्डियों पर दबाव से दर्द हो सकता है।

लाभ– इससे पेशियों में शिथिलता आती है। थकावट दूर होती है। अर्धांगवात इत्यादि में यह क्रिया लाभदायक है।

(7) बेलना (Rolling)- रोगी के पेट और पीठ की मांसपेशियों की अभ्यंग करने वाला अपने दोनों हाथों में बेलन की तरह पकड़ कर बेलते हुए अंगों पर अभ्यंग करता है। इस क्रिया को बेलना अथवा (Rolling) कहते हैं। पेट पर यह क्रिया दाहिनी ओर से बायीं ओर, गोलाई में बिल्कुल हल्के हाथ से करें। लेकिन पीठ पर थोड़ा अधिक दबाव लगा सकते हैं।

बेलना

लाभ– वसा (Fat) को कम करने के लिए यह उत्तम उपाय है। इसलिए यह क्रिया स्थौल्य हेतु उत्तम है।

(8) झकझोरना (Shaking)- दोनों हाथों से रोगी के अंगों को हिलाते हुए आगे बढ़ाने की क्रिया को झकझोरना अथवा (Shaking) कहते हैं। अभ्यंग के बाद रोगी के अंगों को झकझोरना चाहिए।

झकझोरना

(9) दबाना (Twisting)- रोगी की मांसपेशियों को पंजे में लेकर ऊँगलियों से बदाने की क्रिया को दबाना अथवा (Twisting) कहते हैं।

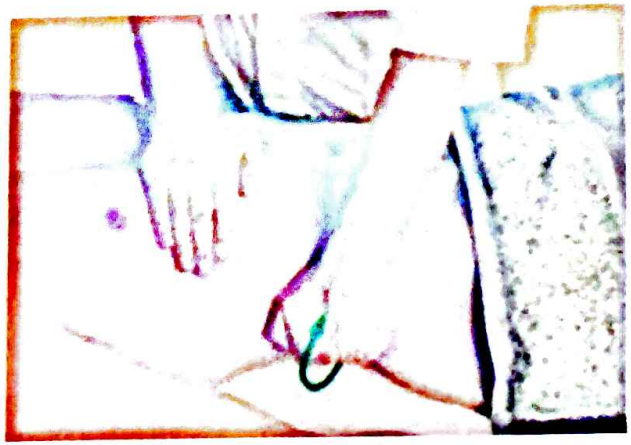

दबाना

लाभ – इससे अंगों का दर्द दूर होता है तथा वृद्धावस्था में यह अधिक लाभदायक है।

(10) थपकाना (Tapping)- खुले हाथों से ऊँगलियाँ ढीली कर बाहुओं को शिथिल कर रोगी की मांसपेशियों और सिर पर बार–बार जल्दी–जल्दी थपकना (Taping) है। ऊँगलियाँ आड़े लेकिन ताल के साथ चलानी चाहिए। झकझोरने की अपेक्षा थपकना ज्यादा अच्छा है। अतः यह क्रिया भी मालिश के बाद ही की जाती है।

थपकना

(11) कटोरी की थपकी (Clapping)- जिस प्रकार बच्चे की पीठ पर माँ अपनी हथेली को थोड़ा मोड़कर– कटोरी–सी बनाकर– ढीले हाथ से थपथपाती है उसी प्रकार अभ्यंग में इस प्रकार की विधि या इस क्रिया को कटोरी की थपकी (Clapping) कहते हैं। थपकाने (Tapping) के बाद कटोरी की थपकी (Clapping) करना और अच्छा है।

कटोरी की थपकी

(12) कंपन (Vibration)- अभ्यंग करने वाला अपने दोनों हाथों को ढीला छोड़कर रोगी के अंगों को हिलाते हुए ऊपर या नीचे की ओर ले जाय फिर केवल ऊँगलियों के अग्र से तेजी के साथ लेकिन तालयुक्त कंपन दे। कंपन की शृंखला टूटने न पाये। इसलिए यह क्रिया जरा कठिन है और अभ्यंग करने वाले को भी इससे जल्दी थकावट होने लगती है।

कंपन

लाभ- इस अभ्यंग क्रिया से नींद जल्दी आती है, थकावट दूर होती है।

पेट और पीठ की मालिश, बेलन (Rolling), थपथापना (Storking), कटोरी की थपकी (Clapping) इत्यादि के बाद रोगी को कंपन देना चाहिए।

अन्य बाह्य स्नेहन विधि :-

संवाहन-

आवाहन-हाथ से धीरे धीरे थपकी मारना (मलना) यह सुखकारक स्पर्श है।

अधिक बल का प्रयोग ना करते हुये शरीर को मलना संवाहन है। अगर संवाहन के लिये स्नेह का उपयोग किया जाता है तो वह स्नेह संवाहन है। सुश्रुताचार्य ने दिनचर्या प्रकरण में अभ्यंग, तैल मर्दन के बाद संवाहन का निर्देश किया है। संवाहन- प्रीति उत्पादक है, निद्राकर है, वृष्य और कफवातनाशक है, मांस, रक्त और त्वचा हेतु संवाहन हितकर है।

मर्दन-उन्मर्दन

"तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्य समंततः।" (अ. ह. सू. -2/12)

व्यायाम के पश्चात् सम्पूर्ण शरीर को इस प्रकार मले जिससे कोई कष्ट ना हो वह मर्दन है।

मर्दन में स्नेह, अभ्यंग, उत्सादन की अपेक्षाकृत अधिक बल से घर्षण करते है। (जोरसे शरीर पर रगडना)

मर्दन-उन्मर्दन यह पर्यायी शब्द है, लेकिन इसमें थोडा भेद है, मर्दन में स्नेह को अनुलोम गती से घर्षण करते हैं, और उन्मर्दन में प्रतिलोम गति से स्नेह का घर्षण करते है। यह स्नेह कोष्ण होना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण में त्वक्गत, मांसगत, रक्तगत वात, सिरागत वात में रक्तमोक्षण के साथ-साथ स्नेह मर्दन करने के लिए कहा है।

स्नेहोपनाहाग्निकर्म-बंधनोन्मर्दादि च।
स्नायु संध्यास्थि संप्राप्ते कुर्याद वायावतंद्रित।। (सु. चि. 4/8)

आचार्य सुश्रुत ने स्नायु, संधि, अस्थिगत वात में भी स्नेह मर्दन-उन्मर्दन करने का उल्लेख किया है।

उद्वर्तन- प्रतिलोम गती से अधिक भार या पीडन या घर्षण के साथ अभ्यंग करना उद्वर्तन है।

आचार्य सुश्रुत ने उद्वर्तन, उद्घर्षण और उत्सादन ऐसे तीन कर्म दिये है।

1. **उद्वर्तन**- ऐसे द्रव्यों का उपयोग जो प्रविलापन और विम्लापन करते है।
2. **उद्घर्षण**- अस्निग्ध (रूक्ष) द्रव्यों का शरीर पर घर्षण।
3. **उत्सादन**- स्निग्ध द्रव्यों या स्निग्ध कल्क का शरीर पर घर्षण।

"उदवर्तन चात्र प्रविलापनीयविम्लायनम्।"
"उद्वर्तनवातहर कफमेदो विलापनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक् प्रसादकर परम्।।" (सु. चि. 24/51)

उद्वर्तन वातहर है, कफमेदनाशक और अङ्गों का स्थिर करने वाला है, त्वचा का प्रसादन करने में उदवर्तन श्रेष्ठ है।

रूक्ष उदवर्तन और स्नेह उद्वर्तन यह उद्वर्तन के प्रकार है, चरकाचार्या ने स्थौल्य चिकित्सा में रूक्ष उद्वर्तन और कृश की चिकित्सा में स्नेह उद्वर्तन करने का निर्देश किया है।

उत्सादन- स्नेह कल्कों का शरीर पर घर्षण उत्सादन है।

"सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजम्।"
उद्घर्षणोत्सादाभ्यां जायेयतामसंशयम्। उत्सादनाद्भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः।।
प्रहर्षसौभाग्यमृजालाधवादिगुणान्वितम्। उदघर्षणं तु विज्ञेयं कण्डुकोठ अनिलापहम्।।
(सु. चि. 24/54)

उत्सादन से सिरामुख विस्तृत होता है। त्वचा में स्थित अग्नि उत्तेजित होती है। उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेष रूप से कांन्तिमान होता है, तथा प्रहर्ष, सौभाग्य, मृजा, लाघव आदि गुणों से युक्त होता है, उत्सादन, कोठ, कण्डू, वायु को नष्ट करता है। (उबटन लगाना/Massage by medicated paste)

पादाघात

वातघ्न तैलैरभ्यंग मूर्ध्नि तैल विमर्दनम्।

नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः।। (अ. ह. सु.-3/10)

युक्तीपूर्वक पाद (पैर) के द्वारा शरीर के पृष्ठभाग पर मर्दन करना पादाघात है। वाग्भट ने ऋतुचर्या में पादाघात का निर्देश किया है।

पादाघात में जो व्यक्ति पैर से पीडन करेगा उसके पैर स्वच्छ, अकठोर हो तथा वह व्यक्ति अतिस्थूल या अति कृश नहीं होना चाहिए। पादाघात हेतु शयनस्थान से उपर एक रस्सी बांधकर उसमें एक चक्र लगा देते हैं। जिसको पकडकर रूग्णशरीर के अवयव पर सुखपूर्वक पादाघात कर सके।

मूर्धतैल (शिरः तर्पण)

शिरः प्रदेश पर तैल आदि से तर्पण या स्वेदन करना इसे मूर्धतैल या शिरः तर्पण कहते हैं।

नित्यस्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते। त खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रयतंति च।।

बलं शिरः कपालानां विशेषैणाभिवर्द्धते। दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवंति च।।

इंद्रियाणि प्रसीदति सुत्वग्भवति चामलम्। निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नितैलनिषेवणात्।।

(च. सू. 5/81-83)

चरकाचार्य ने मूर्धतैल की प्रशस्ती में कहा है कि प्रतिदिन तैल से स्नेहन करने से शिरःशूल नहीं होता, यदि है तो उसका नाश होता है। अकाल खालित्य और पालित्य का नाश करता है, शिरप्रदेश दृढ़ बलवान होता है, केश दीर्घ, दृढमूल और कृष्णवर्णी रहते हैं, इंद्रीय प्रसन्न रहकर अपना अर्थ ग्रहण का कार्य योग्य प्रकार से करते हैं, मुख मृदु, मुलायम कान्तीप्रद होता है इसका सर्वोत्तम गुण सुखकारक निद्रालाभ है।

"अभ्यंगसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।

मूर्धतैलं बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तम्।।" (अ. ह. सू. 22/23)

उपरोक्त लाभ की प्राप्ति हेतु शिरः प्रदेश पर स्नेहन नित्य (सतत) धारण करे, स्नेह शिरपर काल एवं गुणकर्म के अनुसार आचार्य वाग्भट्ट ने मूर्धतैल के चार प्रकार बताये हैं।

1. शिरोऽभ्यंग 2. शिरः सेक 3. शिरः पिचुधारण 4. शिरोबस्ति

1. शिरोभ्यंग

तत्राऽभ्यंग प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकंडूमलादिषु। (अ. ह. सू. 22/24)

शिरोगतांस्तथा रोगान् शिरोऽभ्यंगोऽपकर्षति। केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्।।

करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्। संतर्पणं चेंद्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम्।।

(सु. चि. 24/25-26)

शिरः प्रदेश पर तैल से संवाहन/मालिश करना शिरोभ्यंग है। शिरोभ्यंग के लिये मंद सुखोष्ण तैल का प्रयोग करना चाहिए, शिरोभ्यंग से शिरोरोग दूर होते हैं। बालों में मृदुता आती हैं, शिरः प्रदेश सारे इंद्रियों का मूलस्थान होने से इसके प्रयोग से सभी इंद्रिय उत्तम कार्यकारी हो जाती है।

धाराकर्म (Dhara Karma)

परिचय (Introduction)- किसी भी द्रव पदार्थ या औषध युक्त द्रव पदार्थ को शरीर पर धारा के रूप में गिराना या प्रयोग करना धाराकर्म कहलाता है। यह एक प्रकार का बाह्य मृदु स्नेहन है जिससे रोगों का शमन होता है।

प्रकार (Types)- यह स्थानानुसार दो प्रकार का होता है-

(i) एकांगधारा- शरीर के किसी अंग विशेष पर धारा गिराना एकांगधारा कहलाता है। जैसे- शिरोधारा, नेत्रधारा।

(ii) सर्वांगधारा- सर्वांगशरीर पर धारा गिराना सर्वांगधारा कहलाता है। जैसे- पिडिंचल।

शिरोधारा एवं धाराकर्म औषध द्रव्य के आधार पर निम्न प्रकार की होती है-

(i) स्नेहधारा- इसमें औषध द्रव्य को तैल या घृत से सिद्ध कर या तिल तैल या शुद्ध गो घृत का प्रयोग करते हैं। अधिकांशतः तैल का प्रयोग करने के कारण तैल धारा प्रचलित है।

(ii) क्षीरधारा- इसमें औषध द्रव्य दुग्ध से सिद्ध किया जाता है। अथवा केवल दूध से भी किया जाता है।

(iii) तक्रधारा- इसमें औषध द्रव्य छाछ से सिद्ध किया जाता है।

(iv) जलधारा- सुखोष्ण जल को धारा रूप मे प्रयोग करते हैं।

(v) कषाय धारा- इसमें औषध द्रव्य का क्वाथ (Decoction) का प्रयोग करते है।

उपरोक्त सभी धारा कर्मों का सिर पर प्रयोग करने पर ये सभी शिरोधारा के भी प्रकार है यथाः- तैल शिरोधारा, जल शिरोधारा, क्षीर शिरोधारा

शिरोधारा (Shirodhara)

सिर पर विशेषतः कपाल प्रदेश पर औषधि क्वाथ, दूध, छाछ, इक्षुरस, घी, तैल इत्यादि से विशिष्ट प्रकार से धारा छोडना शिरः सेक कहलाता है इसे शिरोधारा भी कहते हैं।

शिरोधारा में प्रयुक्त उपकरण-

स्वर्णाद्युत्तमलोहजस्तु करको मृत्संभवो वाऽत्र तत्। नालाग्रं तु कनिष्ठिकांगुलि परिणाहीन्मितं रोगिणः।।

द्विप्रस्थः प्रमितो निधेय इति वा मध्यस्थरंध्रादधो। गच्छद्वर्तिरधोर्ध्वलंब्यपि घटः कार्यः शिरः सेचने।।

(धाराकल्प)

धारापात्र- शिरोधारा करने के लिए एक विशिष्ट पात्र का उपयोग किया जाता है उसे धारापात्र कहते हैं। यह धारापात्र सुवर्ण, लौह, पीतल, ताम्र, स्टील, लकड़ी अथवा मिट्टी का बना होता है। इस पात्र का मुख चौडा होता है नीचे की ओर गोलाई में सिकुडा होता है तथा गहराई में 6 इंच का होता है।

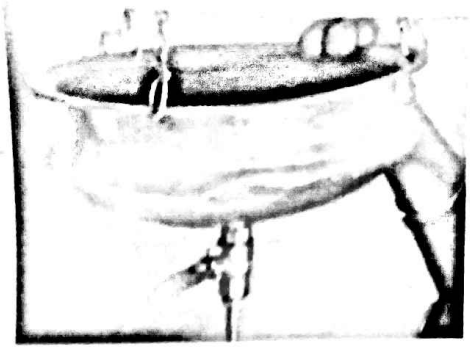

शिरोधारा पात्र (धारा पात्र)

इसमें 2 प्रस्थ या 64 ऑस (लगभग 2 liter) द्रव की क्षमता कम से कम होनी चाहिए।

पात्र के नीचे तल भाग में कनिष्ठिका अंगुली का अग्रभाग प्रविष्ट हो सके इस तरह का लगभग 2 सेमी. परिणाह का छिद्र होता है, जो बिलकुल मध्य में हो। इस छिद्र के ऊपर वर्तुलाकार लकडी या धातु निर्मित कप के आकार का छि युक्त पात्र इस प्रकार रखा जाता है कि जिससे इसका छिद्र तथा धारापात्र का छिद्र दोनों समान्तर दिशा में हो। इस पात्र के स्थान पर नारियल का बराबर आधा कटा हुआ कवच भी उपयोग ला सकते हैं।

धारावर्ति– यह कपास या कपडे की बनी होती है। इस वर्ति का एक भाग धारापात्र के छिद्र में इस तरह लगा हुआ हो जिससे धारापात्र का छिद्र पूर्णतयाः बंद न हो बल्कि थोडा–थोडा और सतत धारा युक्त द्रव छिद्र में से उतर सके। वर्ति का दूसरा भाग धारापात्र के छिद्र से उतर कर पात्र के बाहर आतुर के शिर से करीब चार इंच ऊँचाई तक लटकता रहे। पात्र के अंदर स्थित वर्ति के ग्रंथिस्थान में छोटी सी लकडी की पट्टी डाट के रूप में लगा दें अथवा अर्द्ध नरियल के कवच का प्रयोग किया है तो नरियल खोल के बीच से गांठ लगाएँ ताकि वह छिद्र से न गिर पाए।

द्रोणी (या) धारा टेबल– यह टेबल 7 फीट लम्बा 2½ फीट चौडा, 2½ फीट ऊँचा होता है। इसकी ऊपरी सतह पर दोनों बाजुओं में किनारे से तीन–तीन इंच तक ऊपर तक ऊँचाई की दीवार वाली होनी चाहिए। जिससे टेबल पर गिरा हुआ द्रव बाहर न जा सके और नीचे रखे हुए पात्र में एकत्रित हो जाए।

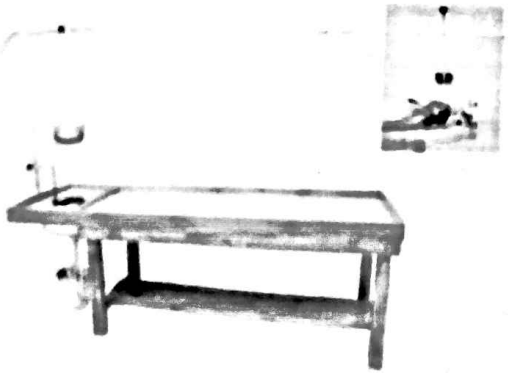

शिरोधारा टेबल एवं स्टैण्ड

धारोच्च चतुरंगुलं तु शिरसः सेंके।
अत्युष्णेऽपि च मंदकोपसमये मंदातपे शीतले।। (धाराकल्प)

धारापात्र स्टैण्ड– रस्सी या जंजीर से बांधकर धारापात्र को स्टेण्ड पर लटकाया जाता है। धारापात्र की ऊँचाई इतनी रखते हैं कि वर्ति की ऊँचाई रोगी के सिर से लगभग 4 अंगुल या लगभग 20 cm रहे।

शिरोधारा के द्रव्य भेद से प्रकारों का वर्णन :–

(1) तक्र धारा (2) क्षीर धारा (3) तैल धारा

1. तक्र धारा (Takradhara)–

धारायस्त्वेक वर्षातप हिम परि शोषातिशुद्ध प्रकीर्णम्। धात्री प्रस्थं सपादं, भिषगथ पटुधीः संत्यजेट्टीजमस्या।।
उत्क्वाथ्याष्टादशारव्यमित कुडव जले षष्ठभागावशिष्टं। तत्तुल्यं चाम्लतक्रं विधिरिति मुनिभिः प्रोक्त आत्रेयमुख्यैः।।

(धाराकल्प)

(i) तक्र धारा निर्माण विधि– एक वर्ष तक धूप और वायु में सुखाये हुए आंवले का चूर्ण 800 g लेना चाहिए जिसमें आंवलों का बीज न हो। इसमें 2.5 लीटर जल डालकर 1/6 शेष अर्थात् 400ml के लगभग शेष रहे ऐसा क्वाथ बना लें। इसमें 400ml तक्र डालकर शिरोधारा करनी चाहिए।

अन्य विधिः– 1.3 लीटर गाय का दूध लेकर 5.2 लीटर जल और 80 ग्राम मुस्ता चूर्ण डालकर जब तक पकाएँ तब तक दूध शेष (1.3 लीटर) रह जाए। ठण्डा होने पर इसमें खट्टी छाछ थोडी मात्रा में डालकर उसका दही बनावें इसमें 650ml आमलक क्वाथ डालकर छाछ बनाकर शिरोधारा करनी चाहिए।

800 gm + 2.5 → 400 + 400

गुणकर्म (Properties)–

केशादीनांश्च शौक्ल्यं क्लममपि तनुतां दोषकोप शिरोरुग्बाधामोजः क्षयं तत्करचरणपरिस्फोटनं मूत्रदोषम्।
संधीनां विश्लथत्वं हृदयरुगरुची जाठराग्नेश्च मांद्यम्। धात्री तक्रोत्थधारा हरति शिरसि वा कर्णनेत्रामयोघम्।।

(धाराकल्प)

(1) पलित्य रोकने में (केशों का सफेद होना कम होता है।)
(2) शरीर की थकावट दूर होती है।
(3) ओजक्षय दूर होता है।
(4) शिरःशूल का शमन होता है।
(5) संधियों का शैथिल्य कम होता है।
(6) उर्ध्वजत्रुगत रोगों में लाभदायक।
(7) हाथ पाँव के तलवो की दरारों का शमन होता है।
(8) मूत्र रोग में लाभदायक है।

2. क्षीर धारा (Ksheer Dhara)

(ii) क्षीरधारा निर्माण विधि–

- इसमें औषध युक्त दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। बलामूल/शतावरी/अश्वगंधा 30 ग्राम व दुग्ध 450 मि. ली. तथा पानी दुग्ध से 8 गुना लेकर तब तक उबाला किया जाता है जब तक केवल दुग्ध शेष रह जाए। फिर इस क्षीर में नारियल पानी की बराबर मात्रा मिलकार शिरः सेक किया जाता है। नारियल पानी के स्थान पर दोषानुसार क्वाथ भी मिलाकर प्रयोग करते है जैसे दशमूल क्वाथ।

क्षीर धारा करते हुए

क्षीर धारा प्रयुक्त औषध युक्त दुग्ध को एक ही बार उपयोग में लिया जाता है।

गुण कर्म (Properties):– क्षीरधारा निन्द्रानाश, उन्माद, अपस्मार, दाह में उपयोगी है।

इसें अतिरिक्त दशमूल श्रृत दुग्ध का भी प्रयोग करते है।

3. तैलधारा (Tail Dhara)–

चन्दनबला, लाक्षादि, क्षीरबला तैल, दशमूल तैल, अश्वगंधादि तैल आदि का रोग व रोगी की अवस्थानुसार प्रयोग किया जाता है।

योज्यं स्नेह चचुष्टयं च तिलजं वा तत्र शुद्धेऽनिले। पित्तेऽब्रे च घृतं, कफे तु तिलज वातेऽस्र पितान्विते॥
तैलाज्यं तु समं कफेन सहिते तैलार्ध भागं घृतम्॥ (धाराकल्प)

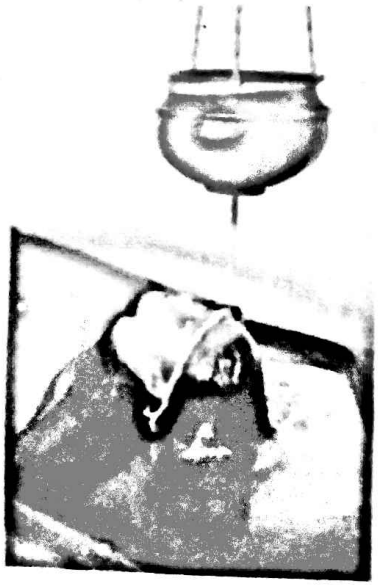

तैल द्वारा शिरोधारा करते हुए

धाराकल्प में

(1) वात दोष में तिल तैल से
(2) पित्त और रक्त में घृत से
(3) कफ में तिल तैल से
(4) वात और रक्त संसृष्टि में तथा वातपित्तरक्त संसृष्टि में तैल और घी को समभाग लेकर उससे
(5) कफ संसृष्टि में तेल और आधे भाग घृत मिलाकर धारा करने का निर्देश किया है।

गुणकर्म (Properties) :–

- वाग् और मन की स्थिरता होती है।
- शरीर का बल बढ़ता है।
- भोजन में रुचि बढ़ती है।
- स्वरमाधुर्ययुक्त एवं त्वचा कोमल है।
- शुक्र एवं रक्त इन धातुओं का पोषण होता है।

शिरोधारा विधि (Procedure of Shirodhara)–

यह तीन चरणों में पूर्ण होती है–

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्व कर्म (Poorva karma of shirodhara)– इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं–

(i) आतुर सिद्धता (Preparation of patient)– शिरोधारा करने से पहले रोगी का परीक्षण करते हैं कि वह शिरोधारा योग्य है या अयोग्य। योग्य होने की स्थिति में आतुर बल, प्रकृति, वय, सात्म्य, सत्त्व आदि की परीक्षा करते हैं। शिर पर तैल द्वारा अभ्यंग करते हैं।

(ii) शिरोधारा योग्य रोग व रोगी (Suitable for Shirodhara):–

- उन्माद
- अपस्मार
- वातज शिरःशूल
- पित्तज शिरःशूल
- कफज शिरःशूल
- सन्निपातज शिरःशूल
- अर्धावभेदक
- अनंतवात
- सूर्यावर्त
- शंखक
- कर्णनाद
- कर्णवाधिर्य
- स्मृतिदौर्बल्य
- खालित्य
- पालित्य
- अरुंषिका
- नासा रोग
- दृष्टिमान्द्य
- मस्तिष्कक्षय

अयोग्य रोग व रोगी (Unsuitable for Shirodhara)–

शिरोशोथ, कर्णमूलिका ग्रन्थि– शोथ, अजीर्ण, छर्दि, मूर्च्छा, सन्यास आदि।

औषध योग निर्धारण– रोगी के रोग व प्रकृति अनुसार औषध योग व शिरोधारा प्रकार का निर्धारण किया जाता है।

आवश्यक उपकरण– शिरोधारा पात्र, शिरोधारा टेबल, स्टोव, छोटी भगोनी, तौलिया, धारा स्टैण्ड, नारियल कपाल, औषध द्रव्य, दस्ताने, नेत्रबंधन पट्टिका, ऊष्णजल युक्त भगोना आदि।

शिरोधारा हेतु दो परिचारक की आवश्यकता होती है।

तापक्रमादि सारणी (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाडी गति, श्वसन गति, आदि को सूचीबद्ध करते हैं।

शिरोधारा कर्म में होने वाले उपद्रवों व सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी रोगी को दें व उसकी लिखित में सहमति (Consent form) लेकर उसे सूचीबद्ध करते हैं।

रोगी की वेशभूषा स्वच्छ व आरामदायक होनी चाहिए। तथा धारा कक्ष एकदम शांत वातावरण होना चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhan Karma)–

शिरोधारा योग्य आतुर को धारातेबल पर लिटावें। रोगी का शिर शिरोधारा स्टेण्ड के नीचे शिरोधारा के लिए निर्मित विशिष्ट भाग की ओर रहे। इस भाग में काष्ठ पट्टिका लगाई जाती है जिस पर नरम तकिया रखकर सिर को उन्नत रखें जिससे कि धारापतित द्रव उसके नीचे गर्त में जाएँ और वहाँ से पुनः प्राप्त हो सके।

रोगी के सिर के ठीक ऊपर धारापात्र लटकाया जाता है। आतुर की आंखों पर कपास के बडे–बडे खण्ड (पेड) रख दें और हल्का बंधन बांध दें एवं कपडे की पट्टी को रस्सी नुमा सिर पर इस प्रकार मृदु बंधन करे जिससे औषधि आँख में न जाए। अब धारापात्र में औषध भर दें और परीक्षण करें कि वह न तो अतिशीत हो और न ही ऊष्ण हो।

एक परिचारक धारापात्र को पकडकर उसके वर्ति में से धारा बराबर कपालप्रदेश पर 4 अंगुल ऊँचाई से गिराता रहे। यह गिरा हुआ द्रव टेबल के नीचे रखें हुए पात्र में एकत्रित होता रहे जिसे दूसरा परिचारक, एकत्रित द्रव को धारापात्र में पुनः डालता रहे।

कुल समय–इस तरह यह विधि 45 मिनट से 1 घण्टे तक करना चाहिए।

कुल दिवस–शिरोधारा 7 दिन, 14 दिन, 21 से 28 दिनों तक रोग व रोगी की प्रकृति अनुसार निर्धारित करते हैं।

काल–धाराकर्म के लिए योग्य काल प्रातःकाल 7 से 10 बजे तक का है। मध्याह्न तथा रात्रि में धाराकर्म नहीं करना चाहिए।

सम्यक्, हीन व अतियोग–

सम्यक् योग– सम्यक् योग होने पर शिरोधारा के पूर्ण लक्षण प्राप्त होते हैं व रोग का शमन होता है।

हीन योग होने पर पूर्ण लक्षण प्राप्त नहीं होते इसमें शिरोधारा पुनः करें।

अतियोग होने पर शिरोधारा को रोक दिया जाता है।

पश्चात् कर्म (Paschat Karma)–

शिरोधारा पश्चात् गर्म पानी में टावल भिगोकर उसे निचोडकर रोगी के शिर पर स्पंज करते हैं जिससे शिर पर लगा हुआ तैल साफ हो जाता है। 1½ या दो घण्टे बाद सुखोष्ण जल या क्वाथ में स्नान कर सकते हैं। तत्पश्चात् निवात स्थान में विश्राम करवाया जाता है।

तापक्रमादि सूचीबद्ध करना (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाडी गति, श्वसन गति को सूचीबद्ध कर पूर्व तथा वर्तमान स्थिति के आधार पर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

रोगी आहार–विहार– आहार में लघु आहार पेया, यवागु का सेवन करवाया जाता है।

विहार– तेज आवाज में बोलना, अधिक देर तक खडे रहना, अधिक देर तक बैठना, बहुत अधिक देर तक सोना, अति भ्रमण न करें, शोक, क्रोध न करें, दिवाशयन, रात्रिजागरण न करें। व्यायाम, सूर्यसंताप, वेगावरोध, अत्यंत शीत वस्तु सेवन, धूम्रपान वर्जित होता है।

पिचु धारण–

पिचुः केशपात स्फुटन धूप नेत्रस्तंभच।। (अ. ह. सू. 22/25)

कार्पासखंड या Gauze piece तैलाक्त या घृताक्त करके शिरःपर स्थित ब्रह्मरंध्र पर (Anterior fontinale) धारण करे, विशेषतः केशपात (Hairfall), शिर प्रदेश में स्फुटन (त्वचा का फटना), शिरः प्रदेशी व्रण, नेत्रस्तम्भ आदि विकारों में यह उपक्रम उपयुक्त होता है।

शिरोबस्ति (Shiro Basti)–

परिचय (Introduction)– सिर पर तैल धारण करना शिरोबस्ति कहलाता है। बस्ति में जिस तरह प्राणियों के बस्तियों का प्रयोग किया जाता है ठीक वैसे ही इसमें तैल धारण कराने के लिए प्राणियों के चर्म से निर्मित यंत्र का उपयोग किया जाता है। उसे शिरो बस्ति यंत्र कहते हैं।

बास्तिस्तु प्रसुप्त्यार्दित जागरे।

नासास्य शोषे तिमिरे शिरोरोगेच दारुणे। (अ. ह. सू. 22/26)

शिरोबस्ति योग्य रोग व रोगी (Suitable for Shiro Basti)–

1. अर्दित 2. तिमिर 3. अनिद्रा 4. दारुण
5. नासाशोष 6. आस्यशोष 7. शिरोरोग 8. अर्धावभेदक
9. शिर व शरीर में प्रसुप्ति (स्पर्श ज्ञान का अभाव)

शिरोबस्ति यंत्र– यह चमडे की या रैगजीन की टोपी सदृश्य होता है जो शिर के आकार का परिणाह में तथा 12 अंगुल विस्तीर्ण ऊँचा होता है।

यह ऊपर व नीचे दोनों ओर से खुला होता है।

शिरोबस्ति निम्न तीन चरणों में पूर्ण होती है–

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्व कर्म (Poorva Karma of Shiro Basti)– शिरोबस्ति कर्म से पूर्व जो भी कर्म किए जाते हैं वो सभी पूर्वकर्म के अन्तर्गत आते हैं।

(i) आतुर सिद्धता (Preparation of patient) – शिरोबस्ति कर्म से पूर्व सर्वप्रथम यह निर्धारण कर लेना चाहिए कि वह रोगी शिरोबस्ति योग्य है या नहीं। योग्य होने की स्थिति में रोगी का वय, बल, सात्म्य, सत्व आदि की परीक्षा कर लेते हैं।

(ii) तापक्रमादि मापन (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाडी गति, श्वसन गति को ज्ञात कर सूचीबद्ध कर लिया जाता है।

रोगी को चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों की जानकारी के साथ–साथ चिकित्सा प्रक्रिया समझा कर उसकी लिखित में सहमति लेकर (Consent form) सूचीबद्ध करना चाहिए।

(iii) औषध योग निर्धारण– रोग व रोगी की अवस्था अनुसार औषध योग का निर्धारण कर लिया जाता है अर्थात् दोषानुसार औषध तैल, घृत आदि का चयन करते है। जैसे–

वात रोग में	धन्वंतर तैल, बला तैल, महानारायण तैल।
पित्तज रोग में	चन्दनादि, चन्दन बला लाक्षादि तैल।
कफज रोग में	धर्तूर पत्रादि, सहचरादि तैल

(iv) आवश्यक उपकरण व परिचारक– शिरोबस्ति यंत्र, स्टोव, भगोनी, कटोरी, तौलिया, चम्मच, एप्रेन, कोटन, उडद आटा, पट्टी, औषध योग आदि।

परिचारक– शिरोबस्ति हेतु दो परिचारक की आवश्यकता होती है।

(v) आहार व वेशभूषा– शिरोधारा से पूर्व रोगी की लघु आहार दिया जाता है।

रोगी की वेशभूषा स्वच्छ व आरामदायक होनी चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhan karma of Shiro Basti)

इसमें शिरोबस्ति विधि कर्म आता है।

मुण्डित सिर

पट्टी पर माष लेप करते हुए

शिरोबस्ति धारण पूर्व पट्टी लगाते हुए

पट्टी लगाते हुए

शिरो बस्ति लगाते हुए

शिरो बस्ति सम्यक् रूप से लगाते हुए

शिरो बस्ति सम्यक् रूप से लगाते हुए

माष कल्क (शिरोबस्ति के अंदर से लगा हुआ)

शिरोबस्ति में तैल धारण किए हुए

शिरो बस्ति में तैल डालते हुए

विधि (Procedure)–

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदो। शुद्धाक्त स्विन्न देहस्य दिनांते गव्यमाहिषम्।।

द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरः समम्। आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते।।

चैललैणिकया बद्धवा माषकल्केन लेपयेत्। ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्।।

ऊर्ध्वकेशभ्रुवो यावदङ्गुलं धारयेच्च तम्।। (अ. ह. सू. 22/26 से 29)

सर्वप्रथम रोगी को जानु जितनी ऊँचाई वाली कुर्सी पर बैठा दिया जाता है। फिर उसके सिर पर बस्तियंत्र को व्यवस्थित रखकर बेड्रेज से बांधकर उसे फिट कर दिया जाता है। आभ्यांतर भाग में रोमांत के स्थान में माषकल्क (उडद के आटे को पानी में गूंथकर) की भरकर अवकाश रहित कर दिया जाता है। यदि आवश्यकता हो तो बाहर भी उडद का आटा लेपित कर दिया जाता है फिर बंधन किया जाता है बंधन इतना लम्बा हो जो कि कान के बाजू से सिर पर घूमते हुए सात–आठ बार स्तर हो जाए। गांठ कनपट्टी पर आनी चाहिए। इस प्रकार के बंधन से तैल स्त्रवित नहीं हो पाता है। शिरोबस्ति यंत्र सिर पर अच्छी तरह से आ सके इस हेतु आवश्यक है कि रोगी का मुंडन या बालों को छोटा कटवा दें।

रोगानुसार उचित तैल या औषध द्रव सुखोष्ण कर दर्वी या चमचे द्वारा बस्तियंत्र के बाजू से धीरे–धीरे अंदर डाल दें। केशभूमि से लगभग दो अंगुल ऊँचाई तक तैल भर दें।

बस्ति धारण काल मर्यादा–

दशाष्टौच चट् चलादिषु। मात्रा सहस्त्राणि।

स्नाव्यरुजे त्वेकं।। (अ. ह. सू. 22/30)

रोग	कुल मर्यादा	मिनट में काल
वातज रोग	10000 मात्रा तक	लगभग 53 मिनट
पित्तज रोग	8000 मात्रा तक	लगभग 43 मिनट
कफज रोग	6000 मात्रा तक	लगभग 31 मिनट
स्वस्थ में	1000 मात्रा तक	लगभग 5–6 मिनट

मात्रा– एक अक्षिनिमेष, एक चुटकी या एक लघु अक्षर उच्चारण के लिए जितना समय लगता है वह एक मात्रा है। इसका काल लगभग 19/60 सैकेण्ड माना है।

प्रयोग काल–लगभग सात दिन तक शिरोबस्ति प्रयोगकाल बताया है। तथा शिरो बस्ति प्रक्रिया अपराह्न काल या सायं काल में की जाती है।

धारयेच्च तम्। आवक्त्र नासिकोत्क्लेदात्।। (अ. ह. सू. 2/29)

स्कंधादि मर्दयेत् मुक्तस्नेहस्य।। (अ. ह. सू. 22/30)

इस तैल को तब तक धारण कराएँ जब तक वेदना का शमन हो या मुँह या नाक से क्लेदन होने लगे। यह बस्ति समय पूर्ण करने का लक्षण है।

बीच-बीच में तैल अधिक ठण्डा न हो इस हेतु चम्मच से थोड़ा-थोड़ा तैल निकालकर उतना ही गरम तैल डालते रहें। ताकि सम्पूर्ण प्रक्रिया में तैल का तापक्रम एक समान सुखोष्ण बना रहे।

शिरोबस्ति समय पूर्ण होने पर तैल निकाल देते हैं।

3. पश्चात् कर्म (Paschat karma of Shiro Basti)– इसमें निम्नलिखित कर्म आते हैं-

(i) तापक्रमादि मापन (Vital recording)– प्रधान कर्म के पश्चात् रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, श्वसन गति, नाडी गति को ज्ञात कर पूर्व में लिए गए विवरण से तुलना कर वर्तमान स्थिति का निर्धारण करते हैं।

(ii) आहार विहार सम्बन्धी निर्देश– शिरोबस्ति कर्म पश्चात् रोगी के सिर का तैल कॉटन द्वारा या दर्वी द्वारा निकाल देते हैं तथा शिरोबस्ति यंत्र को हटा कर सिर, कंधे, ग्रीवा, पृष्ठ का मृदु अभ्यंग करते हैं।

सिर को ढककर रखने का निर्देश दिया जाता है तथा रोगी को निवात स्थान में निवास करवाया जाता है।

आहार में लघु आहार को सेवन करवाते हैं।

कर्णपूरण

"न कर्णरोगा वातोत्था न मन्या हनु संग्रहः।

नोच्चे श्रुतिर्नबाधिर्य स्यान्नित्यं कर्म तर्पणात्।।" (च. सू. 5/84)

हनुमन्या शिरः कर्ण शूलघ्नं कर्णपूरणम्।। (सु. चि. 24/29)

कर्ण में तैल भरना कर्णपूरण है।

नित्य कर्णपूरण करने से वातज कर्णरोग, हनु मन्यास्तंभ, कर्णबाधिर्य आदि व्याधियाँ नहीं होता है, सुश्रुताचार्य ने कर्णशूल, मन्याशूल, शिरःशूल इनमें कर्णपूरण का निर्देश किया है।

कर्णपूरण 100 मात्रा तक धारण करना चाहिए।

अक्षितर्पण

अक्षि पर स्नेह धारण करना अक्षितर्पण है।

अक्षितर्पण नेत्रव्याधिशामक है।

नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रूक्षेऽभिघातजे। वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्ण पक्ष्माविलेक्षणे।।

कृच्छ्रोन्मिलसिराहर्ष सिरोत्पात तमोर्जुनैः। स्यंदमंथान्यतोवात वातपर्याय शुक्रकैः।।

आतुरे शंततारागाश्रुशूल संरम्भ दूषिके।। निवाते तर्पण योज्यं।। (अ. ह. सू. 24/1-3)

आँख के सामने अंधेरा आना, अक्षिस्तब्धता, अक्षिशुष्कता, नेत्राभिघात, वातपित्तज नेत्ररोग, नेत्राजिह्मता (टेढा होना) शीर्णपक्ष्म, अधिमन्थ, अभिष्यंद, अर्जुन, सिराहर्ष, सिरोत्पात आदि व्याधियों में उपयुक्त है।

व्याधि	अक्षितर्पण कालावधी	दोष	कालावधी
वर्त्मराग	100 मात्रा	वातज	1000 मात्रा
संधिरोग	300 मात्रा	पित्तज/रक्तज	600 मात्रा
शुक्लगत रोग	500 मात्रा	कफज	500 मात्रा
कृष्णगत रोग	700 मात्रा		
दृष्टीगत रोग	800 मात्रा		
अधिमंथ रोग	1000 मात्रा		

गण्डूष-कवल धारण

सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवले स्मृता।

असंचार्या तु या मात्रा गडूषः स प्रकीर्तितः।। (सु. चि. 40/62)

(औषधी) द्रव्यों की संचारी मात्रा जो मुख में सुखपूर्वक घुमाई जा सके वह कवल है। द्रव्यों की असंचारी मात्रा को मुख में धारण करना गण्डूष कहलाता है। सुश्रुत और वाग्भट्ट ने मात्रा की आधार पर गण्डूष और कवल में भेद किया है तथापि इन दोनों के गुण और कर्म ऐक जैसे ही है। आचार्य शारङ्गधर ने अलग दृष्टीकोण से इसका विवेचन किया है, गण्डूष में द्रवद्रव्यों का उपयोग और कवलग्रह में कल्क का प्रयोग करने के लिये कहा है।

आचार्य सुश्रुत और वाग्भट्ट ने गण्डूष के 4 भेद बताये है।

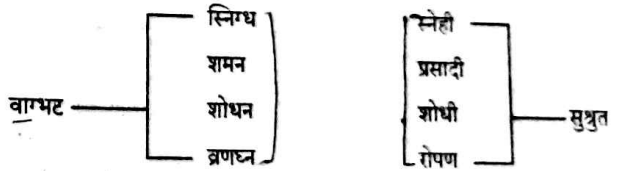

गण्डूष प्रकार	दोषघ्नता	प्रयुक्तव्य द्रव्य
स्निग्ध ✓	वातघ्न	मधुर अम्ल लवण रस + स्नेह
शमन ✓	पित्तघ्न	तिक्त, कषाय, मधुररस
प्रसादन ✓	पित्तघ्न	मधुर, शीत द्रव्य
शोधन ✓	कफघ्न	तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कटु रसयुक्तद्रव्य

गण्डूष गुण कर्म-

दंतदार्ढ्यकर रूच्यं स्नेहगण्डूष धारणम्। (सु. चि. 24/7)

कुछ उपयुक्त गंडूष प्रयोग

व्याधी	गण्डूष/कवल द्रव्य
दंतहर्ष, चलदंत, वातिक मुखरोग	सुखोष्ण या शीत तिलकल्कमिश्रित गण्डू
मुखपाक, दाह, तृष्णा	मधु से कवलधारण
मुखवैरस्य, मुखदुर्गन्ध	कांजी से गण्डूष
गलप्रदेश से कफकानिष्कासन न होना	क्षारयुक्त जल से गण्डुष (सज्जीक्षार, यवक्षार, टंकण)
गलग्रह, शुष्क कास, गलशुंडिका वृद्धी, गलपाक	हरिद्रायुक्त कोष्ण जल का प्रयोग, कोष्ण तिल तैल गण्डूष

Digestion, Absorption and Metabolism of Lipids/Fat

Dietary fats are classified into two types-

(1) Saturated fats

(2) Unsaturated fats
- Monounsaturated fats
- Poly unsaturated fats
- Trans fat.

Digestion of Lipids-

Lipids are digested by lipolytic enzymes.

In the Mouth

Saliva contains lingual lipase enzyme which is secreted by lingual glands of ma and swallowed along with saliva. It digests milk fats (Per-emulsified fats). It hydroly triglycerides into fatty acids and di-acylglycerol.

In The Stomach

Gastric lipase or tributyrase is the lipolytic enzyme present in gastric juice. inactive at a pH below 2.5 and it becomes active only when the pH is between 4 an gastric lipase or tributyrase which acts on tributyrin (butter fat) and hydrolyzes it into acids and glycerols.

In the Intestine-
- Emulsification of fat by bile salts
- Hydrolysis of fat by pancreatic and intestinal lipolytic enzyme
- Acceleration of fat digestion by micelle formation

Almost all the lipids are digested in the small intestine because of the availabil bile salts, pancreatic lipase,

Functions of bile salts-

Emulsification of fats- Emulsification is the process by which the fat globules are broken down into minute droplets and made in the from of a milky fluid called emulson. Emulsification increases the surface area of these lipids making them much easier to digest.

The lipolytic enzymes of GI tract cannot digest the fats directly because the fats are insoluble in the water due to the surface tension. The bile salts emulsify the fat by reducing the surface tension of the fats due to their detergent action. Because of the reduction in surface tension, the lipid granules are broken into minute particles which can easily digested by lipolytic enzymes.

2. Hydrolysis of fat droplets by pancreatic and intestinal lipolytic enzymes-

(i) Pancreatic lipolytic enzymes-

The lipolytic enzymes present in pancreatic juice are pancreatic lipase, cholesterol ester hydrolase, phospho-lipase A and phospho-lipase B.

Pancreatic Lipase- Pancreatic lipase is a powerful lipolytic enzyme. It hydrolyses the triglycerides into monoglycerides and fatty acids. The activity of pancreatic lipase is accelerated in the presence of bile. The optimum pH required for activity of this enzyme is 7 to 9.

Cholesterol ester hydrolase- Cholesterol ester hydrolase or cholesterol esterase converts cholesterol ester into free cholesterol and fatty acid by hydrolysis.

Phospholipase A- It is activated by trypsin. Phospholipase A digests phospholipids namely lecithin and cephalin and converts them into lysophospholipids, Lecithin into lysolecithin and cephalin into lysocephalin.

Phospholipase B- Phospholipase B is also activated by trypsin. This enzyme converts the lysophospholipids (lysolecithin and lysocephalin) to phosphoryl choline and free fatty acids.

Bile salt activated lipase- This enzyme has a weak lipolytic action than pancreatic lipase. But it hydrolyses a variety of lipids like phospholipids, cholesterol esters and triglycerides. Since it is activated bile salt it is known as bile salt-activated lipase.

(ii) Intestinal lipase-

Intestinal lipase acts on triglycerides and converts them into fatty acids. Their effects though minor but similar to that of pancreatic lipase.

3. Acceleration of fat digestion by micell formation

The hydrolysis of triglyceride eversibl um monoglycerides and free fatty acids i dige

digestion. This problem is solved by the property of bile salts to from micelle. The micel are small water soluble cylindrical disc shaped particles. Each micelle is composed of central fat globule surrounded by about 30 molecules of bile salts in such a way that the lipid soluble non-polar ends are in the central fat globule and water soluble polar ends a out to form the outer covering of micelle. The Monoglycerides and free fatty acids releas from the digestion of fat are quickly incorporated into the central fatty portion of the m celles froming, which are known as the mixed micelle. In this way bile salts accelerate th fat digestion by allowing the lipolytic action to continue.

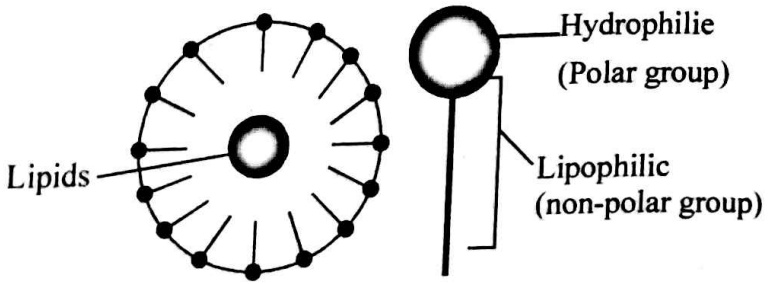

Mixed Micelle

Absorption of Fats.

Most of the fat absorption occurs in the duodenum, almost all the digested lipids a totally absorbed by the time when the chyme reaches the mid jejunum. Absorption of fats accomplished by following steps.

1. Transportation as micelles to the brush border membrane-

The micelles is formed not only to accelerates the fat digestion, but are also esse tial for the fat abosrption as explained.

The insolubility of fat globules prevents their diffusion through the aqueous me dium of the intestinal lumen to reach the brush border. This problem is solved by the bil salts by forming the micelle. The outer surface of micelle is formed by water- soluble pol ends of bile salts, which helps the micelle to diffuse through the aqueous medium to reac the brush border membane. Thus, the bile salt micelle acts as a transport vehicle for th products of fat digestion.

2. Diffusion of lipids across the enterocyte cell membrane.

Once the micelle comes in contact with the cell membrane, the monoglyceride free fatty acids, cholesterol and fat soluble vitamins diffuse passively at a rapid speed throug

the enterocyte cell membranc to the interior of the cell, leaving bile salts in the intestinal lumen. Thus the rate limiting step in lipid absorption is the formation and migration of the micelles from the intestinal chyme to the microvilli surface It is important to note that the bile salts must be present in certain minimum concentration called critical micellar concentration before micelles are formed.

The bile salts released from micelle after diffusion of their associated lipids, are absorbed in the terminal ileum by a Na^+ dependent active transport process.

3. Transport of lipids from inside the enterocytes to the interstitial space-

Once inside the cell, the end product of fat digestion enter the interstitium by two mechanisms.

(i) Diffusion across the basal border of enterocyte-

The small chain fatty acids with less than 12-14 carbon atoms are able to diffuse across the basal border of enterocytes to enter the interstitium.

(ii) Formation and excretion of chylomicrons from enterocytes by exocytosis-
The large chain fatty acids, cholesterol and lysophosphatides, enter the smooth endoplasmic reticulum, where they are reconstituted.

2 - Monoglycerides are combined with fatty acids to produce triglycerides,

Lysophosphatides are combined with fatty acids to form phospholipids, and

Cholesteral is re-esterified.

The re-formed lipids coalesce to form a small lipid droplets (about 1 nm in diameter) called chylomicrons which are lined by β- Lipoproteins synthesized. The chylomicrons are then excreted into the interstitum by exocytosis from the basolateral membrane of enteroeyte. Covering of β-lipoproteins is essential for the exocytosis to occur. Therefore, in the absenec of β-lipoprotein, exocytosis will not occur, and the enterocytes become engorged with lipids.

4. Transport of lipids into circulation-

After exiting the enterocytes (i. e. in the intestitium), the chylomicrons merge into larger droplets that vary in size from 50-50nm, depending on the amount of lipid being absorbed. From the interstitium the lipids diffuse into the lacteals, from which they enter the lymphatic circulation and via thoracic duct gain access into the blood circulation.

Fat metabolism

Fat is synthesised from excess dietary carbohydrates and proteins, and stored in the fat depots, i. e. under the skin, in the omentum or around the kidneys.

Fats that have been digested and absorbed as fatty acids and glycerol into the lacteals are transported via the cisterna chyli and the thoracic duct to the bloodstream and so, by a circuitous route, to the liver. Fatty acids and glycerol circulating in the blood are used by the cells of organs and glands to provide energy and in the synthesis of some of their secretions. In the liver some fatty acids and glycerol are used to provide energy and heat, and some are recombined forming triglycerides, the form in which fat is stored. A triglyceride consists of three fatty acids chemically combined with a glycerol molecule. When required, triglycerides are converted back to fatty acids and glycerol and used to provide energy. the end products of fat metabolism are energy, heat, carbon dioxide and water.

Fatty acids and energy release

When body tissues are deprived of glucose, as occurs in prolonged fasting, starvation, energy-restricted diets or during strenuous exercise, the body uses alternative energy sources, mainly fat stores. Fatty acids may be converted to acetyl coenzyme A, and enter the energy production pathway in that form. One consequence of this is accumulation of ketone bodies, which are produced in the liver from acetyl coenzyme a when levels are too high for processing through the citric acid cycle. Ketone bodies then enter the blood and can be used by other body tissues, including the brain (which is usally glucose dependent) as a source of fuel. However, at high concentrations, ketone bodies are toxic, particularly to the brain. Ketone bodies include acetone and some weak organic acids. Normally levels are low because they are used as soon as they are produced. When production exceeds use, in the situations mentioned above, levels rise causing ketosis. Ketosis is associated with acidosis, which can lead to coma or even death is severe. Excretion of excess ketone boides is via.

(a) The urine (ketonuria)

(b) The lungs, giving the breath a characteristic sweet smell of acetone of 'pear drops'

In ketosis, compensation is required to maintain acidbase balance. This is achieved by buffer systems that excrete excess acid (hydrogen ions) by the lungs, through hyperventilation, or kidneys. In health, ketosis is self-limiting and ketone body production stops when fasting or exercise ceases. Ketoacidosis is associated with uncontrolled type 1 diabetes mellitus.

Glycerol and energy release

The body converts glycerol from the degradation of fats into one of the inermediary compounds produced during glycolysis, and in this form it enters the central metabolic pathways.

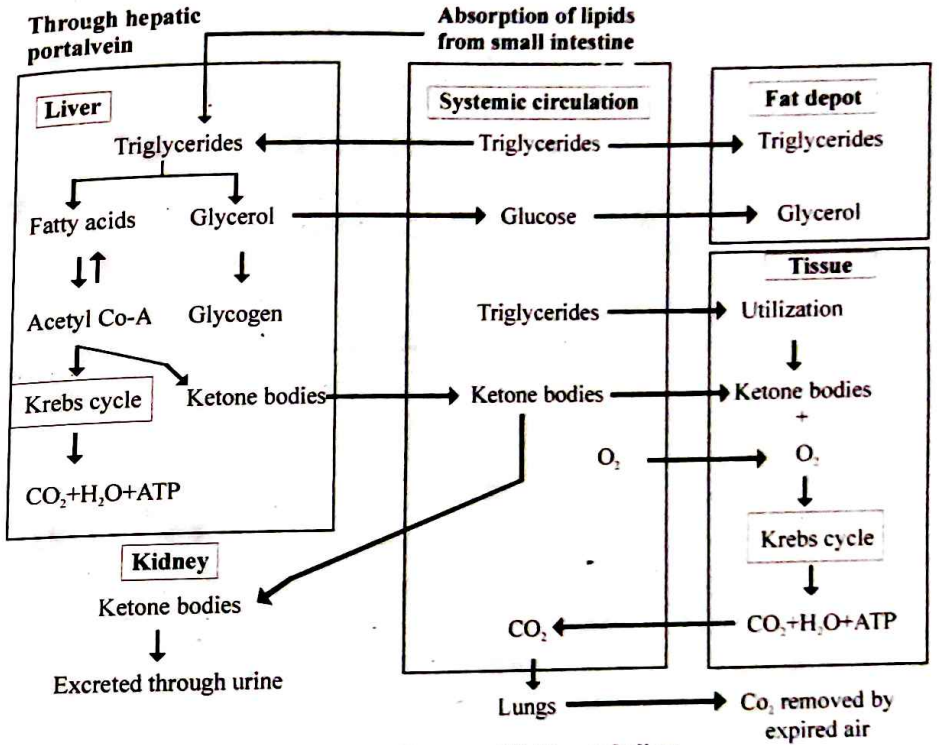

Schematic diagram of lipid metabolism

× × ×

अध्याय–3

स्वेदन

Swedan karma (Sudation Therapy)

स्वेदन परिचय (Introducation)

शोधन के उद्देश्य से स्वेदन करना पूर्वकर्म है किन्तु जब स्वेदन द्वारा चिकित्स्य रोगों के शमन हेतु किया जाता है तब यह प्रधान कर्म होता है। ऊष्मा द्वारा स्त्रोतो विकास होने से त्वचा से स्वेद की उत्पत्ति होती है।

स्वेद-शरीरांतर्गत मल है। शरीर को मलिन करने के कारण इसकी मल संज्ञा होती है। स्वेद मेद धातु का मल कहा गया है। स्वेद से शरीर क्लेद का धारण किया जाता है।

क्लेद यह एक आप्य घटक है जो शरीर के जलीय तत्वों को एक निश्चित अनुपात में रखता है।

तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः, आपः क्लेदः। (च. शा. 5/5)

मूत्रस्य क्लेदवाहनम्। स्वेदस्य क्लेद विधृतिः।। (अ. हृ. सू. 11/5)

मूत्र के द्वारा क्लेद का वहन होता है और स्वेद से धारण, केश व रोम का धारण भी स्वेद द्वारा होता है। शरीर के कई सारे आप्यांश क्लेद में रहकर मूत्र और स्वेद से बाहर निकल जाते हैं।

स्वेदन परिभाषा (Definition)–

शरीर से जिस क्रिया द्वारा स्वेद (पसीना) निकाला जाता है उस क्रिया को स्वेदन कहते हैं।

स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। (च. सू. 22/11)

जो शरीर की जकडाहट दूर करें, भारीपन दूर करें, शीत को दूर करें तथा पसीना लाए उसे स्वेदन कहते हैं।

शब्द निष्पत्ति (Word Origin) – स्विद् धातु में घञ् प्रत्यय से स्वेद बनता है। इसमें भाव वाचक णिच् और अच् प्रत्यय लगता है।

स्वेद का अर्थ पाक भेद तथा ग्रीष्म ऋतु में शरीर से निःस्यंदित पसीना से है।

स्वेदन की उपयोगिता एवं महत्त्व (Importance & utility of swedan)–

1. स्तब्धता का नाश होना।
2. भारीपन का ह्रास होना।
3. पसीने का आना। (स्वेद निर्गमन)
4. शीतता का नाश होना।
5. दोषों का द्रवीकरण होना।
6. वायु का नियमन होना।
7. अंगों में मृदुता का आना।
8. अग्नि का प्रदिप्त होना।
9. त्वचा में निखार (प्रसादन) आना।
10. आहार में रूचि उत्पन्न होना।
11. निद्रा का नाश होना।
12. संधियों में सक्रियता का होना।
13. दोषों का शोधन होना।
14. स्त्रोतों के शोधन होने से शरीर से मल का निकलना।

स्वेदन द्रव्यों के गुण और कर्म (Properties & function & swedan dravyas)

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रुक्षं द्रवं स्थिरम्।

द्रव्यं गुरुच सद् प्रयास्तद्धि स्वेदनमुच्यते।। (च. सू. 22/16)

क्रं.	गुण	कर्म	महाभूत प्रधान
1.	ऊष्ण–	**ह्लादनः स्तंभनः शीतो मूर्च्छा तृट् स्वेद दाहजित्।** **उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः।।** (सु. सू. 46/522) **स्वेदने उष्णः।। हे.।। तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ।।** (सु. सू. 41/15) स्तब्धतानाशक, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा और स्वेद को उत्पन्न करता है, अनुत्साहकारक आम पाचन, सारक और विकासकर होता है।	अग्नि
2.	तीक्ष्ण–	**दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा।।** (सु. सू. 46/525) **शोधने तीक्ष्णः।।हे.।।** **तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवात् हृत।।** (भा. प्र. पू. खं) दाह, पाक, स्त्रावकारक, कफवातनाशक, स्त्रावण की प्रक्रिया से शोधकारक होता है।	अग्नि
3.	सर–	अनुलोमन, प्रसरणशील, प्रवृत्तिशील।	वायु, जल
4.	स्निग्ध–	बलकारक, स्नेहन, वातहर, वृष्य, मार्दवकर होता है।	जल, पृथ्वी
5.	रूक्ष–	**शोषणे रुक्षः।।हे.।।** **रुक्षं समीरणकरं परं कफहरं भतं।।** (भा. प्र. पू. खं.) कफहर, स्तम्भनकारक, रूक्षताकारक, खर होता है।	वायु, जल
6.	सूक्ष्म–	सूक्ष्म स्त्रोतों में प्रवेश योग्य होता है, विवरणशीलता	आकाश, जल, अग्नि
7.	द्रव–	क्लेदन कारक, तरलताकारक, दोषों का विलयन कारक होता है।	जल
8.	स्थिर–	**स्थिरो वातमलस्तंभी।। भा. प्र. पू. खं.।। धारणे स्थिरः।। हे.।।** एकाङ्ग में स्वेद करते समय उपयोगी होता है। जैसे- उपनाह, चिरकारिता, स्तंभकता	पृथ्वी
9.	गुरु–	बलकारक, बृंहणकारक, तर्पण करने वाला। साद, उपलेप	पृथ्वी+जल

स्वेदनकारक द्रव्य (Drugs useful in Swedan)

स्वेदोपग द्रव्य (स्वेदन में सहायक गण) – स्वेद की उत्पत्ति में सहायककारी द्रव्यों को स्वेदोपग कहते हैं। जिसका वर्णन आचार्य चरक ने स्वेदोपग गण के रूप में किया है।

शोभांजनकैरंडार्क वृश्चिर पुनर्नवा यव तिल कुलत्थ माष बदराणि इति दर्शेमानि स्वेदोपगानि भवति।।

(च. सू. 4/8)

1. सहिजन	2. एरण्ड	3. श्वेत पुर्ननवा	4. रक्त पुर्ननवा	5. यव
6. तिल	7. कुलत्थ	8. उडद	9. बेर	10. अर्क

सामान्य स्वेदन द्रव्य – कलमीसोरा, नौसादर, जवाखार, कुलथी, मदार, सहिजन की छाल, सोंठ, तुलसी, दालचीनी, एरण्डमूल, अतीस, नागरमोथा, कपूर, जौ, तिल, उडद, सौफ, देवदारु, फिटकरी, अंकोल आदि।

उपयोग भेद से स्वेदन द्रव्य

1. पिण्ड स्वेद में प्रयुक्त द्रव्य–

तिलमाष कुलत्थाम्ल घृत तैलमिषौदनं। पायसैः कृशरैर्मासैः पिंडस्वेदं प्रयोजयेत्।।

गौखरोष्ट्र वराहाश्च शकृद्भिः सतुषैर्यवैः। सिकतापांशु पाषाण करीषायास पूटकैः।।

(च. सू. 14/25-26)

(1) तिल	(2) माष	(3) कुलत्थ	(4) ओदन
(5) अम्लवर्ग के द्रव्य	(6) घृत	(7) तैल	(8) मांस भात
(9) पायस	(10) कृशरा	(11) प्राणी (गाय-बकरी आदि) शकृत	(12) तुष
(13) यव	(14) बालुका	(15) पत्थर	
(16) करीष (सूखे गोबर का चूरा)		(17) लोहे का चूरा	

2. नाड़ी स्वेद व अवगाह स्वेदोपयोगी द्रव्य–

वारुणामृतकैरंड शिग्रुमूलक सर्षपैः। बासावंश करंजार्क पत्रै अश्मन्तकस्य च।।

शोभांजनक सैरेय मालती सुरसार्जकैः। पत्रैरूत्क्वाथ्य सलिलं नाडी स्वेदं प्रयोजयेत्।।

..... एतएव च निर्युहाः प्रयोज्या जलकौष्ठके।। (च. सू. 14/31-34)

(1) वरुण	(2) गुडुची	(3) एरण्ड मूल	(4) शिग्रु त्वक्
(5) मूलक पचांग	(6) सर्षप पत्र	(7) वासा पत्र	(8) वंश (बाँस पत्र)
(9) करंज पत्र	(10) अर्क पत्र	(11) अश्मान्तक पत्र	(12) शोभाञ्जन पत्र
(13) सैरेयक पत्र	(14) मालती पत्र	(15) सफेद तुलसी पत्र	(16) काली तुलसी पत्र का क्वाथ
(17) दशमूल	(18) भूतिक	(19) मदिरा	(20) दही का पानी
(21) गोमूत्र	(22) कांजी		

3. (a) उपनाहार्थ सुश्रुरोक्त काकोल्यादिगण–

काकोली क्षीरकाकोली जीवक ऋषभक मृद्गपर्णी माषपर्णी मेदा महामेदा च्छिन्नरुहा कर्कटश्रृंगी तुगाक्षिरी पद्मक प्रपौंडरीक वृद्धिका जीवंत्योमधुकंचेतिं।। (सु. सू. 38/35)

(1) काकोली	(2) क्षीर काकोली	(3) जीवक	(4) ऋषभक
(5) मुद्गपर्णी	(6) माषपर्णी	(7) मेदा	(8) महामेदा
(9) गिलोय	(10) काकडा श्रृंगी	(11) वंशलोचन	(12) पदमकाठ
(13) प्रपौण्डरीक (श्वेत कमल)	(14) ऋद्धि	(15) वृद्धि	(16) द्राक्षा
(17) जीवन्ती	(18) मुलेठी		

(b) उपनाहार्थ सुश्रुरोक्त एलादि गण :–

(1) एला	(2) तगर	(3) कुष्ठ	(4) जटामांसी
(5) ध्यामक (रोहिस तृण)	(6) दालचीनी	(7) तेजपत्र	(8) नागकेसर
(9) प्रियंगु	(10) हरेणुका	(11) व्याघ्रनख	(12) शुक्ति (नखी भेद)
(13) चोरक	(14) स्थौणेयक	(15) श्रीवेष्टक	(16) चोच (दालचीनी भेद)
(17) बालुक (खस भेद)	(18) गूगल	(19) सर्जरस (राल)	(20) तरुष्क
(21) कुन्दुरु	(22) अगरू	(23) स्पृक्का (सुगंधित द्रव्य)	(24) उशीर (खस)
(25) देवदारु	(26) केशर	(27) पुन्नगकेशर।	

(c) उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त सुरसादि गण–

सुरसाश्वेत सुरसा फणिज्झकार्जक भूस्तृण सुगंधक सुमुखकालमालकुठेरक कासमर्द क्षवक खरपुष्प विडंग कटफल सुरसी निर्गुंडी कुलाहलोंदुर कर्णिका फंजी प्राचीबल काकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति।।

(सु. सू. 38/18)

कृष्ण व श्वेत आदि 7 तुलसी भेद, निर्गुण्डी, वायविडङ्ग आदि।

4. उपनाहार्थ चरकोक्त अन्य द्रव्य–

गोधूम शकलैश्चूर्णीयवानामम्ल संयुतैः।

सस्नेह किण्व लवणैरुपनाहः प्रशस्यते।। (च. सू. 14/35)

गेहूँ का चोकर, जौ का आटा, लवण, अम्ल द्रव्य, स्नेह, सुराबीज (किण्व) आदि।

5. प्रस्तर स्वेद में उपयोगी द्रव्य– (च. सू. 14/42)

(a) शूक धान्य– लाल चावल, महाशाली, यव, उद्दालक, कोदो, शामाक, गेहूँ इत्यादि।

(b) शमी धान्य– मूंग, उडद, कुलत्थ, मोठ, चना, मसूर, तिल इत्यादि।

6. शाल्वणदि स्वेद में प्रयुक्त सुश्रुतोक्त वातघ्न गण–

(a) भद्रदारु, भद्र द्रव्यादि, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण आदि।

(b) विदारिगन्धादि गण – शालपर्णी, भूमिकुष्माण्ड आदि।

(c) वातघ्न स्वेदन दशमूल–

(1) गोखरु (2) सरिवन (3) पिठवन (4) छोटी कटेरी (5) बडी कटेरी
(6) विल्व (7) गनियार (8) पाढल (9) गम्भारी (10) सोनापाठा।

स्वेदन के योग्य रोग व रोगी (Well Suited for Swedana) –

प्रतिश्यायेचकासेच हिक्का श्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्या शिरःशूले स्वरभेद गलग्रहे।।
अर्दितैकांग पक्षाघाते विनामके। कोष्ठानाह बिबंधेषु मूत्राघाते विजृंभके। पार्श्वपृष्ठकटी कुक्षी संग्रहे गृध्रसीषूच।। मूत्रकृच्छ्रे महत्वेचमुष्कयोरंग मर्दके। पादजानूरु जंघाति संग्रहे श्वयथावपि।। खल्लीष्वामेषु शीतेच वेपथौ वातकंटके। संकोचायाम शूलेषु स्तंभगौरव सुप्तिषु। सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते।।

(च. सू. 14/20-24)

येषां नस्यं विधातव्यं बास्तिश्चैव हि देहिनां। शोधनीयाश्च ये किंचित् पूर्वेस्वेद्यास्तु ते मताः। पश्चात स्वेद्यादते शाल्ये मूढ़गर्भा नुपद्रवाः। सम्यक् प्रजाता कालेया पश्चात्स्वेद्या विजानता।

स्वेद्यः पूर्वेच पश्चाच्च भगंवदर्यैसनस्था।

अश्मयां चातुरो जन्तुः शेषान्शास्त्रे प्रचक्ष्महे।। (सु. चि. 32/17-19)

1. प्रतिश्याय	2. कास	3. हिक्का	4. श्वास
5. अंगगौरव	6. कर्णशूल	7. मन्याशूल	8. शिरःशूल
9. स्वरभेद	10. गलग्रह	11. अर्दित	12. पार्श्वग्रह
13. मूत्राघात	14. पृष्ठग्रह	15. गृध्रसी	16. गुरुता
17. स्तम्भ	18. अंगशूल	19. एकांगवात	20. सर्वांगवात
21. पक्षाघात	22. आनाह	23. विबंध	24. जृम्भा
25. जानुशूल	26. उरुशूल	27. जंघाशूल	28. आमदोष
29. शैत्य	30. कम्पवात	31. खल्लीरोग	32. वातकंटक
33. संकोच	34. आयाम	35. गुरुता	36. सुप्तता
37. सर्वांग जाडय	38. वमनार्ह	39. विरेचनार्ह	40. बस्ति योग्य
41. नस्यार्ह	42. मूढ़गर्भ	43. अश्मरी पूर्व व पश्चात्	44. अर्श पूर्व व पश्चात्
45. भगन्दर पूर्व व पश्चात्	46. अर्बुद, ग्रंथि	47. कुक्षीशूल	48. शोथ

49. आढ्यवात स्वेद है।

संक्षिप्त में :–

1. कुछ वातप्रधान रोग मन्यास्तम्भ, पक्षाघात आदि।
2. कुछ कफप्रधान रोग– प्रतिश्याय, कास आदि।
3. कुछ शोधन योग्य रोग व रोगी
4. कुछ शल्यकर्म योग्य– जिन्हें पहले व बाद में स्वेदन किया जाता है।

स्वेदन के अयोग्य रोग व रोगी (Not suitable for swedan)–

कषायमद्य नित्यानां गर्भिण्यां रक्तपित्तिनां। पित्तिनां सातिसाराणां रुक्षाणां मधुमेहिनां।।
विदग्ध भ्रष्ट ब्रघ्नानां विषमद्य विकारिणां। श्रांतानां नष्ट संज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनां।।
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि। कामल्युदरिणां चैव क्षतानाम आढ्यरोगिणां।।
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा। भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत्–

(च. सू. 14/16 से 19)

पांडुमेंही पित्तरक्ती क्षयार्तः क्षामोजीर्णो चोदरार्तो विषार्तः।
तृट्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योतिसारी।। (सु. चि. 32/25)

1. नित्य मद्य सेवी	2. गर्भिणी	3. रक्तपित्त रोगी	4. अतिसारी	5. मधुमेही
6. पित्त प्रकृति	7. रुक्षशरीर	8. विदग्धगुदा	9. भ्रष्ट गुदा	10. विष पिडित
11. श्रान्त	12. नष्टसंज्ञ	13. स्थूलकाय	14. पित्तमेही	15. तृषित
16. क्षुधित	17. क्रुद्ध	18. शोकग्रस्त	19. कामली	20. उदररोगी
21. उरःक्षत	22. तिमिर	23. अजीर्ण	24. कषाय पायी	25. मद्य विकारी
26. वात रक्त	27. दुर्बल	28. शुष्क देह	29. ओजः क्षयी	30. पाण्डु रोगी

स्वेदन विधि (Swedan procedure) –

यह तीन चरणों में सम्पन्न होती हैं–

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म– इसमें निम्न कर्म किए जाते हैं–

(i) आतुर परीक्षण– इसमें यह देखा जाता है कि रोगी स्वेदन के योग्य है या नहीं। फिर रोगी के दोष, देश, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वय इन अवस्थाओं का ज्ञान किया जाता है।

(ii) आवश्यक उपकरण व सामग्री – स्वेदन उपकरण (यंत्र) वातनाशक तैल, वस्त्र, ऊष्ण जल पात्र, नेत्र बंधन पट्टिका, बरतन आदि।

(iii) परिचारक (Attendent) – रोगी की सेवा सुश्रुषा, उठाने बैठाने के लिए, स्वेदन हेतु एक परिचारक की आवश्यकता होती है।

6. शाल्वणदि स्वेद में प्रयुक्त सुश्रुतोक्त वातघ्न गण–

(a) भद्रदारु, भद्र द्रव्यादि, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण आदि।

(b) विदारिगन्धादि गण – शालपर्णी, भूमिकुष्माण्ड आदि।

(c) वातघ्न स्वेदन दशमूल–

(1) गोखरु (2) सरिवन (3) पिठवन (4) छोटी कटेरी (5) बडी कटेरी
(6) बिल्व (7) गनियार (8) पाढल (9) गम्भारी (10) सोनापाठा।

स्वेदन के योग्य रोग व रोगी (Well Suited for Swedana) –

प्रतिश्यायेचकासेच हिक्का श्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्या शिरःशूले स्वरभेद गलग्रहे।।
अर्दितैकांग पक्षाघाते विनामके। कोष्ठानाह बिबंधेषु मूत्राघाते विजृंभके। पार्श्वपृष्ठकटी कुक्षी संग्रहे गृध्रसीषूच।। मूत्रकृच्छ्रे महत्वेचमुष्कयोरंग मर्दके। पादजानुरु जंघाति संग्रहे श्वयथावपि।। खल्लीष्वामेषु शीतेच वेपथौ वातकंटके। संकोचायाम शूलेषु स्तंभगौरव सुप्तिषु। सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते।।

(च. सू. 14/20-24)

येषां नस्यं विधातव्यं बास्तिश्चैव हि देहिनां। शोधनीयाश्च ये किंचित् पूर्वेस्वेद्यास्तु ते मताः। पश्चात स्वेद्यादते शाल्ये मूढगर्भा नुपद्रवाः। सम्यक् प्रजाता कालेया पश्चात्स्वेद्या विजानता।

स्वेद्यः पूर्वेच पश्चाच्च भगंवदर्यैसनस्था।

अश्मयां चातुरो जन्तुः शेषान्शास्त्रे प्रचक्ष्महे।। (सु. चि. 32/17-19)

1. प्रतिश्याय	2. कास	3. हिक्का	4. श्वास
5. अंगगौरव	6. कर्णशूल	7. मन्याशूल	8. शिरःशूल
9. स्वरभेद	10. गलग्रह	11. अर्दित	12. पार्श्वग्रह
13. मूत्राघात	14. पृष्ठग्रह	15. गृध्रसी	16. गुरुता
17. स्तम्भ	18. अंगशूल	19. एकांगवात	20. सर्वांगवात
21. पक्षाघात	22. आनाह	23. विबंध	24. जृम्भा
25. जानुशूल	26. उरुशूल	27. जंघाशूल	28. आमदोष
29. शैत्य	30. कम्पवात	31. खल्लीरोग	32. वातकंटक
33. संकोच	34. आयाम	35. गुरुता	36. सुप्तता
37. सर्वांग जाडय	38. वमनार्ह	39. विरेचनार्ह	40. बस्ति योग्य
41. नस्यार्ह	42. मूढगर्भ	43. अश्मरी पूर्व व पश्चात्	44. अर्श पूर्व व पश्चात्
45. भगन्दर पूर्व व पश्चात्	46. अर्बुद, ग्रंथि	47. कुक्षीशूल	48. शोथ
49. आढ्यवात स्वेद्य है।			

संक्षिप्त में :–

1. कुछ वातप्रधान रोग मन्यास्तम्भ, पक्षाघात आदि।
2. कुछ कफप्रधान रोग– प्रतिश्याय, कास आदि।
3. कुछ शोधन योग्य रोग व रोगी
4. कुछ शल्यकर्म योग्य– जिन्हें पहले व बाद में स्वेदन किया जाता है।

स्वेदन के अयोग्य रोग व रोगी (Not suitable for swedan)–

कषायमद्य नित्यानां गर्भिण्यां रक्तपित्तिनां। पित्तिनां सातिसाराणां रुक्षाणां मधुमेहिनां।।
विदग्ध भ्रष्ट ब्रघ्नानां विषमद्य विकारिणां। श्रांतानां नष्ट संज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनां।।
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि। कामल्युदरिणां चैव क्षतानाम आस्यरोगिणां।।
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा। भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत्–

(च. सू. 14/16 से 19)

पांडुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः क्षामोजीर्णो चोदरार्तो विषार्तः।
तृट्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योतिसारी।। (सु. चि. 32/25)

1. नित्य मद्य सेवी	2. गर्भिणी	3. रक्तपित्त रोगी	4. अतिसारी	5. मधुमेही
6. पित्त प्रकृति	7. रुक्षशरीर	8. विदग्धगुदा	9. भ्रष्ट गुदा	10. विष पिडित
11. श्रान्त	12. नष्टसंज्ञ	13. स्थूलकाय	14. पित्तमेही	15. तृषित
16. क्षुधित	17. क्रुद्ध	18. शोकग्रस्त	19. कामली	20. उदररोगी
21. उरःक्षत	22. तिमिर	23. अजीर्ण	24. कषाय पायी	25. मद्य विकारी
26. वात रक्त	27. दुर्बल	28. शुष्क देह	29. ओजः क्षयी	30. पाण्डु रोगी

स्वेदन विधि (Swedan procedure) –

यह तीन चरणों में सम्पन्न होती हैं–

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म– इसमें निम्न कर्म किए जाते हैं–

(i) आतुर परीक्षण– इसमें यह देखा जाता है कि रोगी स्वेदन के योग्य है या नहीं। फिर रोगी के दोष, देश, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वय इन अवस्थाओं का ज्ञान किया जाता है।

(ii) आवश्यक उपकरण व सामग्री – स्वेदन उपकरण (यंत्र) वातनाशक तैल, वस्त्र, ऊष्ण जल पात्र, नेत्र बंधन पट्टिका, बरतन आदि।

(iii) परिचारक (Attendent) – रोगी की सेवा सुश्रुषा, उठाने बैठाने के लिए, स्वेदन हेतु एक परिचारक की आवश्यकता होती है।

(iv) औषध व स्वेदन कर्म निर्धारण (Assesment of medicine and procedure of swedan)- रोग एवं रोगी की प्रकृति अनुसार स्वेदन विधि का चयन चिकित्सक द्वारा किया जाता है। तथा आवश्यक एवं उपद्रव में काम आने वाली औषधियों का संग्रह करना चाहिए।

(v) आहार एवं वेशभूषा (Diet and uniform) – स्वेदन कर्म से पूर्व जल या अन्य द्रव पान कराया जाता है तथा सिर पर गीला कपडा रखा जाता है एवं रोगी को न्यूनतम कपडे या लंगोट (कोपीन) पहनने का निर्देश देते हैं।

(vi) मनोबल बढाना– स्वेदन के समय कई बार रोगी डर जाता है अतः उसका मधुर वचनों द्वारा मनोबल बढाया जाता है।

रोगी का तापक्रम, वजन, रक्तचाप, नाडी गति, श्वसन गति तथा चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र आदि को सूचीबद्ध किया जाता है।

2. प्रधान कर्म (Main opreative procedure) – रोगी की अवस्थानुसार जिस स्वेदन विधि का चयन किया जाता है वह प्रधान कर्म में आता है।

निरीक्षण– स्वेदनकाल में निरीक्षण का बहुत महत्व होता है। निरीक्षण में स्वेदन समय, सम्यक् स्विन्नादि लक्षण तथा उपद्रवादि का सतत् निरीक्षण किया जाता है।

प्रत्येक स्वेद में निर्देशानुसार विशिष्ट समय तक स्वेदन किया जा रहा है या नहीं इसका ध्यान रखा जाता है। यदि रोगी को आँखों में जलन या बैचेनी होती है तो उसकी आँख पर कमल आदि शीतल पुष्प या शीतल पट्टी बांधनी चाहिए।

रोगी में स्वेद प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर सम्यक् स्विन्न लक्षणों की परीक्षा कर प्रक्रिया की निवृत्ति (समाप्ति) की जाती है।

स्वेदन का विश्लेषण (Analysis of Swedan) – स्वेद के सम्यक् लक्षण लगभग 5 से 15 मिनट के मध्य रोगी की अवस्थानुसार मिल जाते हैं।

(b) हीन योग होने पर– यदि स्वेदन के हीन योग के लक्षण उत्पन्न होते हैं तो पुनः स्वेदन किया जाता है।

(c) अतियोग होने पर– ग्रीष्म ऋतु में वर्णित आहार-विहार स्वेदन कर्म को रोक दिया जाता है तथा रोगी को विश्राम कराया जाता है। तथा अत्यधिक पसीना आने के कारण रोगी के शरीर में जल की कमी (Dehydration) हो जाती है जिसकी पूर्ति के लिए अत्यधिक जल या औषध द्रव का पान करवाया जाता है। जैसे-ORS, ग्लूकोस (मुख द्वारा शिरा द्वारा) (Intraveinous infusion) जिससे Electrolytes balance किया जा सके।

3. पश्चात् कर्म (Post operative procedure)– यह निम्न क्रमों में सम्पन्न होता है-

(i) रोगी खुली हवा का सम्पर्क, ठण्डे जल का सम्पर्क न करें इसका निर्देश दिया जाता है।

(ii) गरम पानी से शरीर का स्पंजिंग कर स्वेद शरीर से हटाया जाता है।

(iii) आतुर को विश्राम करवाया जाता है।

(iv) कुछ समय पश्चात् गरम पानी से स्नान करवाया जाता है।

(v) रोगी को आहार में द्रव, लघु, अनाभिष्यंदी भोजन देकर वातरहित वातावरण में रखा जाता है।

(vii) यदि कोई उपद्रव जैसे जलाल्पता (Dehydration) मूर्च्छा (Fainting) दाह, जलना, तन्द्रा, उत्क्लेश दिखाई दे तो तुरन्त आत्ययिक चिकित्सा (Emergency management) करे।

स्वेदन के भेद (Types of Swedana) –

विभिन्न आचार्यों के मतानुसार (According to different Acharyas)

आचार्य चरकानुसार (According to Charak)–

साग्नि स्वेद – 13 भेद

निराग्नि स्वेद – 10 भेद

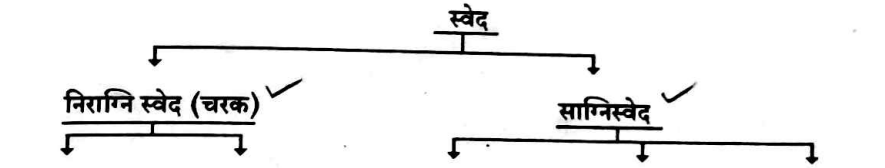

1. व्यायाम	ताप स्वेद	उपनाह	उष्म स्वेद	द्रव स्वेद
2. उष्ण सदन	1. पाणि (हाथ)	(1) बधंन	(1) द्रव में उष्ण पिण्ड डालकर	(1) परिषेक
3. गुरु प्रावरण	2. कांस्य (कास्य पात्र)	(2) प्रदेह	(2) भू	(2) अवगाह
4. क्षुधा	3. कन्दुक (लोहे को कढाही)	(3) पोट्टली	(3) अश्म स्वेद	
5. बहुपान	4. कपाल (मिट्टी का ठीकरा)		(4) कुटी	
6. भय	5. बालुका		(5) प्रस्तर	
7. क्रोध	6. वस्त्र		(6) कुम्भी	
8. उपनाह	7. अंगारो द्वारा		(7) सकंर	
9. आहव				
10. आतप				

साग्नि स्वेद (Sagni Sweda according to Charak) –13

संकरः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मधनः कूर्षः कुटी भूः कुम्भिकैव च।।

कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदशः।। (च. सू. 14/39-40)

1. संकर	2. प्रस्तर	3. नाडी	4. परिषेक	5. अवगाहन
6. जेन्ताक	7. अश्मघन	8. कूर्ष	9. कुटी	10. भू
11. कुम्भी	12. कूप	13. होलाक		

निराग्नि स्वेद (Niragni Sweda according to Charak) –10

व्यायाम उष्ण सदनं च गुरुप्रावरणं क्षुधा।
बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः।। (च. सू. 14/64)

1. व्यायाम 2. ऊष्णसदन 3. गुरुप्रावरण 4. क्षुधा 5. बहुपान
6. भय 7. क्रोध 8. उपनाह 9. आहव 10. आतप

आचार्य सुश्रुत व वाग्भट्टानुसार (According to Sushruta and Vagbhatta) – 4 भेद

चतुर्विधः स्वेदः तद्यथा–

तापस्वेदः ऊष्मस्वेदः उपनाह स्वेदो द्रवस्वेद इति।

अत्र सर्वस्वेद विकल्पावरोधः। (सु. चि. 32/3)

तथा स्वेदस्तापोपनाहोष्मा द्रवभेदाच्चतुर्विधः। (अ. हृ. सू. 17/1)

डल्हण– तापनं तापः, उष्मा वाष्पः उपनाह्यते इत्युपनाहो बंधन–मित्यर्थः द्रवतीति द्रवः।।

तत्र तापस्वेदे कंदुक ग्रहणादेव जेतांक कर्षु कुटी कूप होलाक इत्येताः पंचैव अंतर्भवंति।

उष्मस्वेदे संकर प्रस्तराश्मघन नाडी कुंभी भू स्वेदाः षडप्यंतर्भवंति। द्रवस्वेदे परिषेकावगाहावंतर्भवतः।

(सु. चि. 32/3 पर

1. ताप स्वेद 2. उपनाह स्वेद 3. ऊष्म स्वेद 4. द्रव स्वेद

आचार्य काश्यपानुसार भेद (According to Kashyapa) – 8

जन्मप्रभृति बालानां स्वेदमष्टविधं हितम्। प्रयुंजीत यथाकालं रोगदेह व्यपेक्षया।।
हस्तस्वेदः प्रदेहश्च नाडीप्रस्तर संकरा। उपनाहोऽवगाहश्च परिषेकस्तथाष्टमः।।

(का. सू. 23/25-26

1. हस्त स्वेद 2. प्रदेह स्वेद 3. नाडी स्वेद 4. प्रस्तर स्वेद
5. संकर स्वेद 6. उपनाह स्वेद 7. अवगाह स्वेद 8. परिषेक स्वेद

गुणानुसार स्वेद के भेद (Types of Swedan-according to their properties) – 3

स्वेदन

1. स्निग्ध स्वेद 2. रूक्ष स्वेद 3. स्निग्ध रूक्ष स्वेद

बलानुसार स्वेद के भेद –3 (रोग व शरीर के बलानुसार एवं कालानुसार)

1. महान स्वेद 2. मध्यम स्वेद 3. मृदु स्वेद

द्वन्द्वज भेद से–

एकांगः सर्वांगगतः, स्निग्धोरुक्षस्तथैव च।।
इत्येतं द्विविधं द्वंद्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितं।। (च. सू. 14/66)

--------द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते।।
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा।। (सु. चि. 32/16)

अग्नि अनुसार	गुण अनुसार	स्थान अनुसार	कर्म अनुसार	बाह्य आभ्यांतर अनुसार
साग्नि	स्निग्ध स्वेद	एकांग स्वेद	संशमनीय स्वेद	बाह्य स्वेद
निराग्नि	रूक्ष स्वेद	सर्वांग स्वेद	शोधनीय स्वेद	आभ्यांतर स्वेद

उपनाह–साग्नि व निरग्नि दोनों प्रकार के अन्तर्गत आता है।

स्वेदन की विभिन्न विधियाँ (Various methods of Swedan)

(A) साग्नि स्वेदन की विधियाँ (Methods of thermal sudation)

1. संकर स्वेद (Mixed fomentation) –

तत्रवस्त्रांतरितैरवस्त्रांतरितैर्वा पिंडैर्यथोक्तैरुपस्वेदनम् संकर स्वेद इति विद्यात्।। (च. सू. 14/41)

च. पा.– पिंडैर्यथोक्तैरिति तिलमाषादि पिंडै तथा गोखरादि ग्रंथोक्त संपुटकरूपैश्च पिंडः स्वेदनमेवोपस्वेदनम्।।

परिचय– स्वेदन द्रव्यों (तिल, उडद, कुलथी, मांस आदि) को कूट पीसकर पोट्टली बनाकर, सुखोष्ण करके जो स्वेदन किया जाता है उसे संकर स्वेद कहते हैं।

संकर अर्थात् मिश्रण अर्थात् दो या अधिक द्रव्यों के सम्मिश्रण से बना। अर्थात् इसमें द्रव्यों को मिलाकर उन्हें पिण्डाकार बनाकर स्वेदन किया जाता है। पिण्ड बनाने के कारण इसे पिण्ड स्वेद भी कहा जाता है। इससे शरीर में साक्षात् (सीधे) ताप पहुँचाया जाने के कारण इसे ताप स्वेद भी कहा जाता है।

संकर स्वेद के दो भेद –

(1) स्निग्ध स्वेद (2) रुक्ष स्वेद

1. स्निग्ध संकर स्वेद– तिल, उडद, चावल आदि को पायस (खीर), मांस, मांसरस तथा अम्लवर्ग के द्रव्यों के साथ पकाकर पोटली बनाते हैं फिर उस पोटली को ऊष्ण पायस, दूध या मांसरस में डुबोकर स्वेदन किया जाता है।

इस प्रकार के स्वेदन का प्रयोग वात व्याधि या वात प्रधान रोगों में किया जाता है।

2. रूक्ष संकर स्वेद – गाय, बकरी, घोडा, गधा आदि के सूखे पुरीष, लोहे के पिण्ड, धूल, बालू आदि की पोटली से गरम–गरम स्वेदन करना रूक्ष संकर स्वेद कहलाता है।

बालुका स्वेद – यह एक प्रकार का रूक्ष संकर स्वेद है। इसका प्रयोग आमदोष, ऊरुस्तम्भ, मेदोरोग, ग्रंथि, कफज विकार और सशोथ शूल में होता है।

विधि– स्वच्छ नदी की बालु लेते हैं जिसमें कंकड पत्थर नहीं हो तथा जो बालु न तो अति सूक्ष्म हो न ही मोटे दानें वाली हो। उस बालुका को लेकर लोहे या मिट्टी की कडाई में गरम कर लेते हैं तथा उस बालु को लेकर पोटली बना लेते हैं। उस सुखोष्ण पोटली को अंगों पर स्वेदन किया जाता है।

बालुका की तरह ही लवण (मोटा-डली वाला नमक) द्वारा स्वेदन करते हैं जिसे लवण पोट्टली स्वेद कहते है। संधियों पर वर्तुलाकार और लम्बे अंगों पर दीर्घाकार स्वेदन किया जाता है। 5–10 मिनट के अंतर पर पोटली के ठण्डा होने पर पोटली बदल कर गरम कर लिया जाता है। प्रतिदिन 20–40 मिनट तक स्वेदन करके रोगी को अल उष्ण, निवात तथा वस्त्र द्वारा ओढाकर रखा जाता है।

2. प्रस्तर स्वेद (Hot bed Sudation) –

शूक शमी धान्य पुलाकानां वेशवार पायस कृशरौत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तर प्रच्छदे पंचांगुलोरुषुकाकं पत्रप्रच्छेद वा स्वभ्यक्त सर्वगात्रस्याशयनस्योपस्वेदन प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्।।

(च. सू. 14/42)

प्रधान वस्तु– पुरुष के सोने योग्य एक पत्थर की चौकी जो लगभग 6 फुट लम्बी, 2½ फुट चौडी तथा 2 फुट ऊँची हो।

सहायक द्रव्य – शूकधान्य (चावल, गेहूं), शमीधान्य (उडद, मूंग, चना), वेशवार (निरस्थि मांस) खीर व खिचडी जो लगभग सभी मिलाकर 5 किलोग्राम हो।

विधि– फिर उस चौकी पर शूकधान्य (चांवल, गेहूँ, यव आदि) शमीधान्य (उड़द, मूंग, चना, कुलथी आदि) क्षुद्रधान्य (हंगुनी, चीना, सांवा, कोदो) इनकी खिचडी अथवा वेशवार (निरस्थि मांस) खीर या तिल, माष और चांवल की खिचडी अथवा इन द्रव्यों को पकाकर गरम गरम मोटी परत के रूप में पत्थर की चौकी पर फैला देते हैं फिर उसके ऊपर ऊन या रेशम की चादर या रक्त ऐरण्ड के पत्ते या अर्क के पत्ते बिछाकर उस पर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए रोगी को सुला देते हैं फिर उस रोगी के ऊपर ऊन या रेशम की चादर या वात नाशक पत्ते जैसे एरण्ड या अर्क से ढक दिया जाता है। इस प्रकार इस विधि से सम्पूर्ण शरीर का एक साथ स्वेदन हो जाता है।

उपयोग– पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, श्रोणिशूल, कटिशूल, गृध्रसी, खल्ली रोग में यह प्रस्तर स्वेद लाभकारी होता है।

3. नाडी स्वेद (Steam kettle Sudation)

स्वेदन द्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्र शृंगादीना मृग शकुनि पिशित शिरः पदादीनां उष्ण स्वभावानां वा यथार्हमम्ललवण स्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुंभ्यां वाष्पमनुद्वमंत्यामुक्त्वाथितानां नाड्या शरेषिकावंशदल करंजार्क पत्रान्यतम कृतया गजाग्रहस्त संस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्ध दीर्घया वा व्याम चतुर्भागाष्ट भागमूल मूलाग्रपरिणाह स्रोतसा सर्वतो वातहर संवृतछिद्रया द्विस्त्रर्या विनामितया वातहर सिद्ध स्नेहाभ्यक्त गात्रो वाष्पमुपहरेत् वाष्पोद्धनृ गूगामी विहत चंडवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाड़ी स्वेदः।। (च. सू. 14/43)

क्वाथ द्रव्य – (1) सहिजन, (2) एरण्ड, (3) मदार, (4) श्वेत पुनर्नवा (5) रक्त पुनर्नवा (6) यव, (7) तिल, (8) कुलथी, (9) उडद, (10) बेर इन द्रव्यों के मूल, पत्र, शुङ्ग तथा ऊष्ण स्वभाव वाले हिरण आदि पशुओं तथा पक्षियों के शिर, पैर आदि का मांस रोगानुसार अम्ल, लवण, तैल, मूत्र, दूध आदि द्रव्य पदार्थों को क्वाथ बनाने में प्रयोग किया जाता है।

सामान्यतः नाडी स्वेदन हेतु दशमूल का क्वाथ प्रयोग में लेते हैं।

प्रधान वस्तु– घट तथा नली (नाडी)। वर्त्तमान में कूकर या आटो क्लेव का प्रयोग करते हैं।

घट– यह क्वाथ निर्माण हेतु लिया जाता है यह ढक्कनदार लेना चाहिए जिससे वाष्प क्वाथ बनाते समय बाहर नहीं निकल पाए। इस घट के पार्श्व में एक छिद्र होना चाहिए जिससे छिद्र में नली (नाडी) को जोडा जा सके।

नाडी/नली नली बनाने हेतु खोखले नरसर या सींक या बांस की नली, करंज पत्र या अर्क पत्र का प्रयोग किया जाता है। नली की लम्बाई एक व्याम (लगभग 6 फुट) होती है।

वाष्प के वेग को रोकने के लिए नली 3 स्थानों से मुड़ी हुई होती है। नली का घट से जोडने वाला छोर (18 इंच) चौडा तथा दूसरा छोर 9 इंच चौडा होना चाहिए। यह नली हाथी की सूंड के समान उतार चढ़ाव वाली होती है। नली छिद्र रहित होनी चाहिए। आजकल इस हेतु रबड की नली या गैस पाइप का प्रयोग करते हैं।

विधि– उक्त क्वाथ द्रव्यों को लेकर उचित अनुपात में घट में क्वाथ बना लिया जाता है। परन्तु सीधे क्वाथ द्रव्य डालने पर यदि कूकर या आटोक्लेव का प्रयोग करते है तो उनके छिद्र बंद होकर उनके फटने की सम्भावना होती है अतः क्वाथ द्रव्य को एक पोट्टली में बाँधकर कूकर आदि में डालना चाहिए जिससे दुर्घटना होने की सभावना न हो। जब क्वाथ से वाष्प निकलने लगे तब नली से पिडित अंग पर रुग्ण व्यक्ति का स्वेदन किया जाता है। स्वेदन से पूर्व उक्त रोगी को वातनाशक तैल से अभ्यंग करा लेना चाहिए।

समयावधि – प्रतिदिन 10 से 15 मिनट अथवा सम्यक् स्वेदन होने तक और कम से कम 7, 14 या 21 दिन तक रोग की अवस्थानुसार करना चाहिए।

प्रयोग – गृध्रसी, पृष्ठशूल, कटिशूल, पक्षाघात, अंगमर्द, संकोच, मांसगत वातविकार में लाभकारी।

4. परिषेक स्वेद (Affusion Sudation) –

वातिकोत्तर वातिकानां पुनर्मूलादीनां उत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुंभीर्वघुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्ह सिद्ध स्नेहाभ्यक्तं गात्रं वस्त्रादच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः।। (च. सू. 14/44)

परिचय– वातघ्न या वातकफघ्न औषधों के क्वाथ से शरीर पर धारा गिराना परिषेक कहलाता है।

विधि– रोगानुसार औषध सिद्ध तैल से रोगी के शरीर का अभ्यंग कराकर रोगी की हल्की चादर से ढक दिया जाता है फिर नाडी स्वेद में प्रयुक्त द्रव्यों के मूल, पत्र आदि का क्वाथ बना लेते हैं। उस क्वाथ को छोटे कुंभ, सुराही, वर्षुलिका या फूल सींचने वाले पात्र में भरकर फव्वारे के समान शरीर पर गिराकर यह स्वेदन किया जाता है।

इसमें क्वाथ के स्थान पर तैल, घृत, दुग्ध आदि की सुखोष्ण धारा से भी यह स्वेदन किया जा सकता है। इसमें द्रव को 12 अंगुल की ऊँचाई से शरीर पर गिराया जाता है।

समयावधि– ½ से 1 घण्टे तक

उपयोग – गुल्म, आनाह, तूनी, प्रतितूनी, शूल, उदावर्त, अष्ठीला, आध्मान में एकांग स्वेद किया जाता है।

5. अवगाहन स्वेद (Tub-bath Sudation)

वातहरोक्वाथ क्षीर तैल घृतपिशित रसोष्ण सलिल कोष्ठकावगाहस्तु

यथोक्त एव अवगाह।। (च. सू. 14/45)

परिचय– अवगाह का अर्थ "मज्जन" करना होता है। अर्थात् शरीर का आधा भाग (कटि प्रदेश) जल, क्वाथ या स्नेह में डुबा होता है।

आवश्यक सामग्री–दशमूल क्वाथ, निर्गुण्डी क्वाथ, बलादि क्वाथ आदि एरण्ड मूल सिद्ध जल, वातहर द्रव्य सिद्ध तैल, घृत, मांसरस या ऊष्ण जल।

विधि– क्वाथ द्रव्य या घृत, तैल या ऊष्ण जल को टब या द्रोणी में भरा जाता है फिर उस द्रोणी/टब में वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को बिठाकर या सुलाकर अंगों पर ऊष्ण जल या क्वाथ आदि से (सिंचन) छिडकाव कर यह स्वेदन किया जाता है।

उपयोग – अश्मरी शूल, कटिशूल, पृष्ठशूल, गृध्रसी, संधिवात आदि में।

अवधि – ½ से 1 घण्टा

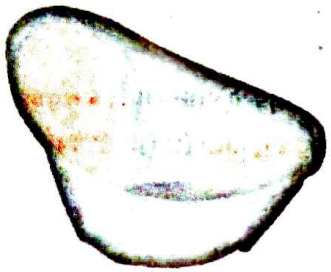

(अवगाहन टब)

अवगाहन स्वेद– (क्वाथ द्वारा)

अवगाहन स्वेद– विशेषकर कटि भाग (जल द्वारा)

6. जेन्ताक स्वेद (Sudatorium Sudation) –

अथजेंताकं चिकीर्षुभूमिं परीक्षेत।– तत्र पूर्वस्यां दिशि उत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवाप पुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्त भूमिभागे, समाष्टौ वा अरत्नी रुपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखं उदङ्मुखं वाभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्। उत्सेधविस्तारतः परमरत्निः षाडश, समंतात् सुवृत्तं मृत्कर्मसंपन्नं अनेकवातायनम्, अस्य कूटागारस्यान्तः, समंततोभित्तिमरात्निं विस्तारोत्सेधां पिडकां कारयेत् आकपाटात्। मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कु मात्रम् पुरुष प्रमाणे मृण्मयं कंदुकसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रं अंगारकोष्ठकस्तंभं सपिधानं कारयेत्। तंच खदिराणामाश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्। स यदा जानीयात् साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमानि, अवतप्तंव केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा योग्यमिति तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्। प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्, 'सौम्य, प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति। प्रविश्यचैनां पिडिकामधिरुह्य पार्श्वापर पार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः। न च त्वया स्वेद मूर्च्छा परीतेनापि सता पिंडिकैषा विमोक्तव्या ऽऽ प्राणोच्छवासात्। भ्रश्यमानौ ह्यतः पिंडिकाव– काशात् द्वारमनधिगच्छन् स्वेद मूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणान्–जह्याः। तस्मात् पिंडिकामेनां न कथंचन मुञ्चेथाः। त्वं यदा जानीथाः– विगनाभिभिष्यदमात्मानं सम्यकसुतस्वेदपिच्छिं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघुभूतमपगत विबंधस्तंभसुप्तिवेदनमिति, ततस्ता पिंडिकामनु सरन् द्वारं प्रपद्येथाः। निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषो: परिपालनार्थ शीतोदकमु–पस्पृशेथाः। अपगत संताप क्लमस्तु मुहुर्तासुखाष्णेन वारिणा परिषेकोऽश्नीयाः इति जेन्ताकस्वेदः।। (च. सू. 14/46)

परिचय – स्वेदुनं हेतु एक वर्तुलाकार (गोलाकार) कमरे के बीच चिमनी बनाकर उसमें निर्धूम अग्नि प्रज्ज्वलित कर कमरे को गर्म कर तब रोगी को प्रविष्ट करवाया जाता है यह एक विशिष्ट प्रकार की स्वेदन विधि है। उस कमरे को कूटागार तथा स्वेदन को जेन्ताक स्वेद कहते हैं।

आवश्यक उपकरण – कूटागार, अंगारकोष्टक (भट्टी)

कूटागार – कूटागार बनाने के लिए सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा की जाती है।

(1) दिशा– कूटागार आबादी के पूरब या उत्तर दिशा में

(2) मिट्टी– जहाँ की मिट्टी उत्तम हो, काली हो या सुनहरी हों तथा निकट में बावडी पोखर या जलाशय हो उस भूमि में कूटागार बनाना चाहिए। जलाशय के दक्षिण या पश्चिम की ओर जहाँ उत्तम आरामदेह सीढ़िया बनी हो, भूमि समतल हो तथा जल से 10–12 फीट की दूरी पर पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जलाशयाभिमुख द्वार वाला गोल कमरा बनाते हैं।

(3) माप–उस कमरे का व्यास 16 हाथ हो ओर ऊँचाई भी 16 हाथ हो। कूटागार की दिवार मिट्टी से लिपी–पुती हो। सभी दिशाओं में दिवार में छोटे–छोटे रोशनदान या वातायन हो। कूटागार की भीतरी दिवार से सटे 1½ फुट चौडी 1½ फुट ऊँची पट्टी बनाएं, जो चारों ओर हो पर दरवाजे पर न हों। यह पट्टी या चबुतरा रोगी के सोने के लिए बनायी जाती हैं।

अंगारकोष्ठक (भट्टी)– कूटागार के एकदम बीच में एक अङ्गारकोष्ठक स्तम्भ (तन्दूर या भट्ठी) बनाएँ। यह 4½ हाथ व्यास का तथा 3 हाथ ऊँचा हो। इसी दिवार में वायु के प्रवेश हेतु बहुत से छिद्र हो और इसके ऊपर ढक्कन हो। इसमें खैर, पलाश आदि की सुखी लकड़ी डालकर जलाया जाता है। जब अग्नि निर्धूम हो जाए तथा कूटागार पूरा गरम हो जाए तब रोगी को उसमें प्रवेश कराया जाता है।

विधि– रोगी को वातहर तैल से अभ्यंग कराकर चादर ओढाकर कूटागार में प्रवेश करवाया जाता है और उसे उपदेश दिया जाता है कि हे सोम्य! तुम अपने रोग की मुक्ति और अपने कल्याण के लिए इस कूटागार में प्रवेश करो। भीतर प्रविष्ट होकर दीवार से सलग्न चबूतरे पर करवट बदल-बदल कर सुखपूर्वक सोना। स्वेद से मूर्च्छा होने पर भी चबूतरा मत छोड़ना नहीं तो द्वार का पता न चलने पर शीघ्र ही प्राण त्याग दोगे। अतः किसी भी परिस्थिति में चबूतरा मत छोड़ना।

जब यह प्रतीत हो कि सम्यक् स्वेदन हो गया है शरीर हल्का हो गया है स्तब्धता, भारीपन, शून्यता, वेदना का नाश हो गया है तब चबूतरे के सहारे द्वार पर आकर बाहर निकल जाना।

बाहर निकलने पर रोगी की आँखों की रक्षा हेतु तुरन्त ठण्डे जल का प्रयोग नहीं किया जाता अपितु 1 मुहूर्त (48 मिनट) बाद सुखोष्ण जल से स्नान कराना चाहिए। उसके पश्चात् भोजन करना चाहिए।

7. अश्मघन स्वेद (Stone bed Sudation) –

शयानस्य प्रमाणेन घनाश्ममयीं शिलाम्। तापयित्वा मारुतघ्नैः दारुभिः संप्रदीपितैः।।

व्यपोह्य सर्वानंगारान् प्रोक्ष्य चैवोष्ण वारिणा। तां शिलामय कुर्वीत कौषेयाविक संस्तराम्।।

तस्यां स्वभ्यक्त सर्वांगः स्वपन् स्विद्याति नासुखं। कौरवाजिन कौषेय प्रावाराद्यैः सुसंवृतः।।

(च. सू. 14/48)

इत्युक्तो अश्मघ्नः स्वेदः.....। कषुः आभ्यंतरविस्तीर्णोऽल्पमुखौ गर्तः।। (च. पा.)

पुरुष के सोने योग्य लम्बी (6 फुट तथा 2½ फुट चौडी) दृढ समतल पत्थर की एक शिला लेते हैं। उस पर वातनाशक देवदारु, दशमूल आदि काष्ठ लेकर जलाते हैं जब शिला गरम हो जाती है तब आग हटाकर उसे ऊष्ण जल से धो देते हैं। फिर शिला का पानी सुखाकर उस पर ऊनी या रेशमी चादर बिछा देते हैं। फिर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुये रोगी को उस पर लिटा दिया जाता है तथा ऊपर से उसे ऊनी चादर या रेशमी चादर या कम्बल से ढक दिया जाता है। इस प्रकार सुख पूर्वक उसका स्वेदन हो जाता है।

अश्मधन व प्रस्तर स्वेद में अंतर – यह स्वेदन प्रस्तर स्वेद जैसा ही है। परन्तु अन्तर इतना ही है कि इसमें शिला पर वातनाशक काष्ठ जलाकर स्वेदन किया जाता है जो एक प्रकार का रुक्ष स्वेद है और प्रस्तर स्वेद में शिला पर धान्य आदि पकाकर शिला पर बिछाते हैं फिर रोगी को सुलाकर स्वेदन किया जाता है। प्रस्तर स्वेद एक प्रकार का स्निग्ध स्वेद है।

8. कर्षू स्वेद (Trench Sudation) –

..... कर्षु स्वेदः प्रवक्ष्यते। खानयेच्छयनस्याधः कर्षू स्थानविभागवित्।।

दीप्ततैरधूमैरंगारैस्ता कर्षू पूरयेत्ततः। तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्।।

(च. सू. 14/50-51)

कर्षू ऐसे गर्त (गड्ढा) को कहते हैं तो भीतर से विस्तृत हो और मुख कम चौडा हो। इस प्रकार के गर्त में वातनाशक देवदारु आदि के अंगारे भर दें और उसके ऊपर चारपाई बिछा दें।

उस पर एरण्डपत्र, धतूरपत्र, मदार पत्र बिछा दें फिर चारपाई पर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को लिटाकर चादर से ढक कर स्वेदन करना कर्षू स्वेद कहलाता है।

9. कुटी स्वेद (Cabin Sudation)-

अनत्युत्सेध विस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम। घनभित्तिं कुटिं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत्।।

कुटीमध्ये भिषग् शय्यां स्वास्तोर्णामुपकल्पयेत्। प्राव राजिन कौषेय कुथ कंबल गोलकैः।।

हसंतिकाभिरंगार पूर्णाभिस्तां च सर्वशः। परिवार्यातरा रोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम्।।

(च. सू. 14/52 से 54)

एक ऐसा छोटा कमरा जो न तो अधिक चौडा हो और न ही अधिक ऊँचा हो, गोलाकार हो तथा उसमें रोशनदान या कोई भी छिद्र न हो। (जैसे अन्न या भूसा भण्डारण के लिए बनाते है) उस कमरे की दिवारे मोटी हो और भीतर से कूठ आदि ऊष्ण औषधियों के कल्क से लेपन किया गया हो।

फिर इस प्रकार के कमरे में चारपाई बिछाकर उस पर ऊनी चादर या रेशमी चादर या कम्बल बिछा देते हैं। उस चारपाई पर अभ्यंग किए हुए रोगी पुरुष को लिटा दें। और उसे ऊनी चादर या कम्बल से ढक दें। फिर धूम रहित जलते अंगारों से युक्त अँगीठियाँ उस चारपाई के चारों तरफ रखें। इस प्रकार जो सुखपूर्वक स्वेदन किया जाता है वह कुटी स्वेद है।

कुटी व जेन्ताक स्वेद में अन्तर– यह जेन्ताक स्वेद का विलोम है। इसमें रोगी के चारों तरफ अंगीठियाँ रखकर स्वेदन होता है और जेन्ताक स्वेद में बीच में अङ्गारकोष्ठक होता है तथा रोगी दिवार के चबूतरे पर घूम-घूम कर स्वेदित होता है।

10. भू-स्वेद (Ground bed Sudation)-

य एवाश्मघ्नः स्वेदः विधिर्भूमौ स एव तु।

प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते।। (च. सू. 14/55)

भू अर्थात् भूमि पर स्वेद करना।

अश्मघन स्वेद विधि को भूमि पर करना भू-स्वेद कहा जाता है।

निवात, प्रशस्त और समतल भूमि पर देवदारु आदि वाताघ्न काष्ठ जलाकर उस पर पानी के छीटें डालकर बुझा दें तथा राख को हटाकर साफ कर देते हैं और उस पर ऊनी चादर बिछाकर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को लिटाते हैं तथा उसे ऊनी चादर या कम्बल से ढक देते हैं। इस प्रकार का स्वेदन भू स्वेद कहलाता है।

11. कुम्भी स्वेद (Pitcher bed Sudation)-

कुंभी वातहर क्वाथ पूर्णां भूमौ निखानयेत्। अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि।।

स्थापयेदासनं वापि नातिसार्द्र परिच्छदम्। अथ कुंभ्यां सुसंतप्तान् प्राक्षिपेदयसो गुडान्।।

पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति नासुखं। सुसंवृतांगः स्वभ्यक्तः स्नेहैरतिलनाशनैः।।

(च. सू. 14/56 से 58)

वातनाशक औषधों के क्वाथ को सम्पूर्ण भरी हुई एक हाण्डी या मटकी को लेकर उसका आधा या तिहाई भाग तक जमीन में गाढ दें। फिर उसके ऊपर एक चारपाई बिछा दें या कुर्सी का भी प्रयोग कर सकते है और चारपाई के ऊपर ऊनी चादर या रेशमी चादर को बिछा दें। फिर अभ्यंग किए हुए रोगी पुरुष को उस चारपाई पर लिटा दें तथा उसे ऊपर से ऊनी चादर से ढक दें। फिर लोहे के गोले या पत्थर के टुकडो को आग में तपाकर उस हण्डी/मटकी में डालते जाएँ। जिससे वाष्प उत्पन्न होती है इस वाष्प द्वारा स्वेदन होना कुम्भी स्वेद कहलाता है।

सावधानी :- चारपाई या कुर्सी पर चादर इस प्रकार बिछानी चाहिये जिससे वह जमीन को चारो ओर से छू ले अन्यथा उत्पन्न वाष्प एकत्रित नहीं हो पाएगी।

12. कूप स्वेद (Pit Sudation)-

कुपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः। देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम्॥

हस्त्यश्वगो खरोष्ट्रानां पुरीषैर्दग्ध पूरिते। स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभक्तः स्विद्यति नासुखं॥

(च. सू. 14/59-6

कूप का अर्थ होता है कुआं

यह एक प्रकार का रुक्ष स्वेद है।

निवात समतल और प्रशस्त स्थान में चारपाई की लम्बाई-चौडाई के अनुसार लम्बा, चौडा तथा गहराई लम्बाई से दुगना गहरा कुआँ खुदवाएँ (6 फुट लम्बा 2½ फुट चौडा 12 फुट गहरा) फिर इसकी भीतरी भाग की दिवा की वातनाशक औषधियों का लेप करे। फिर इस कुएँ में हाथी, घोड़ा, गाय, खर, ऊँट के सुखे पुरीष को डालका कर दें। जब कुआँ निर्धूम हो जाए तब चारपाई बिछाकर उसके ऊपर ऊनी चादर या कम्बल बिछाकर अभ्यंग किए हुए रु को लिटा दें तथा उसे चादर से ढ़क दें। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है इसे कूप स्वेद कहते हैं।

कर्षू व कूप स्वेद के भेद :-

	कर्षू स्वेद		कूप स्वेद
1.	इसमें गढे का भीतरी भाग बडा और ऊपर से पतला होता है।	1.	इसमें गर्त का ऊपरी भाग अधिक खुला रहता है।
2.	इसमें काष्ठ की अग्नि जलती है और देर तक ताप रहता है।	2.	पशुओं का पुरीष जलाते हैं जो जल्दी ही बुझ जाता है जिससे ताप कुछ समय तक ही रहता है।
3.	अधिक समय तक आँच रहने से उत्तम स्वेद है।	3.	यह अल्पस्थायी तथा ज्यादा ऊष्णता वाला स्वेद है।
		4.	यह रूक्ष स्वेद है।

13. होलाक स्वेद (Under bed sudation)-

धीतिकांतु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत्। शयनान्तः प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च॥

सुदग्धायां विद्युतायां यथोक्तामुपकल्पयेत्। स्ववच्छन्नः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखं॥

चारपाई के नीचे रखने लायक (लगभग 5 फुट लम्बी 2 फुट चौडी) एक अंगीठी तैयार करें या 4 छोटी अंगीठी जो चारपाई के नीचे समानान्तर रखी जा सके। फिर उसमें हाथी, घोड़े आदि के सूखे हुए पुरीष को भरकर आग लगा दें। निर्धूम हो जाने पर वातनाशक तैल से अभ्यंग किए हुए रोगी को चारपाई पर लिटाकर ऊपर से चादर से ढक दें।

इस प्रकार के सुखपूर्वक स्वेदन को होलाक स्वेदन कहते हैं।

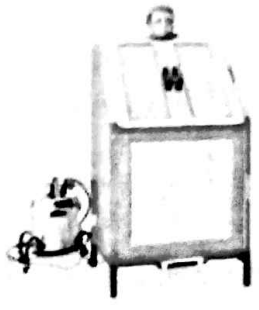

स्वेदन यंत्र (बिठाकर)

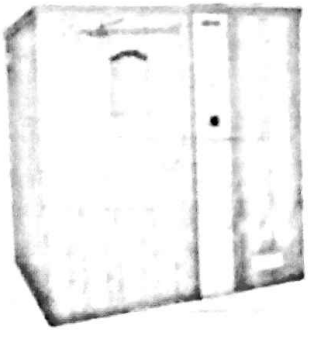

(सोना बाथ चैम्बर)

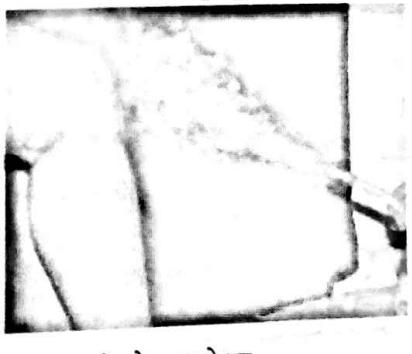

नाड़ी स्वेदन करते हुए

नाडी स्वेदन यंत्र

नाडी स्वेदन

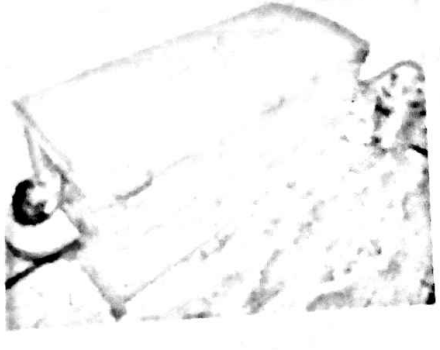

स्वेदन यंत्र (लिटाकर)

(B) निराग्नि स्वेदन की विधियाँ (Non-Thermal Sudation methods)

निराग्नि स्वेद – 10 (चरकानुसार)

1. व्यायाम (Excerise) –

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। (सु. चि. 24/38)

शरीर को थका देने वाला श्रम व्यायाम कहलाता है।

ललाट पर पसीना आने तक व्यायाम करना चाहिए। स्थौल्य दूर करने के लिए व्यायाम सर्वोत्तम चिकित्सा है।

2. ऊष्णसदन (Warm rooms) –

उष्ण सदनं इत्याग्निसंताप व्यतिरेकेण निर्जालकतया घनभित्तितया यद् गृहं स्वेदयति, तत् बोद्धव्यम्।। (च. पा. च. सू. 14/64 पर)

अर्थात् उस गरम घर से है जो बिना अग्नि संयोग के ही गर्म हो। इस घर की दीवार मोटी हो, प्रवेश हेतु एक ही द्वार हो तथा कोई झरोखा नहीं होता।

3. गुरुप्रावरण (Heavy clothing) – गर्म रजाई या मोटा कम्बल ओढना। इससे स्वेदन हो जाता है।

4. भूख (Hunger) – भूख लगने पर भोजन न करने से स्वेदन होता है।

5. बहुपान (Excessive drinking) –

बहुपानं इति बहुमद्यपानम्।। (च. पा. च. सू. 14/64 पर)

अधिक मात्रा में पेय पदार्थ जैसे सुप या मदिरा पान करने से स्वेदन होता है।

6. भय (Fear) – भय से पैरासिम्पैथैटिकनर्व को उत्तेजना से स्वेद ग्रंथियाँ प्रभावित होती हैं जिससे पसीना आता है।

7. क्रोध (Anger) – क्रोध से पित्त प्रकोप होता है तथा स्वेद का निर्गम होकर स्वेदन होता है।

8. उपनाह (Ploutice) – अग्नि के प्रत्यक्ष सम्पर्क के विना औषध (बेर, कुलथी, यव, रास्ना, देवदारु, वच, सौंफ, कूठ आदि वातनाशक द्रव्यों) के शरीर पर लेप करने से स्वेदन होता है।

9. आहव (Games with high physical activities/war)– अर्थात् युद्ध या कुश्ती लडने से स्वेदन होता है।

10. आतप (Sunlight) – सूर्य किरणों से स्वेदन करना आतप स्वेद है।

स्वेद के ताप आदि 4 भेद

आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट्टानुसार–

(1) ताप स्वेद (2) उपनाह स्वेद (3) ऊष्म स्वेद (4) द्रव स्वेद

(1) ताप स्वेद :–

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्य कंटुककपाल बालुका वस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्य चांगतापो बहुनः खदिरांगारैरिति।। (सु. चि. 32/4)

तत्र तापस्वेदे कंटुक ग्रहणादेव जेंताक कर्पुकुटी कूप होलाक स्वेदः। पंचैवातभवति।। (डल्हण)

जिसमें अग्नि के द्वारा तपाये गए वस्त्र, हथेली से या कांसे के पात्र से, कन्दुक से, कपाल-खर्पर से या लोहे के फाल से शरीर का स्वेदन किया जाता है।

हस्त स्वेद – इसका वर्णन काश्यपसंहिता में प्राप्त होता है। इसमें चार मास के बालकों को हस्त स्वेद करने को कहा है। हाथों को परस्पर रगडकर उनसे स्वेद किया जाता है। यह अत्यंत मृदु प्रकार का स्वेद है।

(2) उपनाह स्वेद

उपानाह्यते इत्युपनाहो, बंधनमित्यर्थः।

उपनाह शब्दस्तु इह 'णह, बंधने इत्यस्येति उपनाहो बंधनम्।। (डल्हण, सु. चि. 32/3 तथा 12 पर)

औषध द्रव्यों के कल्क आदि को अंगों पर बांधकर स्वेदन करना उपनाह स्वेद कहलाता है।

आचार्य सुश्रुतानुसार यह 3 प्रकार का होता है।

(a) प्रदेह (b) पिण्ड स्वेद (c) बंधन

(a) प्रदेह –

उपनाह स्वेदस्तु वातहर मूलकल्कैरम्ल पिष्टै लवण प्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः

प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिः एलादिभिः सुरसादिभिः

तिलातसी सर्षप कल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः

शाल्वणैः वा तनु वस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत्।। (सु. चि. 32/12)

वातनाशक द्रव्यों के मूल, पत्र आदि के कल्क में अम्ल द्रव्य और नमक मिलाकर लेप कर स्वेदन करना।

(b) पिण्ड स्वेद –

संकरस्वेदमपि मप्युपनाह स्वेद एव दर्शयन्नाह एवमित्यादि।

एभिरेव पोटलिका बद्धा स्वेदयेत्।। (डल्हण, सु. चि. 32/12 पर)

काकोल्यादि गण, सुरसादिगण एवं एलादि गण की औषधों को तिल, सरसों आदि के कल्क के साथ खिचडी खीर, उत्कारिका, वेशवार आदि को किसी कपडे में बांधकर उसे तपा-तपाकर स्वेदन करना पिण्ड स्वेद कहलाता है।

(c) बंधन–

उपनाहोवचा किण्व शताधह्वा देवदारुभिः। धान्यैः समस्तैः गंधैश्च रास्नेरंड जटाभिषैः।।

उद्रिक्तलवण स्नेह चुक्रतक्रपयः प्लुतैः।.....स्निग्धोष्णवीर्यैमृदुभिः चर्मपट्टैरपूतिभिः।।

अलामे वातजित्पत्र कौशेयाविक शाटकैः। रात्रौ बद्धा दिवा मुंचेद् मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम्।।

(अ. ह. सू. 17/2

पिण्ड स्वेद के द्रव्यों को कपडे पर रखकर पीडित अंगों पर सुखोष्ण पट्टी बांधना। रात का बंधन दिन में तथा का बँधा रात में खोल देना चाहिए।

(3) ऊष्म स्वेद

ऊष्मा का अर्थ है- वाष्प। अर्थात् वाष्प द्वारा स्वेद करना ऊष्म स्वेद कहलाता है।

सुश्रुत ने पिण्ड स्वेद, कुम्भी, नाडी, अश्मघन, कुटी और प्रस्तर स्वेद इन सभी विधियों द्वारा उष्म स्वेद करना बताया है।

(4) द्रव स्वेद

द्रव्यस्वेदस्तु वातहर क्वाथ पूर्ण कोष्ण कटाहे द्रोण्यां चावगाह्य स्वेदयेत् एवं पय मांसरस यूषतैल धान्याम्ल घृतवसा मूत्रेष्ववगाहयेत्। एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिंचेदिति।। (सु. चि. 32/13)

द्रव पदार्थ द्वारा स्वेदन करना द्रव स्वेद कहलाता है।

द्रव में वातहर क्वाथ, दूध, मांसरस, यूष, तैल, घृत, धान्यम्ल, वसा और गोमूत्र का उपयोग किया जाता है।

परिषेक और अवगाह स्वेद - ये द्रव प्रकार के स्वेद है।

स्वेदन के समय सावधानियाँ (Precaution during Swedan)-

1. स्वेदन निर्धारित समयानुसार करना चाहिए।
2. रोगी की गतिविधि तथा शारीरिक स्थिति को देखते रहना चाहिए।
3. ज्यादा गरम या अनुष्ण स्वेद हानिकारक होता है। दग्ध न हो पाए इसका ध्यान रखना चाहिए।
4. स्वेदन के सम्यक् योग, हीनयोग या अतियोग के लक्षणों को देखते रहना चाहिए।
5. सम्यक् योग के लक्षण प्रकट होने पर स्वेदन बंद कर देना चाहिए।

वृषणो हृदयं दृष्टि स्वेदयेन्मृदुनेव वा।
मध्यमं वंक्षणौ शेषमंगावयवमिष्टतः।। (च. सू. 14/10)

6. वृषण, हृदय, नेत्र इनका स्वेदन नहीं करना चाहिए। अथवा आवश्यकता होने पर गीला वस्त्र, मुक्ता हार तथा शीतल लेप का प्रयोग कर मृदु स्वेद करना चाहिए।

7. नेत्र का स्वेदन करने से पूर्व इन्हें कमल पत्र या कई तह किए स्वच्छ कपडे से पूरी तरह ढक कर मृदु स्वेद करना चाहिए।

स्वेदन के सम्यक् योग के लक्षण (Symptoms of proper sudation) -

शीतशूल व्यूपरमे स्तंभ गौरव निग्रहे।
संजाते मार्दवे चैव स्वेदनात् विरतिर्मता।। (च. चि. 14/13)
स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वंमार्दवश्चातुरस्य।
सम्यग् स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन् मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव।। (सु. चि. 32/23)

1. ठण्डक का महसूस न होना।
2. शूल का शांत होना।
3. भारीपन का कम होना।
4. अंगों की जकडाहट का कम होना।
5. शरीर में कोमलता का आना।
6. स्वेद का निर्गम।
7. रोग का समाप्त होना।
8. शीत वातावरण मे जाने की इच्छा रखना।

स्वेदन के हे[illegible] के लक्षण (Symptoms of deficiet sudation) -

सम्यक् योग के विपरीत लक्षणों का होना।

1. सम्यक् स्वेद के लक्षणों का न होना।
2. शरीर से पसीना न निकलना।
3. शूल का शांत नहीं होना।
4. ठण्डक का दूर नहीं होना।
5. शरीर के भारीपन में कमी न होना।
6. स्तब्धता का बना रहना।
7. शीत की इच्छा न होना।

स्वेदन के अतियोग के लक्षण (Symptoms of excessive Sudation)

पित्त प्रकोपो मूर्च्छा च शरीर सदनं तथा।
दाहः स्वेदाङ्ग दौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम्। (च. सू. 14/14)
स्विन्नेऽत्यर्थं संधिपीड़ा विदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्त प्रकोपः।
मूर्च्छा भ्रांतिदाह तृष्णा क्लमश्च कुर्यात्तूर्ण तत्र शीतं विधानं।। (सु. चि. 32/24)

1. पित्त एवं रक्त प्रकोप
2. मूर्च्छा होना
3. थकावट का होना।
4. अत्यधिक पसीना आना।
5. शरीर में जलन होना। (दाह)
6. त्वचा पर फफोले निकलना।
7. चक्कर आना।
8. अत्यधिक तृष्णा का लगना।
9. वमन होना।
10. ज्वरोत्पत्ति का होना।

स्वेदन व्यापद् एवं निराकरण (Complication of Sudation & its management)

स्वेदन व्यापद्-

(1) स्तम्भन (2) निर्जलीकरण

1. स्तम्भन - यह स्वेदन के हीनयोग का लक्षण है। इसमें रोगी का शरीर जकड जाता है।

उपचार - रोगी का पुनः स्वेदन किया जाता है जब तक सम्यक् स्वेदन के लक्षण प्राप्त न हो।

2. निर्जलीकरण - यह स्वेदन का अतियोग का लक्षण होता है।

इसमें शरीर से अत्यधिक पसीना निकलने के कारण शरीर में पानी की कमी से होता है। जिससे रोगी में चक्कर का आना, मूर्च्छा आना, श्वासावरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपचार - ग्रीष्म ऋतुचर्यानुसार आहार विहार तथा उपचार किया जाता है।

1. मधुर स्निग्ध शीतल द्रव आहार का प्रयोग।
2. घी-चीनी मिला सत्तू का गाढा घोल पीने को दें।
3. अंगों पर शीतल चंदनादि का लेप करें।
4. शीतल उद्यान, शीतल पुष्प, पत्र, शय्या का प्रयोग करें।
5. मधुर रमणीय द्रव्य का अवलोकन।

आचार्य ने स्वेदन अतियोग में स्तम्भन चिकित्सा बताई है।

पिण्ड स्वेद (Pinda Sweda)

वह प्रक्रिया जिसमें स्वेदन द्रव्यों को वस्त्र की पोटली बनाकर उन्हें सुखोष्ण कर स्वेदन किया जाता है पिण्ड स्व
कहलाता है। यह संकर स्वेद का एक प्रकार है। इसमें तिल, उडद, कुलत्थादि, मांसरस आदि स्वेदय द्रव्यों को पका के
इनको पिंड रूप में बनाकर दूध, मांसरस, तैलादि में पुनः पुनः डुबाकर स्वेदन किया जाता है।

प्रकार (Types)– मुख्यतः निम्न प्रकार है–

1. पत्र पिण्ड स्वेद
2. षष्टिकशाली पिण्ड स्वेद
3. चूर्ण पिण्ड स्वेद
4. जम्बीर पिण्ड स्वेद
5. बालुका पोटली स्वेद
6. लवण पोटली स्वेद

केरल प्रान्त में पिण्ड को कीझी (Keezhee) कहते हैं।

कीझी = पोटली/ पिण्ड

1. पत्रपिण्ड स्वेद (Patra Pinda Sweda)–

पत्रपिण्ड में पत्र, पुष्प, फल, आदि को कल्क बनाकर पोटली में बांधकर गर्म तैल में डुबाकर शरीर को सपक
हुए स्वेदन करते हैं।

इसमें वातनाशक पत्र जैसे एरण्ड पत्र, निर्गुण्डी पत्र, धतुरा पत्र, शिग्रु पत्र, अर्क पत्र, श्योनाक पत्र आदि
कुचलकर कल्क रूप में लेकर तैल में पकाकर एवं अन्य प्रक्षेप डालकर पोटली बनाकर प्रयोग किया जाता
केरल में पत्र पिंड स्वेद ऐलाकीझी (Eilakeizhee) कहलाता है।

इस पोटली में वातनाशक औषधियों का चूर्ण रोगानुसार मिलाकर सेक किया जाता है। तो इसे चूर्ण पिण्ड स्व
कहते है।

पत्रपिण्ड स्वेद विधि– यह तीन चरणों में पूर्ण होती है–

1. पूर्वकर्म
2. प्रधान कर्म
3. पश्चात् कर्म

पत्रपिण्ड स्वेदन के पूर्वकर्म (Poorva Karma of Patra Pinda Sweda)– इसमें निम्नकर्म होते है

(i) आतुर सिद्धता (Preparation of patient)– पत्र पिण्ड स्वेदन करने से पूर्व यह परीक्षण किया जा
है कि रोगी पत्रपिण्ड योग्य है या अयोग्य। योग्य होने पर रोगी की बल, प्रकृति, बल, सात्म्य, सत्त्व आदि की परीक्षा
जाती है।

पत्र पिण्ड योग्य रोग व रोगी (Suitable for Patra Pinda Sweda)–

1. संधिवात
2. एकांगवात
3. गृध्रसी
4. पक्षाघात
5. सुप्तवात्
6. शरीरगौरव
7. स्तम्भता
8. गात्रस्तम्भता
9. मांसपेशीगत जडता आदि अन्य वातज रोग।

पत्रपिण्ड अयोग्य रोग व रोगी (Not suitable for Patra Pinda Sweda)– ज्वर, उच्चरक्तचा
मूर्च्छा, भ्रम।

(i) पोटली निर्माण– वातनाशक पत्र जैसे निर्गुण्डी, धतूरा, शिग्रु, एरण्ड, अर्कपत्र आदि एकत्रित करते हैं फिर उन्हें कुचलकर लगभग 150–200 ml. तैल में पाक (फ्राई) करते हैं तथा आवश्यक वातनाशक औषध चूर्ण, लहसुन, दाना मेथी, नारियल, अजवाइन, हल्दी, सैंधा नमक, नींबू आदि भी मिला देते हैं। फिर 200–250 ग्राम तक तली हुई पत्तियों की 18 इंच चौकार सूती कपडे में बांधकर 4 पोटली बना लेते हैं पोटली का धागा इस प्रकार बांधा जाता है जिसमें स्वेदन किया करते समय वह आसानी से पकडी जा सके एवं औषध द्रव्य भी बाहर न आए। इस प्रकार पोटली का निर्माण करते हैं।

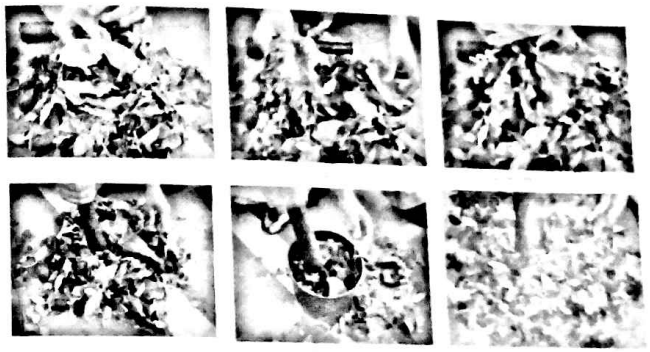

विभिन्न वातहर पत्रों को कुचलते हुए

तैल व अन्य प्रक्षेप लेते हुए

पत्ते पाक करते हुए

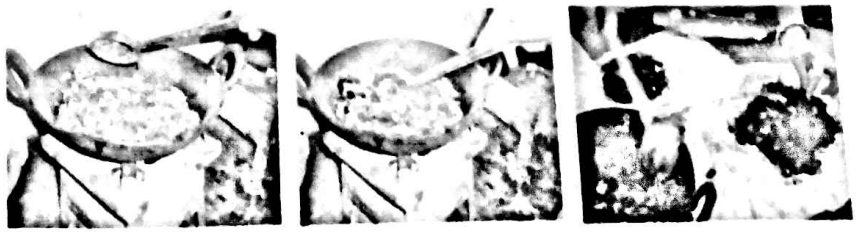

पत्ते सहित सम्पूर्ण मिश्रण को पाक करते हुए

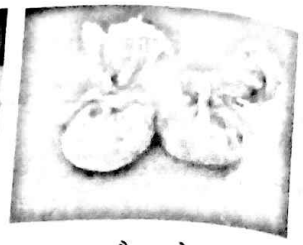

मिश्रण की पोट्टली बनाते हुए　　तैयार पोट्टली

(ii) तापक्रमादि मापन (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, वजन, नाडी गति, श्वसन गति को सूचीबद्ध करते हैं। चिकित्सा में होने वाले उपद्रव आदि की पूर्व में जानकारी देकर रोगी की लिखित में सहमति (Consent form) ले लेते हैं।

- रोगी को स्वेद से एक से दो घण्टे पूर्व लघु भोजन पेया, यवागु दिया जाता है। रोगी को स्वेदन के समय कोपीन/अल्प वस्त्र पहना दिया जाता है जिससे स्वेदन कर्म आसानी से हो पाता है।

(iii) आवश्यक उपकरण एवं परिचारक– अभ्यंग टेबल, अभ्यंग हेतु तैल, तैल गरम करने हेतु बर्तन, हीटर, 18–18 इंच के चौकोर कपडे के टुकडे, तौलिया, दो–तीन भगोनी, इमामदस्ता आदि।

परिचारक–पत्रपिण्ड स्वेद हेतु 2 से 3 परिचारक की आवश्यकता होती है।

पत्रपिण्ड स्वेदन का प्रधान कर्म (Pradhan karma of Patra Pinda) –

क्रियाविधि– सर्वप्रथम रोगी को कोपीन पहनाकर अभ्यंग टेबल (द्रोणी) पर लिटाया जाता है। फिर वातनाशक सुखोष्ण तैल से सम्पूर्ण शरीर पर अभ्यंग किया जाता है। तत्पश्चात्–हीटर पर या होट प्लेट पर एक बर्तन में 200 एम. एल. तैल गर्म किया जाता है इस गर्म तैल में, तैयार की गयी 4 पोटली को डुबा डुबाकर थपथपाते (Stroking) हुए स्वेदन करते हैं। स्वेदन करते समय इस बात का ध्यान रखें कि पोटली रोगी के सहने योग्य गर्म हो अन्यथा रोगी की त्वचा का जलने का डर रहता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया में पोटली का तापमान समान रहना चाहिए अर्थात् वह न शीत हो, न ही उष्ण।

प्रत्येक अवयव पर 5 से 10 मिनट तक अभ्यंग करते हैं। अभ्यंग में बताए गए सात आसनों में पत्रपिण्ड स्वेद अभ्यंग करना चाहिए। इस प्रकार पत्रपिण्ड स्वेद 45 से 60 मिनट तक करना चाहिए।

पोट्टली हेतु तैल लेते हुए　　पोट्टली को तैल में पुनः गर्म करते हुए　　पत्र पिण्ड करते हुए

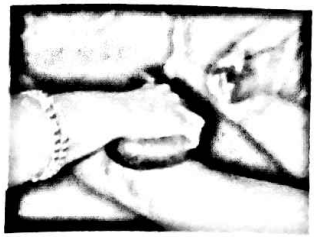
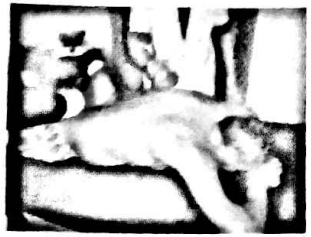

पत्र पिण्ड करते हुए

पत्र पिण्ड करते हुए

सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण– पत्र पिण्ड स्वेद पश्चात् उत्पन्न लक्षणों को ध्यानपूर्वक निरीक्षण करते हैं हीन योग के लक्षण उत्पन्न होने पर पुनः स्वेद करते हैं तथा अतियोग लक्षण उत्पन्न होने पर पत्रपिण्ड स्वेद क्रिया को रोक देते हैं तथा दग्ध चिकित्सा करते हैं सम्यक् लक्षण उत्पन्न होने पर आगे की प्रक्रिया करते हैं।

पत्रपिण्ड स्वेद का पश्चात् कर्म (Paschat karma of Pinda Sweda)–

इसमें निम्न कर्म आते हैं–

(i) आहार विहार सम्बन्धी निर्देश– पत्र पिण्ड पश्चात् रोगी को विश्राम कराते हैं तथा रोगी के शरीर को पतले कपडे द्वारा ढक देते हैं ताकि बाहर के वातावरण से सीध सम्पर्क न हो पाए। यदि स्नान करना हो तो 1½ या 2 घंटे पश्चात् औषध क्वाथ या सुखोष्ण जल द्वारा करवाते हैं। रोगी को आहार में लघु आहार, पेया, यवागु देते हैं।

रोगी को समशीतोष्ण वातावरण में रखा जाता है। तेज आवाज में बोलना, अधिक देर तक बैठना, अधिक देर तक खडे रहना, शोक करना, क्रोध करना, अति चलना, व्यवाय, व्यायाम, रात्रि जागरण, दिवास्वप्न आदि वर्जित निर्देशों को पालन हेतु निर्देश देते हैं।

षष्टिक शाली पिण्ड स्वेद (Shastik shali Pinda Sweda)

परिचय (Introduction) :– साठी चावल को औषध संस्कारित दुग्ध के पकाकर पिण्ड रूप में स्वेद करना षष्टिकशाली पिण्ड स्वेद कहते है।

षष्टिक शाली को केरल (मलयालम भाषा) में नवरा कीझी कहते है–

नवरा = नया चावल (60 दिन में पककर तैयार)

कीझी = पोट्टली या पिण्ड

इसकी सामान्य प्रक्रिया पत्र पिण्ड समान है।

पूर्व कर्म (Poorva karma)

संशोधितानां कुडवद्वयं-प्राक् संसाधितं षष्टिक तंडुलानाम्।
बला कषाये पयसा युतत्वान् बिपाचयेत् षड्गुणिते यथावत्।।
पिंडान् विदध्याद् अमुनाष्टचेल खंडेषु नूलेषु सुसूत्र बद्धान्।
विपच्यमानें क्वचिते वलायाः क्षिपेदथैनाना पयसा समेते।
अमीक्ष्ण विक्षेपकवोच्चिस्तैर्विभज्य मृदनात् यथोपदेशम्।
शुधे मुहुर्तेकृतपूज्यपूजं यथास्वतैलाक्त तनुं मनुष्यम्।।
यामार्द्धकालेन समाप्तिमेति यथा कषायः सपस्क एषः।
तथा पचेत तत्र मृदुः क्षिपेच्च पिंडान् सुखोष्णीकरणाय तेषां।
अथापनीया खिल लेपभंगाद्यथास्वतैलार्जित सर्वगात्रः।
स्नातः सुखोष्णेन जलेन पथ्यभोजी भेजत्, स्नेहविधानचर्याम्।। (धाराकल्प)

षष्टिकशाली पोट्टली निर्माण विधि- सर्वप्रथम 500g बला मूल लेकर उसे अच्छी तरह पानी से धोकर स्वच्छ कर बारीक-बारीक टुकडों में विभक्त कर लेते हैं। फिर इसे 16 गुने जल में डालकर उबाल कर ¼ शेष रख क्वाथ बना लेते हैं फिर इस क्वाथ के दो बराबर भाग कर लेते हैं एक भाग में बलामूल के समान मात्रा में दूध साठी [(षष्टिक)=60 दिनों में पका हुआ।] चावल डालकर शलक्ष्ण होने तक पकाते हैं। फिर चार से आठ 18×18 इंच के सूती वस्त्र खण्ड लेकर उन पर दूध मिश्रित पका हुआ भात, समान मात्रा में रखकर पोट्टलीयाँ बांधकर तैयार करते हैं। पोट्टली इस प्रकार बंधी होनी चाहिए कि उनका ऊपर का भाग पर्याप्त चौडा और हाथ में पकडने योग्य हो। इन्हें स्वेदनार्थ उपयोग के लिए रख देते हैं। फिर शेष आधे क्वाथ में बराबर मात्रा में दुग्ध मिलाकर सुखोष्ण गरम कर लेते हैं तथा इस मिश्रण में तैयार पोट्टलियों को रख देते हैं।

बलामूल क्वाथ बनाते हुए साठी चावल पकाते हुए

साठी चावल पकाते हुए पोट्टली मिश्रण में डली हुयी

प्रधान कर्म (Pradhana karma) :-षष्टिकशाली पिण्डस्वेद विधि- सर्वप्रथम आतुर को कोपीन पहनाकर अभ्यंग टेबल पर लिटा दिया जाता हैं। फिर सम्पूर्ण शरीर का सुखोष्ण वातनाशक तैल द्वारा मृदु अभ्यंग किया जाता है। आतुर के दोनों ओर दो-दो परिचारक खडे हो जाते हैं तथा एक परिचारक हीटर पर रखे क्वाथ मिश्रण के पास खडा हो जाता है। फिर परिचारक मिश्रण से ऊष्ण पोट्टली लेकर अपने हाथ पर रखकर ऊष्णता की परीक्षा कर आतुर के भागों पर थपथपाते (Stroking) या घुमा-घुमा कर स्वेदन करें। मन्या से नीचे कटि तक अनुलोम गति से स्वेदन करे तथा दूसरा परिचारक कटि से नीचे अनुलोम गति से स्वेदन करें। इस प्रकार दक्षिण हाथ से गति को आगे बढाए तथा बांए हाथ से अवयव को योग्य अवस्था में रखें। इसी तरह संधियों पर वर्तुलाकार तथा दीर्घ अवयवों पर दीर्घाकार स्वेद करें। जब पोट्टलियां ठण्डी होने लगें तब पाँचवा परिचारक शेष चार पोट्टलियों को द्रव में से निकाल कर उन्हें दे दें तथा ठण्डी पोट्टलियाँ पुनः द्रवमिश्रण में गरम हेतु रख दें।

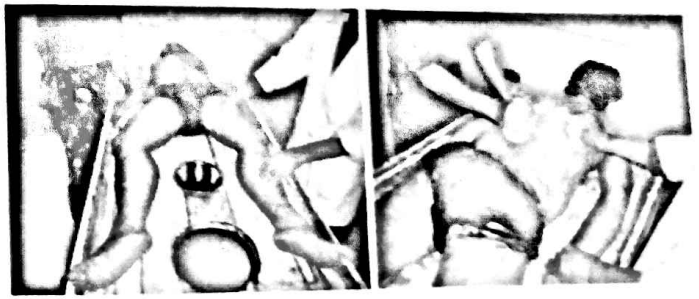

पोट्टली पूर्व अभ्यंग करते हुए षष्टिक शालि करते हुए

इस प्रकार पाँच से दस मिनट में बार-बार पोट्टलियाँ बदल-बदल कर सतत गरम पोट्टलियों से स्वेदन करें। स्वेदन करते समय यह ध्यान रखें कि त्वचा पर दग्ध व्रण न हो और न ही एकदम अनुष्ण अर्थात् एकदम ठण्डी पोट्टलियाँ न हो। एक समान तापमान रखना आवश्यक होता है।

अभ्यंग की जो सात अवस्थाएँ बतायी गयी है उन्हीं अवस्थाओं में 10 से 15 मिनट तक (प्रत्येक अवस्थाओं में) पोट्टली द्वारा स्वेदन करें। इस प्रकार एक से ढेड घण्टे तक यह स्वेदन कर्म करें।

स्वेदन की गतियों के समय आतुर के शरीर पर पोट्टलियों का घर्षण होता है और औषध सिद्ध षष्टिकशाली वस्त्र से स्त्रवित होकर शरीर पर संस्कार होता हैं।

पश्चात् कर्म (Paschat karma)– जब हीटर पर रखा हुआ द्रव पूर्ण समाप्त हो जाता है तब पोट्टलियों को खोलकर हाथ द्वारा उस मिश्रण का शरीर पर अभ्यंग/उद्वर्तन प्रकार से मर्दन करते हैं इस प्रकार पाँच से दस मिनट करने के पश्चात् शरीर पर से इस लेप को स्वच्छ कर, सुखोष्ण जल से स्नान करवाया जाता है।

यह चिकित्सा प्रतिदिन या दिनांतर से 7 दिन, 14 दिन, 28 दिन तक करनी चाहिए।

वस्तुतः षष्टिक शालि एव पत्र पिण्ड स्वेद दोनों ही पिण्ड स्वेद होने के कारण मूल प्रक्रिया, सावधानी, नियम समान है।

कायसेक (Kaya seka)

परिचय– काय अर्थात् शरीर एवं सेक अर्थात् स्वेदन। औषध युक्त क्वाथ, तैल आदि से सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन अर्थात् पसीना लाया जाता हैं उस विधि को कायसेक कहा जाता है।

इसमें प्लोत द्वारा स्नेह लेकर हाथ से निचोडकर शरीर पर स्नेह डालते है।

पिर्षिचिल/पिडिच्छिल (Pizichill)

परिचय– कायसेक या पिडिच्छिल यह वह प्रक्रिया है जिसमें सतत गरम तैलधारा के द्वारा शरीर का स्वेदन किया जाता है।

रोगानुसार प्रयुक्त स्नेह– सामान्यतः-

कफ की प्रधानता में सहचरादि तैल।

पित्त की प्रधानता में क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल।

वात की प्रधानता में धान्वन्तर तैल, महानारायण तैल इत्यादि।

काल मर्यादा– वातव्याधि में 5 नाडिका अर्थात् लगभग 2 घण्टे तक। वात और कफज रोगों में 1 घण्टे तक।

सामान्यतया: स्वेद निकलना यही पर्याप्त समय का निर्देशक है। 1 से 1½ घण्टा काल पर्याप्त है। सात दिन, चौदह दिन, इक्कीस दिन या अट्ठाइस दिन तक पिंषिचल कर्म करना चाहिए। स्वस्थ हेतु प्रतिदिन या एक दिन छोडकर सेक करना चाहिए। यदि मध्यम सत्व एवं शरीर हो तो 2 या 3 दिन में एक बार तथा अवर सत्व (मन) और शरीर बल में 4 से 6 दिन में एक बार करना चाहिए।

पिर्षिचिल– यह निम्न तीन चरणों में पूर्ण होती है।

1. पूर्व कर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात कर्म

पूर्वकर्म (Poorva karma of Pizichill)– इसमें निम्न कर्म आते हैं-

(i) आतुर सिद्धता– सर्वप्रथम पिर्षिचिल के योग्य व अयोग्य का निर्धारण किया जाता है। योग्य होने की स्थिति में रोगी का वय, बल, सात्म्य, सत्व, प्रकृति आदि की परीक्षा की जाती है।

(ii) औषध योग निर्धारण– रोग व रोगी की अवस्थानुसार औषध योग का निर्धारण किया जाता है। जैसे कफ प्रधान में सहचरादि, पित्त प्रधान-क्षीरबला, चंदनबला, वातप्रधान-बला, महानारायण, धान्वतंर तैल आदि।

(iii) तापक्रमादि मापन (Vital recording) एवं चिकित्सा सहमति पत्र (Consent form) – रोगी का तापक्रम वजन, रक्त चाप, नाडी गति, श्वसन गति आदि को सूचीबद्ध कर लेते हैं। चिकित्सा में होने वाले उपद्रव सहित सम्पूर्ण क्रिया आदि की जानकारी देकर रोगी की लिखित में सहमति लेकर चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र सूचीबद्ध करते है।

(iv) आवश्यक उपकरण व परिचारक– छोटी भगोनी, 18 ह 18 ईंच के सूती (कॉटन) के कपडे के खण्ड, रुई, औषध योग, नेत्रबंधन पट्टिका, तैल द्रोणी, भगोना, जल पात्र (तैल गर्म करने हेतु) आदि।

परिचारक– पिर्षिचिल के लिए 5 परिचारकों की आवश्यकता होती है।

प्रधान कर्म (Pardhana karma of Pizichill)– इसके अन्तर्गत पिर्षिचिल कर्म विधि आती है।

विधि (Procedure)– पिर्षिचिल योग्य आतुर को कोपीन पहनाकर तैलद्रोणी में बैठाते हैं। तैल द्रोणी में स्नेहधारा योग्य, एक ऐसा प्रकोष्ठ होता है जिसमें पतित तैल को पुनः एकत्रित कर उपयोग में ले सकें। सर्वप्रथम सम्पूर्ण शरीर पर औषध युक्त तैल से अभ्यंग किया जाता है फिर नेत्र बंधन कर दिया जाता है जिससे आंखों में तैल न जा पायें।

पिर्षिचिल व अन्य स्वेदन प्रक्रिया के दौरान शिर पर विशिष्ट प्रक्रिया 'तलम्' का धारण करवाया जाता है जो निम्न प्रकार है-

पिर्षिचिल करते हुए

तलम् धारण प्रक्रिया:– तलम् को तले पोट्टिच्चिल भी कहा जाता है यह स्वेदन प्रक्रियाओं के दौरान सिर पर स्वेदन प्रभाव न हो, उसे रोकने के लिए इसमें आमलकी या बला का प्रयोग करते हैं।

विधि:– आमलकी (100 ग्राम) और तक्र (200 ml) लेकर पाक कर अर्द्ध अवशिष्ट (1/2) लगभग 100 ml कर लेते है। फिर अभ्यंग पश्चात् श्लक्षण शीत इस आमलकी कल्क की चक्राकार बनाकर सिर पर ब्रह्मरंध्र स्थान पर रखते है तथा उसमें आलवाल बना कर कोई शीत तैल जैस चंदन बलादि तैल भरकर वातहर पत्र (निर्गुण्डी, एण्ड पत्र) आलवाल पर रख स्वास्तिक बंधन ऐसा बांधते है कि उसकी गांठ कान के पास आए।

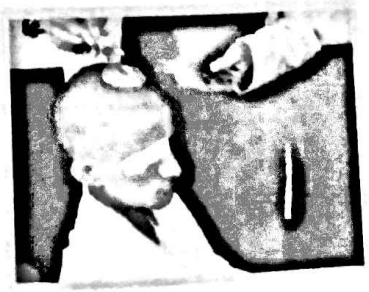

चक्रिका में तैल भरते हुए

पत्र द्वारा ढका तलम्

पिण्डिचिल हेतु – आतुर के दांए बांए दोनों ओर चार परिचारक इस प्रकार खडे रहें कि उनमें से उभय बाजू के दो परिचारक अंस से स्फिग् तक और दूसरे दो परिचारक स्फिग् से प्रपाद तक धारा कर सकें।

धारा करने हेतु 18ह्18 ईंच के वस्त्र खण्डों को सुखोष्ण तैल पात्र में डुबोकर, किंचित निचोडकर दाहिने हाथ में पकडकर मुट्ठी में इस प्रकार दबायें कि वस्त्र से तैल अंगूठे से धारा के रूप में आतुर के शरीर पर गिरे। इस गिरे हुए तैल का परिचारक अपने बांए हाथ से मृदु अभ्यंग करें। धारा का वेग न तो बहुत शीघ्र हो और न ही बहुत मंद हो। शरीर पर धारा 12 अंगुल की ऊँचाई (9 ईंच) से गिराई जाती है।

धारा से द्रोणी में जो तैल गिरता है वह द्रोणी के ढलाव के कारण पादांत भाग में जाकर वहाँ के छिद्र से नीचे गिर जाता है तथा नीचे रखे हुए पात्र में एकत्रित हो जाता है। फिर इस एकत्रित हुए तैल को पाँचवा परिचारक पुनः सुखोष्ण गरम कर परिचारकों को धारा के लिए देता है। इस प्रकार पिण्डिचल कर्म 1 से 1½ घण्टे तक किया जाता है।

पिण्डिचल सावधानियाँ एवं व्यापद (Precaution & complications)– अधिक गरम, अधिक या कम ऊँचाई से धारा गिराना इत्यादि करने से शरीर दाह, विसर्प, थकावट, स्वरभेद, संधि में भेदनवत् पीडा, छर्दि, रक्तस्त्राव आदि उत्पन्न हो जाते हैं इस स्थिति में चिकित्सा बंद करके इन उपद्रवों की चिकित्सा की जाती है।

पश्चात् कर्म (Paschat karma of Pizichill)– इसमें निम्न कर्म आते हैं–

आहारादि व्यवस्था– प्रधान कर्म पश्चात् रोगी के शरीर पर मृदु अभ्यंग करते हैं तत्पश्चात् गर्म पानी से स्नेह या औषध क्वाथ या उष्ण जल से स्नान किया जाता है जिससे शरीर पर लगा हुआ तैल साफ हो जाता है। आहार में लघु आहार पेया, यवागु का सेवन करवाया जाता है। स्नान के बाद गंधर्व हस्तादि क्वाथ या सुंठी क्वाथ देते है जिससे अनुलोमन होता है। इसका प्रयोग प्रातः सायं 25 ml या 50 ml की मात्रा में करते हैं।

परिहार्य विषय– रोगी के सम्पूर्ण शरीर को एक पतले चादर से ओढा कर ढंका जाता है तथा उसे निवात स्थान में निवास करवाया जाता है।

उच्च स्वर में बोलना, अति भ्रमण, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण, अधिक देर तक खडे रहना, एक ही आसन पर बैठे रहना, अति श्रम, तेज धूप, हवा का सेवन आदि परिहार्य विषयों का पालन, चिकित्सा के दुगने काल तक करना चाहिए।

तापक्रमादि मापन (Vital recording)– रोगी का तापक्रम, रक्तचाप, नाडी गति, श्वसन गति इनको ज्ञात कर पूर्व में लिए गए विवरण से तुलना कर वर्तमान स्थिति का निर्धारण किया जाता है।

अन्नलेप (Anna lepa)

परिचय (Introduction) – अन्नलेप यह प्रदेह या उपनाह के प्रकार का स्वेद होता है। यह षष्टिकशाली पिण्डस्वेद के समान ही होता है अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें पोट्टली बनाने के स्थान पर षष्टिकशाली का प्रत्यक्ष शरीर पर लेप किया जाता है।

प्रयुक्त द्रव्य – चावल, गेहूँ, मूंग, उडद, अलसी आदि अन्न को दूध, दही, औषध क्वाथ आदि के साथ पकाकर या मिश्रण कर शरीर पर लेप करते हैं जिन औषधियों का षष्टिकशाली पिण्ड स्वेद में प्रयोग करते है उन्हीं का अन्न लेप में भी कर सकते है जैसे– बला मूल, जल, षष्टिकशाली, गाय का दुग्ध।

निर्माण विधि (Preparation method)– सर्वप्रथम बला मूल लेकर उसे पानी द्वारा स्वच्छ करते हैं फिर उसके छोटे–छोटे टुकडे करते हैं। बलामूल से 10 गुना जल लेकर क्वाथ बनाते हैं। इसमें जल को तब तक उबालते हैं जब तक कि जल चतुर्थांश न रह जाएँ। तत्पश्चात् इस क्वाथ को मोटे कपडे द्वारा छान लिया जाता है इस क्वाथ में बराबर मात्रा में गाय का दुग्ध तथा बलामूल समान मात्रा में षष्टिकशाली डालकर पकाते हैं। अच्छी तरह पकने पर उक्त मिश्रण को पीसकर श्लक्ष्ण बनाते हैं।

प्रयोग विधि (Procedure of Anna lepa)– सर्वप्रथम रोगी को अभ्यंग टेबल पर लिटा दिया जाता है। फिर रोगी के शरीर पर वातनाशक सुखोष्ण तैल से अभ्यंग करते हैं। फिर रोगी के दोनों ओर दो परिचारक बाजू में खडे रहकर श्लक्ष्ण व गरम चावल के मिश्रण को थोडा–थोडा हाथ में लेकर आतुर के शरीर पर लगाकर गरम–गरम अवस्था में ही उसे उद्वर्तन के समान रगडते रहते हैं। रोगी को किसी भी प्रकार की पीडा व दाह न हो इस बात का ध्यान रखते हैं तथा सुखपूर्वक लेपन करते हैं। अंश से नीचे ही इस तरह लेपन किया जाता हैं प्रत्येक मांसपेशी हाथ, पांव, पृष्ठ, कटि प्रदेश पर भलीभाँति सुखोष्ण मिश्रण का लेपन हो जाए।

जब यह मिश्रण पूरा हो जाए। तब शरीर पर से लेपन के अवशिष्ट भाग को स्वच्छ कर पुनः सुखोष्ण तैल से अभ्यंग करते हैं तत्पश्चात् गरम पानी से स्नान करवाया जाता है। लेपन अवशिष्ट भाग को हटाने के लिए केरल में नरियल पत्र का प्रयोग करते है।

काल–यह लेपन 7 दिन या 14 दिन तक किया जाता है।

तथा प्रतिदिन लेपन लगभग 1 से 1½ घण्टे तक किया जाता है।

गुण व उपयोग (Properties and indication)– यह षष्टिकशाली पिण्ड समान गुणकारी है।

शोष, कार्यक्षय, शूल में लाभप्रद है वात और रक्त से दुष्ट विकारों में, आमवात के कुछ प्रकारों में जहाँ दाह की प्रधानता होती है इन रोगों में यह उपयोगी होता है।

शिरोलेप (Sirolepa)

परिचय (Introduction) :– किसी औषधि का शरीर के अवयव पर लेपन करना लेप कहलाता है जब यह प्रक्रिया सिर पर की जाती है तो उसे शिरोलेप कहते है यह स्नेहयुक्त या स्नेहहीन औषध द्रव्य कल्कों के रूप में सिर पर प्रयुक्त होता है।

उपयोग (Indication) – आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार

(1) केशवर्धनार्थ (2) केश दृढीकरणार्थ (3) पालित्य

(4) अरुषिंका (5) रोमोत्पादनार्थ लेप हैं।

प्रयुक्त द्रव्य :– यह रोग व रोगी की अवस्थानुसार तथा दोषानुसार प्रयोग होता है जैसे– जपापुष्प, आमलकी, रीठा, शिकाकाई, मेंहदी, भृंगराज आदि।

शिरोलेप निर्माण विधि (Preparation of Sirolepa) :–

औषध चयन कर चूर्ण, स्वरस, या कल्क को दुग्ध, तक्र, दही, गोमूत्र, इक्षुरस, घृतकुमारी, या घृत/तेल आदि के साथ मिश्रित कर लेप तैयार करते हैं।

शिरोलेप क्रिया विधि (Procedure of sirolepa) :–

इसकी प्रयोग विधि तलम् समान है इसमें आतुर को सुखासन में बैठाकर सिर पर हल्का अभ्यंग करते है तथा तैयार लेप की 1/2 से 1/3 इंच की मोटी परत सिर पर 1 से 1½ घंटे तक धारण करवाते हैं शिरोलेप धारण के पश्चात् रोगानुसार वातहर या पित्तहर पत्र से सिर ढक देते है या बधंन कर देते है। इसके बाद सुखोष्ण जल या औषधि युक्त क्वाथ से शिर का प्रक्षालन कर निवात स्थान में रहने का निर्देश देते है। विश्राम पश्चात् पेया, यवागु आदि लघु आहार देते हैं। इसकी अन्य सभी विधि भी तलम् या शिरोबस्ति के पूर्व, पश्चात् में जो निर्देश या पालनीय है वही शिरोलेप की भी है।

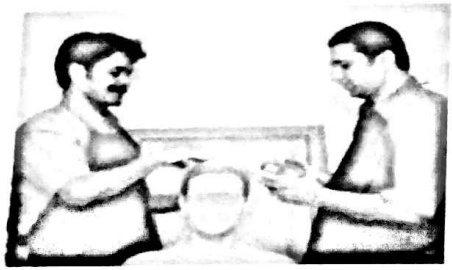

चूर्ण पिंड स्वेद (पोड्डी किझी) (Churana pinda sweda)

यह एक प्रकार का रूक्ष स्वेद है।

तैल की उपर्युक्तता आतुर की अवस्था से निश्चित की जाती है। इसमें मेथिका, शतपुष्पा, कुलत्थ, देवदारु, रक्त एरंड, हरिद्रा, रास्ना आदि वातहर द्रव्यों के चूर्ण को धीमी आँच पर पाक (fry) करके उसकी पोट्टली बनाते है। इस पोट्टली को उष्ण तैल या क्वाथ द्रव्यों में मज्जन करके स्वेदन करते है।

उपयोग–सामकफानुबन्ध वात रोग, संधिवात, गृध्रसी तथा अन्य वातजन्य रोगो में।

जम्बीर पिंड स्वेद (Jambeer pinda sweda)

यह उष्मस्वेद है।

यह स्वेद ना अति स्निग्ध होता है और ना अति रूक्ष होता है। जम्बीर पिंड स्वेद बनाने के लिए पक्व जम्बीर (निम्बुक का भेद) लेकर उसके छोटे-छोटे टुकडे करके तैल में मंद आँच पर पाक करते हैं तत्पश्चात् उसमें सैंधव लवण, रसोन का कल्क डाले, इसके बाद मेथिका, शताव्हा, विल्व, हरिद्रा, कुलत्थ आदि का चूर्ण डालकर अच्छे से पाक करते हैं। तथा द्रव्य का अतिपाक (जलाना) नहीं चाहिये। फिर इन सारे द्रव्यों की पोट्टली बनानी चाहिए, इस पोट्टली को फिर से तैल या क्वाथ आदि द्रव में गर्म करके अनुलोम गति से स्वेदन करते हैं।

अवधि– प्रतिदिन 45 से 60 मिनट तक तथा 7 से 21 दिन तक कराया जा सकता है।

नाडी स्वेद (Nadi swedan)

मुख्यतः एकांग स्वेदन करने के लिये नाड़ी स्वेद दिया जाता है।

एक बड़ा प्रेशर कूकर/ऑटोक्लेव में स्वेदन करने योग्य द्रव्यों का मूल, फल, पत्र, पशु और पक्षीयों का मांस आदि (उष्ण स्वभाव वाले मांसों को रोगानुसार निश्चित करे) कांजी, नमक, तैल, मूत्र और दुग्ध आदि द्रव पदार्थ मिलाकर

इसका क्वाथ बनाकर, वाष्प का निर्माण करते हैं। एक नलिका (Spiral Rubber tube) जिसकी लम्बाई 1 व्याम (6 फीट) हो उसे इसका अग्रभाग (Proximal end) जिसका परिणाह 1/4th व्याम (1.5 Feet) हो वह कूकर के वाष्प निकालने वाले भाग (Nozzle) पर जोडा जाता है, नलिका (Tube) के पार्श्व भाग का परिणाह 1/8th व्याम होता है, इस पार्श्वभाग को पकड़ने के लिये उसपर वस्त्र को 5–7 स्तर पर लपेटा जाता है। जिससे वाष्प देने वाले व्यक्ति को गर्म प्रतीत न हो। नलिका (Tube) की यह विशिष्ठपूर्ण रचना वाष्प की तीव्रता (Exccesive heat) को कम करने हेतु होती है। वाताशक स्नेहों से अभ्यंग करने के बाद आतुर का नाडी स्वेदन करते हैं।

नाडी स्वेद करते समय दग्ध व्रण होने की संभावना होती है, इसलिए जिस प्रदेश का स्वेदन करना हो, उस प्रदेश को वस्त्र से आच्छादित करके स्वेदन करें, इससे दग्धव्रण होने की सम्भावना कम हो जाती है।

अवधि– प्रतिदिन 10–15 मिनिट से लेकर सम्यक् सहन करने तक नाडी स्वेद किया जाता है।

उपयोग– शूल और संकोच में यह अत्यंत लाभदायक है।

हृदयरोग, उच्च रक्त चाप, मधुमेह, शल्य क्रिया उपरान्त जैसे व्याधियों में सर्वांग वाष्प स्वेद का निषेध होता है तब नाडी स्वेद ही लाभदायक है।

वाष्प स्वेद (Vashpa sweda)

उष्म स्वेद को ही वाष्पस्वेद कहते है।

सर्वांग स्वेदन हेतु वाष्पस्वेदन यंत्र से स्वेद दिया जाता है।

वाष्पस्वेदन यंत्र– यह लकड़ी का टेबल सदृश उपकरण है। 6 फीट लंबा, 2.5 फीट चौडा और 2 फीट ऊँचा होता है। इसकी चारों बाजुएँ लकडी से बंद होती है, जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। इसकी एक बाजुपर कपाटों की तरह खुलने वाले दरवाजे होते हैं। टेबल के उपरी सतहपर 1 इंच परिणाह की छिद्रोवाली जाली होती है। इस जाली पर रूग्ण का शिर टेबल से बाहर रहे इस तरह से लिटाया जाता है। शिर रखने के लिये टेबल के एक बाजु पर 9 इंच परिणाह का शिरः फलक होता है।

इस टेबल को उपर सें ढकने के लिए एक फलक होता है। टेबल के नीचे दशमूल, रास्ना, एरंड, निर्गुण्डी आदि वातघ्न द्रव्यों को क्वाथ की वाष्प इन छिद्रों द्वारा आतुर के गात्र पर स्वेदन करते है। उपरोक्त वाष्प स्वेदन यंत्र लिटाने वाले प्रकार का है (Laying/vertical steam chamber) इसके अतिरिक्त बिठाकर (Horizontal/Sitting steam chamber) भी स्वेदन यंत्र का प्रयोग होता है।

क्षीर वाष्प स्वेद (Ksheer vashpa sweda) – इसमें उपरोक्त विधि समान होती है अन्तर केवल वाष्प द्रव्य का हैं। क्षीर वाष्प हेतु केवल क्षीर या औषध संस्कारित क्षीर का वाष्प के रूप में प्रयोग करते है इसका प्रयोग विशेष रूप से अर्दित एवं मन्यास्तम्भ हेतु किया जाता है।

बालुका स्वेद (Baluka sweda) –

बालुका स्वेद पिंड स्वेद है, जो तापस्वेद का प्रकार है–

यह रूक्षण प्रक्रिया है इसमें ककंर रहित स्वच्छ बालुका का प्रयोग स्वेदन हेतु करते हैं।

शिरोलेप क्रिया विधि (Procedure of sirolepa) :-

इसकी प्रयोग विधि तलम् समान है इसमें आतुर को सुखासन में बैठाकर सिर पर हल्का अभ्यंग करते है तथा तैयार लेप की 1/2 से 1/3 इंच की मोटी परत सिर पर 1 से 1½ घंटे तक धारण करवाते हैं शिरोलेप धारण के पश्चात् रोगानुसार वातहर या पित्तहर पत्र से सिर ढक देते है या बधंन कर देते है। इसके बाद सुखोष्ण जल या औषधि युक्त क्वाथ से शिर का प्रक्षालन कर निवात स्थान में रहने का निर्देश देते है। विश्राम पश्चात् पेया, यवागु आदि लघु आहार देते हैं। इसकी अन्य सभी विधि भी तलम् या शिरोबस्ति के पूर्व, पश्चात् में जो निर्देश या पालनीय है वही शिरोलेप की भी है।

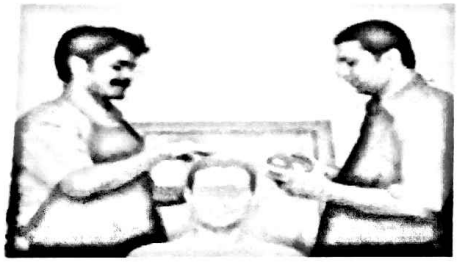

चूर्ण पिंड स्वेद (पोट्टली किझी) (Churana pinda sweda)

यह एक प्रकार का रूक्ष स्वेद है।

तैल की उपर्युक्तता आतुर की अवस्था से निश्चित की जाती है। इसमें मेथिका, शतपुष्पा, कुलत्थ, देवदारु, श्वेत एरंड, हरिद्रा, रास्ना आदि वातहर द्रव्यों के चूर्ण को धीमी आँच पर पाक (fry) करके उसकी पोट्टली बनाते है। इस पोट्टली को उष्ण तैल या क्वाथ द्रव्यों में मज्जन करके स्वेदन करते है।

उपयोग–सामकफानुबन्ध वात रोग, संधिवात, गृध्रसी तथा अन्य वातजन्य रोगो में।

जम्बीर पिंड स्वेद (Jambeer pinda sweda)

यह उष्मस्वेद है।

यह स्वेद ना अति स्निग्ध होता है और ना अति रूक्ष होता है। जम्बीर पिंड स्वेद बनाने के लिए पक्व जम्बी (निंम्बुक का भेद) लेकर उसके छोटे-छोटे टुकडे करके तैल में मंद आँच पर पाक करते हैं तत्पश्चात् उसमें सैंधव लवण, रसोन का कल्क डाले, इसके बाद मेथिका, शताव्हा, विल्ब, हरिद्रा, कुलत्थ आदि का चूर्ण डालकर अच्छे से पाक करते हैं। तथा द्रव्य का अतिपाक (जलाना) नहीं चाहिये। फिर इन सारे द्रव्यों की पोट्टली बनानी चाहिए, इस पोट्टली को फिर से तैल या क्वाथ आदि द्रव में गर्म करके अनुलोम गति से स्वेदन करते हैं।

अवधि– प्रतिदिन 45 से 60 मिनट तक तथा 7 से 21 दिन तक कराया जा सकता है।

नाडी स्वेद (Nadi swedan)

मुख्यतः एकांग स्वेदन करने के लिये नाड़ी स्वेद दिया जाता है।

एक बड़ा प्रेशर कूकर/ऑटोक्लेव में स्वेदन करने योग्य द्रव्यों का मूल, फल, पत्र, पशु और पक्षीयों का मांस आदि (उष्ण स्वभाव वाले मांसों को रोगानुसार निश्चित करे) कांजी, नमक, तैल, मूत्र और दुग्ध आदि द्रव पदार्थ मिलाकर

इसका क्वाथ बनाकर, वाष्प का निर्माण करते हैं। एक नलिका (Spiral Rubber tube) जिसकी लम्बाई 1 व्याम (6 फीट) हो उसे इसका अग्रभाग (Proximal end) जिसका परिणाह 1/4th व्याम (1.5 Feet) हो वह कूकर के वाष्प निकालने वाले भाग (Nozzle) पर जोडा जाता है, नलिका (Tube) के पार्श्व भाग का परिणाह 1/8th व्याम होता है, इस पार्श्वभाग को पकड़ने के लिये उसपर वस्त्र को 5-7 स्तर पर लपेटा जाता है। जिससे वाष्प देने वाले व्यक्ति को गर्म प्रतीत न हो। नलिका (Tube) की यह विशिष्ठपूर्ण रचना वाष्प की तीव्रता (Exccesive heat) को कम करने हेतु होती है। वातशामक स्नेहों से अभ्यंग करने के बाद आतुर का नाडी स्वेदन करते हैं।

नाडी स्वेद करते समय दग्ध व्रण होने की संभावना होती है, इसलिए जिस प्रदेश का स्वेदन करना हो, उस प्रदेश को वस्त्र से आच्छादित करके स्वेदन करें, इससे दग्धव्रण होने की सम्भावना कम हो जाती है।

अवधि– प्रतिदिन 10-15 मिनिट से लेकर सम्यक् सहन करने तक नाडी स्वेद किया जाता है।

उपयोग– शूल और संकोच में यह अत्यंत लाभदायक है।

हृदयरोग, उच्च रक्त चाप, मधुमेह, शल्य क्रिया उपरान्त जैसे व्याधियों में सर्वांग वाष्प स्वेद का निषेध होता है तब नाडी स्वेद ही लाभदायक है।

वाष्प स्वेद (Vashpa sweda)

उष्म स्वेद को ही वाष्पस्वेद कहते है।

सर्वांग स्वेदन हेतु वाष्पस्वेदन यंत्र से स्वेद दिया जाता है।

वाष्पस्वेदन यंत्र– यह लकड़ी का टेबल सदृश उपकरण है। 6 फीट लंबा, 2.5 फीट चौडा और 2 फीट ऊँचा होता है। इसकी चारों बाजुएँ लकडी से बंद होती है, जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। इसकी एक बाजुपर कपाटों की तरह खुलने वाले दरवाजे होते हैं। टेबल के उपरी सतहपर 1 इंच परिणाह की छिद्रोवाली जाली होती है। इस जाली पर रूग्ण का शिर टेबल से बाहर रहे इस तरह से लिटाया जाता है। शिर रखने के लिये टेबल के एक बाजु पर 9 इंच परिणाह का शिरः फलक होता है।

इस टेबल को उपर सें ढकने के लिए एक फलक होता है। टेबल के नीचे दशमूल, रास्ना, एरंड, निर्गुण्डी आदि वातघ्न द्रव्यों को क्वाथ की वाष्प इन छिद्रों द्वारा आतुर के गात्र पर स्वेदन करते है। उपरोक्त वाष्प स्वेदन यंत्र लिटाने वाले प्रकार का है (Laying/vertical steam chamber) इसके अतिरिक्त बिठाकर (Horizontal/Sitting steam chamber) भी स्वेदन यंत्र का प्रयोग होता है।

क्षीर वाष्प स्वेद (Ksheer vashpa sweda) – इसमें उपरोक्त विधि समान होती है अन्तर केवल वाष्प द्रव्य का हैं। क्षीर वाष्प हेतु केवल क्षीर या औषध संस्कारित क्षीर का वाष्प के रूप में प्रयोग करते है इसका प्रयोग विशेष रूप से अर्दित एवं मन्यास्तम्भ हेतु किया जाता है।

बालुका स्वेद (Baluka sweda) -

बालुका स्वेद पिंड स्वेद है, जो तापस्वेद का प्रकार है-

यह रूक्षण प्रक्रिया है इसमें ककंर रहित स्वच्छ बालुका का प्रयोग स्वेदन हेतु करते हैं।

इष्टिका स्वेद, तुष स्वेद, लवण स्वेद– इसमें स्वेदन हेतु क्रमशः इष्टिका (ईट का चूरा), तुष, लवण आदि का प्रयोग करते हैं। ये सभी स्वेद भी बालुका स्वेद की तरह रूक्ष स्वेद ही है, इन स्वेद की प्रक्रिया और गुणकर्म बालुका स्वेद जैसे ही है।

विधि– स्वच्छ, कंटकादिरहित बालुका/ इष्टिका चूर्ण/तुष/लवण आवश्यक मात्रा में लेकर उसके सूती (Cotton) कपडें की 2-4 पोट्टली बनाएँ। हीटर (Heater) पर लोहे की कढाई में पोट्टली मंद आँच पर ज्यादा कालावधी तक गर्म करें।

- इन पोट्टलीयों से सर्व शरीर पर या एकाङ्ग स्वेदन करे।

- सम्पूर्ण स्वेदन होने तक पोट्टली का तापमान एकसमान रहे इस तरह उसे उष्णता देनी चाहिए।

उपयोग– बालुका आदि स्वेद आमवात, उरूस्तंभ, मेदोरोग इन व्याधियों में लाभ देने वाला अत्यंत सरल, अल्प व्यय वाला और उत्कृष्ट उपक्रम है। आम से उत्पन्न स्रोवोरोध दूर करने के लिए रूक्ष स्वेद अत्यंत लाभदायक है।

अवधि– यह स्वेद 45-60 मिनिट तक 7/14/21 दिनो तक करना चाहिए।

- प्रतिदिन 1-2 बार या रोगी के अवस्थानुसार अधिक बार भी किया जा सकता है।

कुक्कुटाण्ड स्वेद (Kukuttanda sweda) –

इसमें स्वेदन हेतु कुक्कुट (मुर्गे) के अण्डे के साथ कोल कुल्थादि चूर्ण, मेथी, हरिद्रा आदि अन्य प्रेक्षप द्रव्य, नींबू तथा निम्ब तैल का प्रयोग होता है यह वात-कफज रोग में लाभदायक हैं।

धान्याम्ल धारा (Dhanyamla Dhara)

धान्याम्ल/कांजी धारा

धान्य का किण्वीकरण करके प्राप्त द्रव द्वारा जो धारा की जाती है, वह धान्याम्ल धारा है। यह एक रूक्ष चिकित्सा है।

धान्याम्ल निर्माण विधि

1 किलो लाल शाली धान और कुष्मास (क्षुद्रमाष) 1 किलों लेकर इसमें 8 गुना जल लेकर किसी बडे पात्र में पकाते हैं। जब चावल और उडद सिद्ध हो जाये तो एक मिट्टी के बडे घडे में रखकर संधान करते हैं।

10 दिनों के बाद, परीक्षोपरान्त घडा का मुख खोलकर वस्त्रपूत कर किसी पात्र में संग्रहित करते हैं। यही काँजी कहलाती है।

विधि– रुग्ण को द्रोणी में प्रवेश करने से पहले उसके शिर और शरीर पर तैल से अभ्यंग करते हैं। वर्ती या कपडे की पट्टी से शिर, भ्रुवास्थि और कर्ण (Eyebrow and ear) के ऊपर बांध देते हैं। आतुर को बैठाकर धान्याम्ल को कोष्ण कर 4 कर्मचारी (मसाजर) द्वारा धान्याम्ल की धारा सम्पूर्ण शरीर पर परिषेक की भाँति सुराईनुमा कुंभी अथवा वर्षूलिका से कायसेक/पिंडिचिंल की तरह स्वेदन करते हैं।

उपयोग– यह धारा वातरक्त, आमवात, स्थौल्य, पक्षाघात में लाभदायक है। विशेषकर ऐसे रोग जिसमें वात का कफानुबन्ध होता है।

लेप (Lepa)

पर्याय –आलेप, लिप्त, लेपन, लिंपन, लेप आदि।

सुश्रुतानुसार लेप 3 प्रकार का है-

(1) प्रलेप (2) प्रदेह (3) आलेप

प्रलेप शीत, तनु तथा शोषी या अविशोषी प्रकार का होता है।

प्रदेह यह शीत और उष्ण दोनों प्रकार का होता है, वात और कफ के लिए उष्ण प्रदेह और पित्त के लिए शीत प्रदेह किया जाता है, प्रदेह यह वात कफ का शमन करने वाला, संधान कर, शोधन तथा रोपण करने वाला होता है।

प्रदेह का जब व्रण पर उपयोग होता है, तब उसे कल्क कहते है। इस कल्क व्रण स्राव कम होता है, इसलिए इसे निरूद्धलेपन भी कहते हैं, इससे व्रण के दोषों का शमन होकर व्रण शुद्ध होता है।

शार्ङ्गधर के अनुसार लेप के तीन भेद हैं।

(1) दोषघ्न– 1/4th अंगुल **(Thick)** - शोथादी व्याधी में दोषनाश के लिए।

(2) विषघ्न– 1/3rd अंगुल **(Thick)** - मल्लातक आदि विष से निर्मित शोथ, या कीटदंश के लिए उपयुक्त

(3) वर्ण्य– 1/2 अंगुल **(Thick)** - मुख व्यंगादी वैवर्ण्य दूर करने के लिए उपयुक्त।

लेपविधी करते समय विशेष दक्षता होनी चाहिए–

लेप प्रतिलोम पद्धति से करे, (शरीर पर लोम की दिशा से विरुद्ध दिशा में), अनुलेप ना लगाए, क्योंकी वह केवल लोम पर ही रहता है, प्रतिलोम लेप रोमरंध्र तक जाकर, स्वेदवाहिनीयों में जाकर अपना कार्य करने में समर्थ होता है।

लेप आर्द्र होता है, तभी गुणकारी होता है। इसलिये लेप पूरा सुखने नहीं देना चाहिए। इससे वर्णनाश की सम्भावना हो सकती है।

लेप हेतु– दोषानुसार स्नेह प्रमाण–

दोष	स्नेहप्रमाण
वात दोष	1/4th स्नेह
पित्त दोष	1/6 th स्नेह
कफ दोष	1/8 th स्नेह

सावधानियाँ

(a) रात कों लेप न करें।

(b) एक बार प्रयोग किया हुआ लेपन द्रव्य बाद में फिर से प्रयोग नहीं करना चाहिये।

प्रलेप व आलेप में अन्तर

	प्रलेप	आलेप
1.	शीतल	उष्ण या शीत
2.	तनु	बहल या अबहल
3.	शोषी या अविशोषी	अविशोषी

क्षीरधारा (Ksheer dhara)

धारा कर्म जब दशमूल क्वाथ, चंदुन, उशीर, हाऊबेर, यष्टी मधु, माष आदि द्रव्यों से सिद्ध क्षीर द्वारा कि जाये तो वह क्षीर धारा कहलाती है। क्षीरधारा की सम्पूर्ण प्रक्रिया धाराकर्म समान ही है।

कटि बस्ति (Kati Basti)

यह दो शब्द से मिलकर बना है जिनका अर्थ है।

कटि- कटि प्रदेश (Lumber part of body)

बस्ति- **"वसु- निवासे बस- आच्छादने वस्"** यहाँ वस शब्द - निवास, आच्छादन करने के अर्थ में है। अर्थात् जिस क्रिया से कटि प्रदेश को माषपिष्ट की सहायता से आच्छादित करके सुखोष्ण तैल का धारण कराया जाता है, वह कटि बस्ति कहलाती है। यह बाह्य स्नेहन और स्निग्ध स्वेद है।

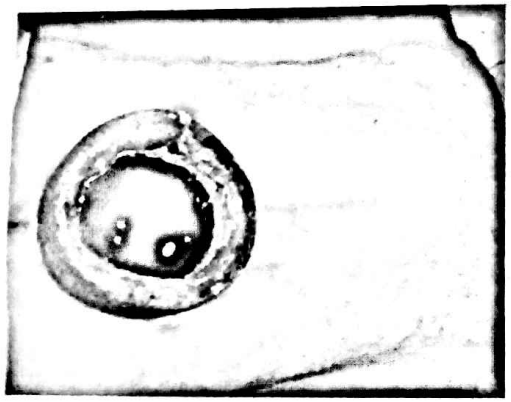

कटि बस्ति

विधि-

- कटी बस्ति के लिए माषपिष्टी लेकर आवश्यक प्रमाण में कोष्ण जल मिलाकर गूथ ले तत्पश्चात् उसका 60 cm/ लम्बाई 2-3 cm मोटाई, 6-7 cm ऊँचाई की आलवाल बनाते हैं।
- रुग्ण का अभ्यंग और मृदु स्वेदन करते हैं।

- रुग्ण को पीठ के बल लिटाकर (Prone position) देकर कटिप्रदेश में स्पर्शासहत्व (Tenderness) की परीक्षा कर माष की वर्तुलाकार (Circular) में आलवाल लगाया जाता है।
- इसमें सुखोष्ण तैल डाला जाता है। परन्तु यह तैल आवरण से बाहर नहीं निकलना चाहिए एवं स्राव (Leak) भी नहीं होना चाहिए।
- तैल का तापमान सम्पूर्ण प्रक्रिया तक एक समान होना चाहिये।
- तैल का तापमान थोडा कम होते ही उसे पिचु (Cotton) से तैल को इकट्ठा कर मंद आँच पर गरम करके पुनः कटि बस्ति में प्रयुक्त तैल में मिश्रित कर देते हैं। रुग्ण को स्नेहदग्ध ना हो इस हेतु विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

अवधि- यह प्रक्रिया 45 मिनिट तक करनी चाहिये। तथा 7/14/21 दिनों तक कटि बस्ति करनी चाहिए।

प्रयुक्त तैल- कटि बस्ति के लिए धान्वन्तर तैल, बला, अश्वगंधा तैल, दशमूल तैल आदि वात या वातकफ हर तैल का प्रयोग करते हैं।

उपयोग- कटीशूल, गृध्रसी, Lumber spondyolysis, spondylitis, osteophytes आदि रोगों में।

विभिन्न प्रकार की बाह्य बस्तियाँ -

इसी प्रकार जिस स्थान पर जो बस्ति लगाई जाती है वह उसी स्थान के नाम से जानी जाती है। यथा-

जानु संधि पर	-	जानु बस्ति
उरः प्रदेश/हृदय प्रदेश	-	उरो बस्ति/हृदय बस्ति
स्कन्ध प्रदेश	-	स्कन्ध बस्ति
ग्रीवा प्रदेश	-	ग्रीवा बस्ति
नाभि प्रदेश	-	चक्र/नाभि बस्ति
नेत्र प्रदेश	-	नेत्र बस्ति

इन सभी को लगाने की विधि/सावधानियाँ अर्थात् पूर्व, प्रधान, पश्चात् कर्म कटि बस्ति के समान है परन्तु स्थानगत रोग एवं उपयोग के अनुसार योग्य एवं अयोग्य आतुर निर्धारण तथा चिकित्सा का फलश्रुति भिन्न-भिन्न होती है।

जानु बस्ति	-	संधिगत वात एवं अन्य जानुगत विकारों में
उरः बस्ति	-	उरः शूल, पर्शुका भग्न (Fracture of rib)
हृदय बस्ति	-	हृद् शूल (Angina) हृद् कम्प (Palpitation)
नेत्र बस्ति/नेत्रतर्पण	-	अक्षि रूक्षता, शुष्कता, तिमिर आदि अन्य नेत्र रोगों में
स्कन्ध बस्ति	-	स्कन्ध शूल, स्कन्ध स्तब्धता (Frozen shoulder)
ग्रीवा बस्ति	-	ग्रीवा शूल, मन्यास्तम्भ, विश्वाची, (Cervical Spondolysis)
नाभि बस्ति/चक्रबस्ति	-	उदर विकार, विबंध, नभि शूल, IBS

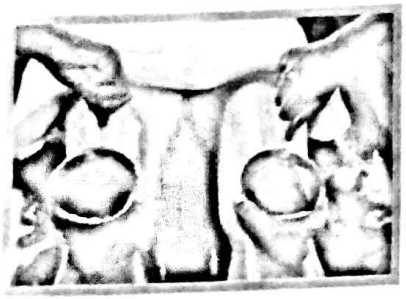

जानु बस्ति

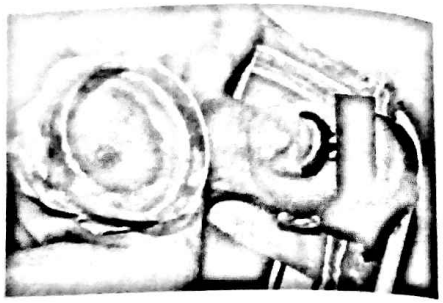

हृदय बस्ति

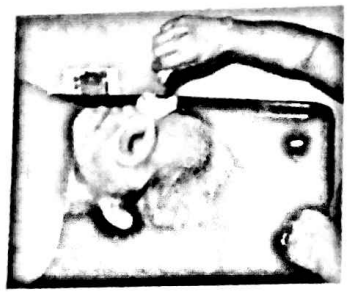

नेत्र बस्ति/नेत्रतर्पण

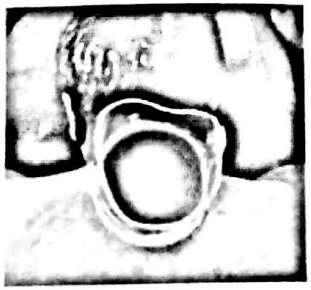

ग्रीवा बस्ति

Sauna bath

A sauna has low humidity and is much hotter than a steam room. There are 2 types of saunas: conventional saunas warm the air in the room and infrared saunas that warm objects using charcoal or active carbon fibers has heating material. They are often heated with stones placed on some kind of heater (usually electric or wood-burning); water is poured on the stones in small intervals that produce a thick cloud of steam. This has the effect of raising the temperature in the sauna by several degrees but the steam quickly disappears. Saunas are usually wood-lined and have wooden benches to sit on. They are insulated to retain the heat but there is no concern about moisture damage to the outside structure.

Method of Sauna bath

- Wear minimal cloth as required
- Drink 1-2 glass of water or any sports drink (avoid caffeine) which has electrolytes.
- Do not take a sauna bath for over 10-15 minutes.
- Discontinue the sauna bath, if feel uncomfortable or become sleepy.

Cool off with cool fresh air and cool water without shocking the system and avoid shivering-take a warm foot bath if there is cold feet and then repeat the session, but not more than 3 sessions at a time in the sauna bath.

- Should not allergic to any aromatherapy oils before use.

Benefits of Sauna bath

- Blood vessels become more flexible and there is increased circulation to the extremities. During a sauna bath, blood flow to the skin increases to as high as 50-70% of cardiac output (compared to the standard 5-10%). This brings nutrients to subcutaneous and surface tissue resulting in glowing healthy skin.
- Sauna heat puts the body into an artificial fever state (hyperthermia). Fever is part of the body's natural healing process. This "fake fever" stimulates the immune system resulting in an increased production of disease fighting white blood cells and antibodies. While the growth of bacteria and virus is forced to slow down.
- It opens skin pores, soothes sore muscles, and increases circulation. However, more than common metabolic waste products are secreted through the skin.
- Athletes use Saunas to loosen tight muscles after a hard workout.

Precautions of sauna bath

- Do not use alcohol prior to or during a sauna bath.
- Body requires adequate time to cool down after workout before expose it to the heat of a sauna to avoid heat stroke. It should be for at least 20 minutes.
- Drink plenty of water before and after the sauna bath to replace fluids lost during the treatment. Symptoms of too much dehydration include dizziness, vertigo, rapid heartbeat, or excessive thirst and also not to eat any large meals
- Limit sauna/steam time to 10 to 15 minutes.

Contraindications

- Epilepsy and other medication like antibiotic and tranquilizers
- Person with low blood pressure(as sauna bath decreases blood pressure)
- Pregnant women should not use sauna.
- Children with precautions.

Steam bath

A steam bath room is a virtually airtight room where steam is fed with the help of a steam generator builds up a humidity level of around 100%. Steam rooms are usually finished in ceramic tile and the ceiling must be slanted so that the steam buildup does not drip from the ceiling onto the bathers. The primary goal of steam rooms is to make the bather sweat for detoxification purposes.

Method of steam bath

Same as sauna bath except shower as this is to moisten the skin and to remove any possible body or fragrant odors, which do not belong to the sauna.

Benefits of Steam bath

The steam bath benefits can be divided into 3 categories:

(a) Physical health benefits
(b) Mental health benefits
(c) Skin health benefits

(A) Physical steam bath benefits

Respiratory troubles like Asthma, Bronchitis, Coughs, Hoarseness and Allergies and a helpful for detoxification, having positive effects on liver and circulation problems Others like

- Arthritis
- Rheumatism
- Stiff joints
- Muscular pain
- Muscular tension

Steam bath works in two ways; it eases the pain and speeds up the healing of hurt tissue and muscles. The heat enlarges blood vessels which boosts blood circulation, this makes th oxygen and nutrients can get to the injured parts of your body more easily

(B) Mental steam bath benefits

- Stress
- Anxiety
- Sleeping disorders (especially through over-excitability)
- Negative energies

(C) Skin health benefits

- Dry skin

× × ×

अध्याय–4

वमन कर्म
(Vamana Karma)

वमन परिचय (Introduction)

वमन का सामान्य अर्थ है- उल्टी, कय

जिस प्रक्रिया में उर्ध्व मार्ग से दोषों को बाहर निकाला जाता है, वह वमन कहलाता है। वमन उर्ध्वमागहर शोधन है।

वम में ल्युट् प्रत्यय लगने से पुल्लिंग वमन शब्द बनता है। जिसके चार अर्थ है-

(1) छर्दि (उल्टी)
(2) मर्दन करना
(3) निःसारण या निकाल देना और
(4) सर्ग या अभिष्यंदन।

पर्याय– छर्दि, प्रच्छर्दन, निःसारण, अभिष्यन्दन आहरण।

वमन परिभाषा (Definition)

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभाग वमनसंज्ञकम्। (च. कु. 1/4)

ऊर्ध्वभाग अर्थात् मुखमार्ग से प्रकुपित वातादि दोष और शरीर में बाधा करने वाले मलों का निकालना वमन कहा जाता है।

कफ की चिकित्सा के लिए वमन सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कफ का प्रमुख स्थान आमाशय है और दोषों को निकटतम मार्ग से निकालने के सिद्धान्त के अनुसार चयपूर्वक ऊपर आए हुए दोषों का वमन द्वारा निर्हरण किया जाता है।

भावप्रकाश और शार्ङ्गधरानुसार वमन परिभाषा :-

अपक्वं पित्तश्लेष्माणौ बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत्।
वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्यफलं यथा।। (शा. पू. ख. 4/8)

अपक्व (दुष्ट) पित्त और कफ को बलपूर्वक ऊपर ले जाकर मुख द्वारा बाहर निकालने की क्रिया को वमन कहा जाता है। जैसे मदनफल द्वारा।

चिकित्सक द्वारा चिकित्सा हेतु जो (उल्टी) (अर्थात् मुख मार्ग द्वारा दोषों को बहार निकालना) करवाई जाती है वह वमन कहलाता है। तथा जो स्वंय होती है अर्थात् किसी रोग विशेष में या स्वयं एक रोग के रूप में या उपद्रव के रूप में हो तो वह छर्दि कहलाती है।

वमन का महत्त्व एवं प्रयोजन (Importance and aim of Vaman Karma)

1. वमन की प्रधानता– कफ रोगों की प्रधान चिकित्सा में वमन कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा गया हैं वामक द्रव्य (जैसे मदनफल) आमाशय में जाकर अपने प्रभाव से सम्पूर्ण विकृत कफ को मुख द्वार (उर्ध्वमार्ग) से बाहर निकल कर शरीर का शोधन करते हैं।

तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्म विकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा– भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्ठिकादीन्यनभिष्य–घमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति। (च. सू. 20/19)

आमाशय कफ का प्रमुख स्थान है और वहाँ से कफ का शोधन कर देने पर अन्य स्थानों में फैले कफज विकारों का भी शमन हो जाता है। जैसे किसी की क्यारी का बाँध टूटने पर सारा जल बाहर निकल जाता है जिससे जल सिंचन के कारण उत्पन्न होने वाले धान्य, साठी आदि अन्न भी सूख जाते हैं। उसी प्रकार जल स्वरूप विकृत कफ को निकल जाने पर उससे पलित या पुष्ट होने वाले रोग स्वयं शांत हो जाते हैं।

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा व स्त्रोतलीना ये शाखास्थिसंस्थाः।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हियन्ते।। (अ. ह. सू. 17/29)

2. सम्पूर्ण शरीर का शोधन– वमन द्वारा आमाशय का ही शोधन नहीं होता अपितु सम्पूर्ण शरीर का शोधन होता है। वमन से पूर्व स्नेहन स्वेदन कर्म किया जाता है जिससे शरीर में क्लेद की मात्रा बढ़ती है इस बढे हुए क्लेद में दोष घुलकर आमाशय में आ जाते हैं। जब वमन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है तो वमन द्रव्य अपने ऊष्ण, तीक्ष्ण आदि गुणों के प्रभाव से तथा अणु प्रणव भाव से तथा अपने प्रभाव व आकाश वायु महाभूत प्रधान होने के कारण ये दोषों को ऊपर की ओर ले जाने के स्वभाव से उर्ध्वमार्ग (मुखमार्ग) द्वारा बाहर निकाल देते हैं।

3. धातुगत शोधन– कोष्ठगत दोष, रस रक्तादि धातुओं में व्याप्त दोष, शाखा तथा अस्थियों में स्थित दोषों का पहले पूर्वकर्म (स्नेहन) द्वारा आर्द्र किया जाता है तथा फिर स्वेदन द्वारा क्लेद का आधिक्य होता है इस प्रकार द्रवित दोष कोष्ठ एवं महास्त्रोत में पहुँच जाते हैं और फिर वमन कर्म द्वारा अपने प्रभाव से दोष मुखमार्ग द्वारा बाहर निकाल दिऐ जाते हैं। जिससे धातुगत, शाखागत तथा अस्थियों में स्थित कफगत विकारों का भी शमन हो जाता है।

4. सद्यः लाभकारी :– अजीर्ण, विषपीत, अलसक, विरुद्धाहार, विसूचिका आदि रोगों में वमन एक सद्यः लाभकारी चिकित्सा है।

5. आचार्य सुश्रुत के अनुसार– जिस प्रकार वृक्ष के काटे जाने पर फूल, फल आदि का नाश हो जाता है उसी प्रकार वमन द्वारा कास, स्त्रोतों में मल, स्वरभेद, निद्राधिक्य, तन्द्रा, मुख दौगन्ध्य, विषजन्य उपद्रव, लालास्राव और ग्रहणी विकार नष्ट होते हैं।

वमन के योग्य रोग और रोगी (Indication of Vaman Karma)

.....शेषास्तु वम्याः विशेषतस्तु पीनस कुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वास गलग्रहगलगंड श्लीपदमेह-मन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसक विषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधःशोणितपित्तप्रसेक (दूर्नाम) हल्लासा रोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसार शोफ पाण्डुरोग मुखपाक दुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयोविशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च।। (च. सि. 2/10)

वाम्यास्तु विषशोषस्तन्यदोष मंदाग्नि उन्मादापस्मार श्लीपदार्बुदविदारिका मेदोमेह गरज्वरारुच्यपच्या-मातीसार हृद्रोग चित्तविभ्रम विसर्प विद्रध्यजीर्णमुखप्रसेक हल्लासश्वासकासपीनस पूतीनास कंठौष्ठ वक्त्रपाक कर्णस्रावाधिजिह्विकोपजिह्विका, गलशुंडिकाधःशोणित पित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेषु अन्ये च कफव्याधि-परीता इति।। (सु. चि. 33/18)

1. पीनस	2. कुष्ठ	3. नवज्वर	4. राजयक्ष्मा	5. कास
6. श्वास	7. गलग्रह	8. श्लीपद	9. गलगण्ड	10. प्रमेह
11. मंदाग्नि	12. विरुद्धाहार	13. अजीर्ण	14. विसूचिका	15. अलसक
16. विषपीत	17. विग्धविद्ध	18. अधो रक्तपित्त	19. मुख प्रेसक	20. दुर्नाम (अर्श)
21. हृल्लास	22. अरुचि	23. अविपाक	24. अपची	25. ग्रंथि
26. अपस्मार	27. उन्माद	28. अतिसार	29. शोफ	30. पाण्डु
31. मुखपाक	32. स्तन्यदुष्टि	33. अर्बुद	34. विदारिका	35. मेदोरोग
36. हृदयरोग	37. विसर्प	38. विद्रधि	39. चित्तविभ्रम	40. पूतिनाश
41. कण्ठपाक	42. कर्णस्त्राव	43. अधिजिह्विका	44. गलशुण्डिका	45. कफज रोग

वमन के अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Vaman karma)

अवम्यास्तावत––क्षतक्षीणातिस्थूलातिकृश बाल वृद्धदुर्बल श्रान्त पिपासित क्षुधित कर्मभाराध्वहतोप-वासित मैथुनाध्ययनव्यायामचिंता प्रसक्त क्षामगर्भिणीसुकुमार संवृत कोष्ठ दुश्छर्दनोर्ध्व रक्तपित्त प्रसक्तच्छर्दिरुर्ध्व वातास्थापितानुवासित हृद्रोगोदावर्त मूत्राघात प्लीह गुल्मोदराष्ठीला स्वरोपघात तिमिर शिरः शंखकर्णाक्षि शूलार्ताः। (च. सि. 2/8)

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदर प्लीह कृमिश्रमार्तान्। स्थूल क्षतक्षीण कृशातिवृद्ध मूत्रातुरान् केवल वातरोगान्।। स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्त दुश्छर्दिदुःकोष्ठ तृडार्त बालान्। ऊर्ध्वांसपित्ति क्षुधितातिरुक्ष गर्भिण्युदावर्ति निरुहितांश्च।। (सु. चि. 33/14-15)

1. बाल	2. वृद्ध	3. दुर्बल	4. श्रान्त	5. पिपासित
6. क्षुधित	7. अध्ययन प्रसक्त	8. मैथुन प्रसक्त	9. व्यायाम प्रसक्त	10. चिंता प्रसक्त
11. गर्भिणी	12. सुकुमार	13. उर्ध्व रक्तपित्त	14. मूत्राघात	15. आस्थापित
16. अनुवासित	17. प्लीहादोष	18. अतिकृश	19. अतिस्थूल	20. क्षतक्षीण
21. कर्म हत	22. भार हत	23. अध्व हत	24. उपवासित	25. क्षाम
26. सवृत्त कोष्ठ	27. कृमि कोष्ठ	28. दुश्छर्दन	29. प्रसक्त छर्दि	30. ऊर्ध्ववात
31. हृद् रोग	32. उदावर्त	33. गुल्म	34. उदर	35. अष्ठीला
36. तिमिर	37. अर्श	38. वात व्याधि	39. पार्श्व रुक्	40. श्रम
41. नित्य दुःखी	42. स्वरोपघात	43. अक्षिशूल	44. कर्णशूल	45. शंख-शिर शूल

अयोग्यों को वमन कराने से संभवित विकार–

1. क्षतक्षीण में वमन कराने से क्षत में वृद्धि होकर रक्त की अति प्रवृत्ति होने की सम्भावना रहती है।

2. क्षीण, दुर्बल, अतिस्थूल, अतिबाल, वृद्ध, थके हुए, क्षुधा से पीडित आतुर में वमन के आवेगजन्य क्लेश सहन करने की क्षमता न होने से प्राणोपरोध (भयंकर रुजा) सम्भव है।

3. काम करने से थके हुए, रास्ता चलने से, उपवास, मैथुन, व्यायामादि से थके हुए, चिंताप्रसक्त, क्षाम (जर्जर) आतुरों में रुक्षता अधिक होती है, वमन से रुक्षता में वृद्धि के कारण, वात प्रकोप से रक्तस्राव अथवा क्षत का भय होता है।

4. गर्भिणियों में गर्भव्यापद्, आमगर्भ, गर्भभ्रंश उत्पन होकर भयंकर प्रकार के उपद्रव सम्भव है।

वमन का महत्त्व एवं प्रयोजन (Importance and aim of Vaman Karma)

1. वमन की प्रधानता– कफ रोगों की प्रधान चिकित्सा में वमन कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है वामक द्रव्य (जैसे मदनफल) आमाशय में जाकर अपने प्रभाव से सम्पूर्ण विकृत कफ को मुख द्वार (उर्ध्वमार्ग) से बाहर निकाल कर शरीर का शोधन करते हैं।

तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्म विकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा– धिन्ने केदारसेतौ शालियवयष्टिकादीन्यनधिष्य–धमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति। (च. सू. 20/19)

आमाशय कफ का प्रमुख स्थान है और वहाँ से कफ का शोधन कर देने पर अन्य स्थानों में फैले कफज विकारों का भी शमन हो जाता है। जैसे किसी की क्यारी का बाँध टूटने पर सारा जल बाहर निकल जाता है जिससे जल सिंचन के कारण उत्पन्न होने वाले धान्य, साठी आदि अन्न भी सूख जाते हैं। उसी प्रकार जल स्वरूप विकृत कफ को निकल जाने पर उससे पलित या पुष्ट होने वाले रोग स्वयं शांत हो जाते हैं।

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा व स्त्रोतलीना ये शाखास्थिसंस्थाः।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हियन्ते।। (अ. हृ. सू. 17/29)

2. सम्पूर्ण शरीर का शोधन– वमन द्वारा आमाशय का ही शोधन नहीं होता अपितु सम्पूर्ण शरीर का शोधन होता है। वमन से पूर्व स्नेहन स्वेदन कर्म किया जाता है जिससे शरीर में क्लेद की मात्रा बढ़ती है इस बढे हुए क्लेद में दोष घुलकर आमाशय में आ जाते हैं। जब वमन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है तो वमन द्रव्य अपने ऊष्ण, तीक्ष्ण आदि गुणों के प्रभाव से तथा अणु प्रणव भाव से तथा अपने प्रभाव व आकाश वायु महाभूत प्रधान होने के कारण से दोषों को ऊपर की ओर ले जाने के स्वभाव से उर्ध्वमार्ग (मुखमार्ग) द्वारा बाहर निकाल देते हैं।

3. धातुगत शोधन– कोष्ठगत दोष, रस रक्तादि धातुओं में व्याप्त दोष, शाखा तथा अस्थियों में स्थित दोषों का पहले पूर्वकर्म (स्नेहन) द्वारा आर्द्र किया जाता है तथा फिर स्वेदन द्वारा क्लेद का आधिक्य होता है इस प्रकार द्रवित दोष कोष्ठ एवं महास्त्रोत में पहुँच जाते हैं और फिर वमन कर्म द्वारा अपने प्रभाव से दोष मुखमार्ग द्वारा बाहर निकाल दिऐ जाते हैं। जिससे धातुगत, शाखागत तथा अस्थियों में स्थित कफगत विकारों का भी शमन हो जाता है।

4. सद्यः लाघकारी :– अजीर्ण, विषपीत, अलसक, विरुद्धाहार, विसूचिका आदि रोगों में वमन एक सद्य लाघकारी चिकित्सा है।

5. आचार्य सुश्रुत के अनुसार– जिस प्रकार वृक्ष के काटे जाने पर फूल, फल आदि का नाश हो जाता है उसी प्रकार वमन द्वारा कास, स्त्रोतों में मल, स्वरभेद, निद्राधिक्य, तन्द्रा, मुख दौर्गन्ध्य, विषजन्य उपद्रव, लालास्राव और ग्रहणी विकार नष्ट होते हैं।

वमन के योग्य रोग और रोगी (Indication of Vaman Karma)

.....शेषास्तु वम्याः विशेषतस्तु पीनस कुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वास गलग्रहगलगंड श्लीपदमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविषूचिकालसक विषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधःशोणितपित्तप्रसेक (दूर्नाम) हल्लास रोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसार शोफ पाण्डुरोग मुखपाक दुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयोविशेषेण ग्रहणीरोगाध्यायोक्ताश्च।। (च. सि. 2/10)

वाम्यास्तु विषशोषस्तन्यदोष मंदाग्नि उन्मादापस्मार श्लीपदार्बुदविदारिका मेदोमेह गरज्वरारुच्यपच्यामातीसार हृद्रोग चित्तविप्लव विसर्प विद्रध्यजीर्णमुखप्रसेक हल्लासश्वासकासपीनस पूतीनास कंठौष्ठ हनुग्रह कर्णस्रावाधिजिह्विकोपजिह्विका, गलशुंडिकाधःशोणित पित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेषु अन्ये च कफव्याधयो वमनीया इति।। (सु. चि. 33/18)

1. पीनस	2. कुष्ठ	3. नवज्वर	4. राजयक्ष्मा	5. कास
6. श्वास	7. गलग्रह	8. श्लीपद	9. गलगंड	10. प्रमेह
11. मंदाग्नि	12. विरुद्धाहार	13. अजीर्ण	14. विषूचिका	15. अलसक
16. विषपीत	17. विषविद्ध	18. अधो रक्तपित्त	19. मुख प्रसेक	20. दुर्नाम (अर्श)
21. हल्लास	22. अरुचि	23. अविपाक	24. अपच्य	25. ग्रंथि
26. अपस्मार	27. उन्माद	28. अतिसार	29. शोफ	30. पाण्डु
31. मुखपाक	32. स्तन्यदुष्टि	33. अर्बुद	34. विदारिका	35. मेदोरोग
36. हृदयरोग	37. विसर्प	38. विद्रधि	39. चित्तविप्लव	40. पूतिनास
41. कण्ठपाक	42. कर्णस्राव	43. अधिजिह्विका	44. गलशुण्डिका	45. कण्ठ रोग

वमन के अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Vaman karma)

अवम्यास्तावत––क्षतक्षीणातिस्थूलातिकृश बाल वृद्धदुर्बल श्रान्त पिपासित क्षुधित गर्भवत्यबलोपवासित मैथुनाध्ययनव्यायामचिंता प्रसक्त क्षामगर्भिणीसुकुमार संवृत कोष्ठ दुश्छर्दनोर्ध्वं स्वपित्त प्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्वं वातास्थापितानुवासित हृद्रोगोदावर्त मूत्राघात प्लीह गुल्मोदराष्ठीला स्वरोपघात तिमिर शिरः शंखकर्णाक्षि शूलार्ताः। (च. सि. 2/8)

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदर प्लीह कृमिश्रमार्तान्। स्थूल क्षतक्षीण कृशातिवृद्ध मूत्राघातुरान् केवल वातरोगान्।। स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्त दुश्छर्दिदुःकोष्ठ तृडार्त बालान्। ऊर्ध्वांसपित्त क्षुधितातिरक्त गर्भिण्युदावर्तिन निरुहितांश्च।। (सु. चि. 33/14-15)

1. बाल	2. वृद्ध	3. दुर्बल	4. श्रान्त	5. पिपासित
6. क्षुधित	7. अध्ययन प्रसक्त	8. मैथुन प्रसक्त	9. व्यायाम प्रसक्त	10. चिंता प्रसक्त
11. गर्भिणी	12. सुकुमार	13. उर्ध्व रक्तपित्त	14. मूत्राघात	15. आस्थापित
16. अनुवासित	17. प्लीहादोष	18. अतिकृश	19. अतिस्थूल	20. क्षतक्षीण
21. कर्म हत	22. भार हत	23. अध्व हत	24. उपवासित	25. क्षाम
26. संवृत्त कोष्ठ	27. कृमि कोष्ठ	28. दुश्छर्दन	29. प्रसक्त छर्दि	30. ऊर्ध्ववात
31. हृद् रोग	32. उदावर्त	33. गुल्म	34. उदर	35. अष्ठीला
36. तिमिर	37. अर्श	38. वात व्याधि	39. पार्श्व रुक्	40. श्रम
41. नित्य दुःखी	42. स्वरोपघात	43. अक्षिशूल	44. कर्णशूल	45. शंख-शिर शूल

अयोग्यों को वमन कराने से संभवित विकार–

1. क्षतक्षीण में वमन कराने से क्षत में वृद्धि होकर रक्त की अति प्रवृत्ति होने की सम्भावना रहती है।

2. क्षीण, दुर्बल, अतिस्थूल, अतिबाल, वृद्ध, थके हुए, क्षुधा से पीडित आतुर में वमन के आवेगजन्य क्लेश सहन करने की क्षमता न होने से प्राणोपरोध (भयंकर रूजा) सम्भव है।

3. काम करने से थके हुए, रास्ता चलने से, उपवास, मैथुन, व्यायामादि से थके हुए, चिंताप्रसक्त, क्षाम (जर्जर) आतुरों में रुक्षता अधिक होती है, वमन से रुक्षता में वृद्धि के कारण, वात प्रकोप से रक्तस्राव अथवा क्षत का भय होता है।

4. गर्भिणियों में गर्भव्यापद्, आमगर्भ, गर्भभ्रंश उत्पन होकर भयंकर प्रकार के उपद्रव सम्भव है।

5. संवृतकोष्ठ, दुच्छर्दी में (जिन्हें वमन जल्दी नहीं होता) वमन हेतु अधिक कुथन करना पड़ता है और प्रवाहण से अंत:कोष्ठ में प्रसृत होकर वीसर्प, स्तंम्भ, जाड्य, या मरण भी सम्भव है।

6. सुकुमारों में वमन कराने से हृदय में अपकर्षण (खींचा जाने जैसी पीड़ा) होकर, ऊर्ध्व भाग या अधोभाग से रक्त निकलता है।

7. ऊर्ध्वरक्तपित्ती आतुर को वमन कराने पर उदानवायु उत्क्षिप्त होकर प्राण को हरता है तथा रक्त की अति प्रवृत्ति सम्भव है।

8. प्रसक्त छर्दि (पहले से ही छर्दि हो रही हो) आतुरों में भी उपर्युक्त दोष है।

9. ऊर्ध्ववात में जिनको निरूह बस्ति दी है, अनुवासन बस्ति दी है, उनको वमन से वायु को ऊपर की तरफ प्रवृत्ति होती है।

10. हृद्रोगी आतुर को वमन कराने से हृदयोपरोध सभव है।

11. उदावर्ती आतुर को वमन देने से घोर उदावर्त होता है।

12. मूत्राघातादि से पीडितों को वमन करवाने पर अत्यन्त तीव्र रुजा होती है।

13. तिमिररोग में तिमिरवृद्धि, शिरःशूल में शूल वृद्धि होती है।

आचार्य सुश्रुत ने हृदय रोग वमन करा सकते है परन्तु आचार्य चरक ने निषेध किया है चरक ने अर्श में वमन निर्देशित किया है परन्तु वाग्भट्ट से निषेध किया है।

वमन द्रव्यों के गुण कर्म (Properties of Vaman dravya)– गुण निम्न होते हैं-

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्म व्यवायिविकाशीन्यौचधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य...। (च. क. 1/5)

(1) ऊष्ण (2) तीक्ष्ण (3) सूक्ष्म
(4) व्यवायी (5) विकासी (6) प्रभाव

1. **ऊष्ण**– वामक द्रव्य अपने ऊष्ण गुण के कारण दोषों का विष्यन्दन (पकाकर गलाना) करते हैं। जिससे दोष कोष्ठ में चले जाते हैं।

(2) **तीक्ष्ण**– यह शीघ्रकारी और आग्नेय है जिससे दाह, पाक, स्त्राव होता हैं। वामक द्रव्य अपने तीक्ष्ण गुण के कारण दोषों का पाचन और छेदन कर अपने स्थान से स्त्रवित करते हैं।

(3) **सूक्ष्म** – यह आकाशीय, वायवीय और तेजस महाभूत युक्त होता है सूक्ष्म गुण वाले द्रव्य अपने अणु प्रवण भाव से दोषों को कोष्ठ में लाते हैं। सूक्ष्म गुण के कारण यह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्त्रोत में प्रवेश (यह अणुत्व भाव है।) कर वहाँ से दोषों का पाचन, विष्यंदन कर कोष्ठ में लाते हैं। (कोष्ठ की ओर लाना प्रवणता है)

(4) **व्यवायी**–इस गुण के कारण वामक द्रव्य अपने पाचन होने से पहले ही अपना कार्य सम्पन्न कर देते हैं।

(5) **विकासी गुण**–इस गुण के कारण वामक द्रव्य धातुओं में स्थित दोषों को पृथक करने में सहायक होते हैं।

(6) **ऊर्ध्वभाग प्रवृत्ति प्रभाव**– वामक द्रव्य अग्नि तथा वायु महाभूत प्रधान होने से दोषों को उर्ध्वभाग की ओर फेंकने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु चक्रपाणि ने वामक द्रव्य के प्रभाव को ही उर्ध्वभाग प्रवृत्त माना है न कि महाभूतों के कारण।

वमन द्रव्य (प्रमुख)–

मूलनी एवं फलनी वामक द्रव्य

शणपुष्पी च बिंबी च छर्दने हैमवत्यपि। (च. सू. 1/80)
धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी।
एतानि वमने चैव.....। (च. सू. 1/85-86)

1. मदनफल 2. जीमूतक 3. इन्द्रयव 4. धामार्गव
5. कुटज 6. कृतवेधन 7. वचा 8. देवदाली

वमन द्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनपायित्वात्। (च. क. 1/13)
आचार्य चरक और सुश्रुत ने मदनफल को श्रेष्ठ वामक द्रव्य कहा जाता है।

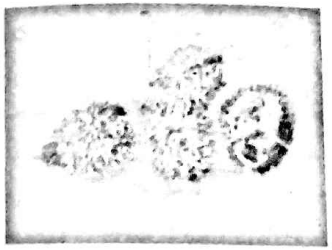

जीमूतक फल

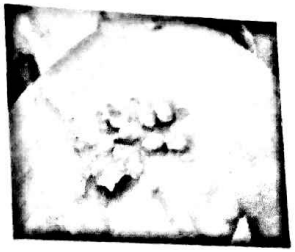

जीमूतक बीज

वमनोपग द्रव्य–

मधु मधुक कोविदार कर्बुदार नीप विदुलबिंबी, शणपुष्पी सदापुष्पा प्रत्यक्पुष्पा इति दशेमानि वमनोपगानि भवति।। (च. सू. 4/8 (23))
जो द्रव्य वमन में सहायक होते हैं-

1. मुलेठी 2. लाल कचनार 3. श्वेत कचनार 4. कदम्ब 5. हिन्जल
6. कडवी कुन्दर 7. मदार 8. शणपुष्पी 9. अपामार्ग 10. मधु

वमन द्रव्यों की कल्पना (Formulations of Vaman dravya)–

आचार्य चरक ने वमन द्रव्यों का प्रयोग अनेक रूपों में करने का संकेत दिया है। क्योंकि रोगी की प्रकृति, देश, काल आदि का विचार करके किया गया प्रयोग सफल होता है।

वामक द्रव्यों (मदनफलादि) की निम्न कल्पनाएँ बतायी हैं-

1. चूर्ण 2. कल्क 3. कषाय 4. वर्ति 5. यवागु
6. षाडव 7. नवनीत 8. अवलेह 9. कृशरा 10. तक्र
11. मस्तु 12. घृत 13. मांसरस 14. इक्षुरस

आदि लगभग 33 प्रकार की कल्पना का वर्णन है।

वमन द्रव्यों की विभिन्न कल्पनाएँ

क्र.	कल्पना	मदनफल	जीमूतक	इक्ष्वाकु	धामार्गव	वत्सक	कृतवेधन
1.	कषाय	9+8 (मात्रा)	12+7 +4	9+6 (वर्धमान योग)	20	9	22
2.	क्षीरपाक	1	6	8	4	–	4
3.	घृत	1	1	1	1	–	1
4.	दही, दधि सर, तक्र	2	–	2	–	–	–
5.	नवनीत	1	–	–	–	–	–
6.	घृत	1	–	1	1	–	–
7.	फाणित	1	–	–	–	–	–
8.	चूर्ण, कल्क	1	–	–	1	5	–
9.	वर्तिक्रिया	6	8	8	–	–	6
10.	लेह	20+1	–	5	10	–	8
11.	उत्कारिका	20+1	–	–	–	–	–
12.	मोदक	20+1	–	–	–	–	–
13.	अपुप	16	–	–	–	–	–
14.	शष्कुली	16	–	–	–	–	–
15.	रागषाडव	2	–	–	–	–	–
16.	तर्पण, पानक, मंथ	2	–	1	–	–	–
17.	सुरामंड, मद्य	1	1	1	1	–	1
18.	मांसरस	1	–	2	–	–	7
19.	यूष	1	–	–	–	–	–
20.	तैल	–	–	1	–	–	–
21.	गुटिका (पल्लव)	–	–	–	9	–	–
22.	सलिल	–	–	–	–	3	–
23.	कृशरा, अन्न	–	–	–	1 भा.	1 कृ.	–
24.	पिच्छा	–	–	–	–	–	10
25.	इक्षुरस	–	–	–	–	–	1
26.	शकृद्रस	–	–	–	12	–	–
	कुल	133	39	45	60	18	60

इसमें '+' चिह्न का तात्पर्य- वर्णित संदर्भ में अन्य स्थान पर भी योग निर्देशित है जैसे मदनफल कषाय के 9+8 का तात्पर्य 9 कषाय के अतरिक्त 8 अन्य जगह कषाय (मात्रा के नाम से) वर्णित है।

वमन विधि (Procedure of Vaman Karma)-

पूर्वकर्म (Poorva karma)-

पूर्व कर्म को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है-

1. संभार संग्रह 3. आतुर सिद्धता 2. आतुर परीक्षा

1. संभार संग्रह (Collection of necessary facilities) :-

सामग्री तथा उपकरण (Equipments) – वमन योग्य एक कक्ष जिसमें पानी, शौचालय की व्यवस्था होनी चाहिए। उपकरण में वमन पीठ या एक कुर्सी, बाल्टी, टेबल, गिलास, कटोरी, भगोनी, नेपकीन, कमल पुष्प नलिका, वमन पात्र, ऊष्ण जल पात्र, नेत्रबंधन पट्टिका, दस्ताने आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

औषध (Medicine) – वमन कारक औषध योगों को तैयार करने के लिए औषधी को संचित करके रखना वमन के उपद्रवों के शमन हेतु भी पहले से ही औषधि की व्यवस्था चाहिए। अर्थात् वामक एवं वमनोपग तथा उपद्रव निवारण औषधियाँ होने तथा आकण्ठ पान हेतु दूध, इक्षु रस आदि होने चाहिए।

दूध / इक्षु = 2- 3 लीटर मुलेठी फाण्ट = 2- 3 लीटर

लवणोदक 2-3 लीटर शुद्ध जल 2-3 लीटर

परिचारक (Assisting Staff) – वमन हेतु (4) परिचारक की आवश्यकता होती है।

2. आतुर परीक्षा (Examination of the patient)

(a) आतुर परीक्षण– रोगी वमन योग्य है या नहीं इसका निर्णय किया जाता है यह देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व प्रकृति के आधार पर किया जाता है।

(b) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – रोगी का वमन कराने से पूर्व चिकित्सा में उत्पन्न होने वाले उपद्रव आदि की जानकारी देते हैं तथा उसकी लिखित में सहमति ले लेते हैं।

(c) तापक्रमादि सारणी (Vital recording)- रोगी का तापक्रम, नाड़ी गति, श्वसन गति, रक्तचाप, वजन आदि का मापन सम्पूर्ण वमन प्रक्रिया में 4 बार किया जाता है। (1. पूर्व कर्म, 2. प्रधान कर्म में 2 बार, वमन योग से पूर्व तथा पश्चात् 3. पश्चात् कर्म में)

3. आतुर सिद्धता (Preparation of patient)-

अथच्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नं छर्दयितव्यतितव्यमिति ग्राम्यानूपौदक मांसरस क्षीरदधिमाषातिलशाकादिधिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं.... (च. क. 1/14)

ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः।। (च. सि. 1/8)

नरः श्वो वमनं पाता भुंजीत कफवर्धनं।। (च. सि. 6/18)

(a) जिस रोगी का वमन कर्म करवाना है उस रोगी को एक दिन पूर्व गुरु उत्क्लेशित आहार दिया जाता है जैसे- खीर, घी, केला, दही, रबडी आदि कफवर्धक आहार दिया जाता है तथा प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् उसका वमन कर्म करवाया जाता है।

वमन द्रव्यों की विभिन्न कल्पनाएँ

क्र.	कल्पना	मदनफल	जीमूतक	इक्ष्वाकु	धामार्गव	वत्सक	कृतवेधन
1.	कषाय	9+8 (मात्रा)	12+7 +4	9+6 (वर्धमान योग)	20	9	22
2.	क्षीरपाक	1	6	8	4	–	4
3.	घृत	1	1	1	1	–	1
4.	दही, दधि सर, तक्र	2	–	2	–	–	–
5.	नवनीत	1	–	–	–	–	–
6.	घ्रेय	1	–	1	1	–	–
7.	फाणित	1	–	–	–	–	–
8.	चूर्ण, कल्क	1	–	–	1	5	–
9.	वर्तिक्रिया	6	8	8	–	–	6
10.	लेह	20+1	–	5	10	–	8
11.	उत्कारिका	20+1	–	–	–	–	–
12.	मोदक	20+1	–	–	–	–	–
13.	अपुप	16	–	–	–	–	–
14.	शष्कुली	16	–	–	–	–	–
15.	रागषाडव	2	–	–	–	–	–
16.	तर्पण, पानक, मंथ	2	–	1	–	–	–
17.	सुरामंड, मद्य	1	1	1	1	–	1
18.	मांसरस	1	–	2	–	–	7
19.	यूष	1	–	–	–	–	–
20.	तैल	–	–	1	–	–	–
21.	गुटिका (पल्लव)	–	–	–	9	–	–
22.	सलिल	–	–	–	–	3	–
23.	कृशरा, अन्न	–	–	–	1 भा.	1 कृ.	–
24.	पिच्छा	–	–	–	–	–	10
25.	इक्षुरस	–	–	–	–	–	1
26.	शकृद्रस	–	–	–	12	–	–
	कुल	133	39	45	60	18	60

इसमें '+' चिह्न का तात्पर्य- वर्णित संदर्भ में अन्य स्थान पर भी योग निर्देशित है जैसे मदनफल कषाय के 9+8 का तात्पर्य 9 कषाय के अतिरिक्त 8 अन्य जगह कषाय (मात्रा के नाम से) वर्णित है।

वमन विधि (Procedure of Vaman Karma)-

पूर्वकर्म (Poorva karma)-

पूर्व कर्म को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है-

1. संभार संग्रह 3. आतुर सिद्धता 2. आतुर परीक्षा

1. संभार संग्रह (Collection of necessary facilities) :-

सामग्री तथा उपकरण (Equipments) – वमन योग्य एक कक्ष जिसमें पानी, शौचालय की व्यवस्था होनी चाहिए। उपकरण में वमन पीठ या एक कुर्सी, बाल्टी, टेबल, गिलास, कटोरी, भगोनी, नेपकीन, कमल पुष्प नलिका, वमन पात्र, ऊष्ण जल पात्र, नेत्रबंधन पट्टिका, दस्ताने आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

औषध (Medicine) – वमन कारक औषध योगों को तैयार करने के लिए औषधी को संचित करके रखना वमन के उपद्रवों के शमन हेतु भी पहले से ही औषधि की व्यवस्था चाहिए। अर्थात् वामक एवं वमनोपग तथा उपद्रव निवारण औषधियाँ होने तथा आकण्ठ पान हेतु दूध, इक्षु रस आदि होने चाहिए।

दूध / इक्षु = 2- 3 लीटर मुलेठी फाण्ट = 2- 3 लीटर

लवणोदक 2-3 लीटर शुद्ध जल 2-3 लीटर

परिचारक (Assisting Staff) – वमन हेतु (4) परिचारक की आवश्यकता होती है।

2. आतुर परीक्षा (Examination of the patient)

(a) आतुर परीक्षण– रोगी वमन योग्य है या नहीं इसका निर्णय किया जाता है यह देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व प्रकृति के आधार पर किया जाता है।

(b) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – रोगी का वमन कराने से पूर्व चिकित्सा में उत्पन्न होने वाले उपद्रव आदि की जानकारी देते हैं तथा उसकी लिखित में सहमति ले लेते हैं।

(c) तापक्रमादि सारणी (Vital recording)- रोगी का तापक्रम, नाड़ी गति, श्वसन गति, रक्तचाप, वजन आदि का मापन सम्पूर्ण वमन प्रक्रिया में 4 बार किया जाता है। (1. पूर्व कर्म, 2. प्रधान कर्म में 2 बार, वमन योग से पूर्व तथा पश्चात् 3. पश्चात् कर्म में)

3. आतुर सिद्धता (Preparation of patient)-

अथच्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नं छर्दयितव्यतितव्यमिति ग्राम्यानूपौदक मांसरस क्षीरदधिमाषातिलशाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं.... (च. क. 1/14)

ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः।। (च. सि. 1/8)

नरः श्वो वमनं पाता भुंजीत कफवर्धनं।। (च. सि. 6/18)

(a) जिस रोगी का वमन कर्म करवाना है उस रोगी को एक दिन पूर्व गुरु उत्क्लेशित आहार दिया जाता है जैसे- खीर, घी, केला, दही, रबडी आदि कफवर्धक आहार दिया जाता है तथा प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् उसका वमन कर्म करवाया जाता है।

कृतबलि होम मंगल प्रायश्चित्तं निरन्नमनतिस्निग्धंयवाग्वाघृतमात्रां पीतवन्तम्...। (च. क. 1/14)

च. पा.–अनतिस्निग्धमित्यादिना वमन दिन एव घृत मात्रा युक्त यवागूपानपूर्वकं वमनमनतिस्निग्धपुरुष विषयं ब्रूते। अन्ये तु पूर्वदिन एवानति स्निग्धस्य घृतमात्रां पीतवत एव यवाग्वाः पानमाहुः पेशलैः विविधै.... (सुश्रुत) इत्यादि सुश्रुतोक्तेः।

(b) वमन के दिन वमन पूर्व-यवागू+घी। दूध देते हैं।

अथच्छर्दनीयमातुरं द्व्यहंवा त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नम्...। (च. क. 1/14)

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नं अनभिष्यंदि...। (सु. चि. 33/5)

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधिः। (अ. ह. सू. 18/12)

(c) स्नेहन, स्वेदन– रोगी का यथोचित स्नेहन स्वेदन किया गया हो।

(d) वमनकालिक आचार– रोगी से ठीक प्रकार से बातचीत करनी चाहिए तथा उसे यह समझाएँ कि वमन से उसके रोग का शमन होगा। वमन के प्रति उसकी श्रद्धा तथा विश्वास जागृत करें। उसका हौसला बढाएँ।

(e) वेश भूषा– रोगी की वेशभूषा साफ सुथरी तथा सुविधाजनक होने चाहिए। इस हेतु एप्रिन का प्रयोग भी कर सकते हैं।

प्रधान कर्म (Pradhana Karma)– वमन कराने वाली औषध पिलाने के बाद से जब तक वमन का वेग पूरा नहीं होता, इस बीच जो भी कार्य किए जाते हैं वे सभी प्रधान कर्म में आते हैं।

(वमन पीठ)

1. वमन का आयोजन– वमन हेतु रोगी को आरामदेह कुर्सी या वमन पीठ पर बिठाया जाता है जिसकी बनावट पीछे से इतनी ऊँची हो कि रोगी उसके सहारे शिर टिका पाए। रोगी को एप्रिन पहना दिया जाता है तथा कुर्सी के दोनों हत्थों पर एक-एक छोटी तौलिया रख देते हैं जिससे रोगी अपना मुँह साफ कर सकें।

रोगी के जैविक मानक (Vital recording) जैसे रोगी की नाडी, श्वासगति, तापमान, रक्तचाप एक चार्ट पर अंकित कर लेते हैं।

2. औषध पान– वमनार्थ औषध पान से पूर्व रोगी को आकण्ठ दुग्ध या इक्षुरस पान कराया जाता है। जिसका मापन लिया जाता है और यह जितना पान कराते है उसे चार्ट बनाकर नोट कर लेते हैं। उसके बाद वमन योग देते है (जब रोगी बिल्कुल दुग्ध या इक्षु रस पीने से मना कर दे (आकण्ठ पान)

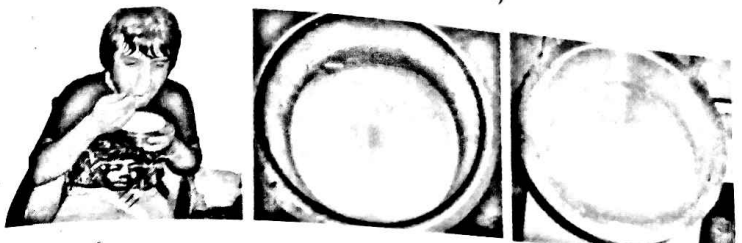

वमन पूर्व यवागु पान | दुग्ध | मधुयष्टि फाण्ट

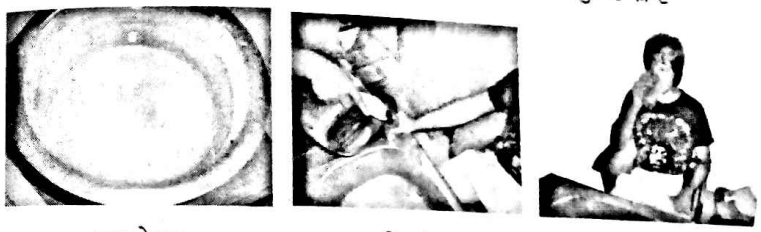

लवणोदक | दुग्ध पिलाते हुए | आकण्ठ दुग्ध पान

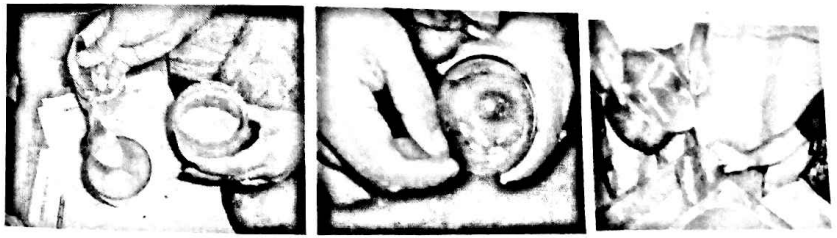

वमन योग लेते हुए | मधु मिश्रित वमन योग | मधुयष्टि फाण्ट पान

मधुयष्टि फाण्ट पान | लवणोदक पान | वमन वेग

वमन वेग

वमन वेग

वमन वेग लवणोदक सेवन पश्चात्

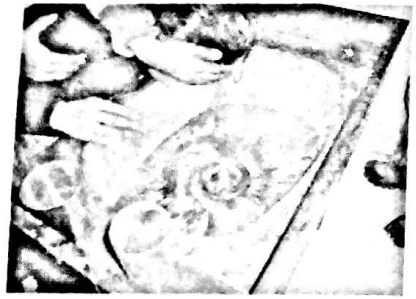

पित्तान्तक वमन

वमन योग–

अभिमंत्रितां मधुमधुकसैंधवफाणितोपहितां मदनफलकषायामात्रां पायेत्। (च. सू. 15/9)

..... **तासां फलपिप्पलीनां अंतर्नखमुष्टिं यावद्वा साधुमन्येत जर्जरीकृत्य यष्टीमधुकषायेण कोविदारकर्बुदारनीपविदुल- बिंबीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्-पुष्पीकषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य तं मधुसैंधवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मंत्रेणाभिमंत्रयेत्.... इत्येवमभिमंत्र्योदंगमुखं प्रांगमुखं वाऽतुरं पाययेत्।।** (च. क. 1/14)

मदनफल - 4 भाग	(6-10 ग्राम) या अन्तर्नखमुष्टि प्रमाण
वचा - 2 भाग	(3-5 ग्राम)
सैंधव - 1 भाग	(1.5- 3 ग्राम)
मधु - आवश्यकतानुसार	(20 ग्राम-30 ग्राम)

वामक योग या औषध पिलाते समय निम्न वाचन का विधान है-

ॐ **ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभृचन्द्रार्कानिलानलः-----भैषज्यमिदमस्तु ते।** (च. क. 1/14)

इस अभिमंत्रित औषध को पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठे रोगी को पिला देते हैं।

3. रुग्ण निरीक्षण (Observation of the patient) –

पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकांक्षते, तस्य यदा जानीयात् स्वेद प्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमान, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं, हल्लासास्यस्रवणाभ्यामपि चोर्ध्वमुखी भूतमथास्मैजानुसमसंबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तर प्रच्छदोपधानं सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्।।

(च. सू. 15/11)

वमन औषध पिलाने के बाद एक मुहूर्त (48 मिनट) तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, उसके बाद

(1) ललाट पर स्वेद बिन्दु दिखे तो यह जाने कि दोष स्त्रोतों में विलीन हो रहे हैं एवं द्रवीभूत होकर उर्ध्वगमन कर रहें हैं।

(2) रोमहर्ष को देखकर यह जाने की दोष स्थानच्युत ही रहें हैं तथा कोष्ठ की ओर गति कर रहें हैं।

(3) कुक्षि में आध्मान होने पर यह समझें कि दोष कोष्ठ में आ गए हैं।

(4) हल्लास और लालास्त्राव होने पर दोष आमाशय से ऊपर मुख की ओर आ गये हैं।

तब रोगी को सामने स्टूल पर रखे वमन पात्र या वमन पीठ में वमन करने के लिए कहते हैं।

यदि वमन न हो रहा हो तो कमलनाल या एरण्ड नाल या स्वयं रोगी की अंगुली को कण्ठ में स्पर्श करने को रोगी को कहा जाता है।

प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्–ललाट प्रतिग्रहे पार्श्वोपग्रहणे नाभि

प्रपीडने पृष्ठोन्मर्दनें चानपत्रपणीयाः सुहृदोऽनुमताः प्रयतेरन्।। (च. सू. 15/11)

वमन वेग आने पर परिचारक रोगी की पीठ नीचे से ऊपर की ओर सहलाता है तथा दूसरा परिचारक शंख प्रदेश और ललाट को हाथों से दबाएँ इससे शीघ्र ही वमन होता है।

हीनवेगंतु पिप्पल्यामलक सर्षप वचाकल्क लवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनात्।।

(च. क. 1/14)

परिचारक को बीच-बीच में पहले मुलेठी फाण्ट पूरा होने के बाद लवणोदक आदि को पिलाते रहना चाहिए तथा इसको चार्ट में नोट कर लिया जाता है तथा वमन वेग आने पर वमन वेग को चार्ट में नोट कर लिया जाता है। 8 वेग आने पर या पित्तान्त लक्षण को सम्यक् शुद्धि मानकर, वमन सम्यक् हो गया यह समझा जाता है।

कुल पीये हुए द्रव अर्थात् पीत द्रव का तथा उत्सृष्ट द्रव (वमन द्वारा निकला द्रव) का मान नोट कर लिया जाता है उत्सृष्ट द्रव का मान पीत द्रव की अपेक्षा अधिक प्रमाण में होना प्रशस्त है। इस बीच में जैविक मापन (Vital recording) जैसे नाडी गति, श्वसन गति, रक्तचाप को भी नोट करते रहते हैं।

जघन्यमध्य प्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।

पित्तान्तमिष्टं वमनं.....

द्वित्रान् सविट्कानपनीयवेगान्मेयं विरेके, वमने तु पीतम्।। (च. सि. 1/13-14)

प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च।। (च. सि. 1/14)

वमन वेग निर्णय (Assessment of Vamana vega) – औषध पिलाने के बाद जितनी बार वमन होता है उसे वेग कहते हैं।

प्रवर वमन में 8 वेग मध्यम वमन में 6 वेग तथा अवर वमन में 4 वेग आने चाहिए।

प्रवर शुद्धि में वमन से निकला द्रव्य 2 प्रस्थ तथा अंत में पित्त निकलना चाहिए।

मध्यम शुद्धि में वमन से निकला द्रव्य 1½ प्रस्थ तथा अंत में पित्त निकलना चाहिए।

अवर शुद्धि में वमन से निकला द्रव्य प्रमाण में 1 प्रस्थ तथा अंत में पित्त निकलना चाहिए।

वमन द्वारा शुद्धि आंकलन

शुद्धि प्रकार	प्रवर शुद्धि	मध्यम शुद्धि	अवर शुद्धि
वेगकी	8 वेग	6 वेग	4 वेग
मानकी	वान्त मात्रा- 2 प्रस्थ	1½ प्रस्थ	1 प्रस्थ
आतंकी	अंत - पितांत	पितांत	पितांत
लैंगिकी	सम्यक् वमन के लक्षण	स. व.के लक्षण	स. व.के लक्षण

औषधपान से पूर्व से दुग्ध या इक्षुरस का आकण्ठ पान करवाया जाता है परन्तु जो द्रव (दुग्ध/इक्षु) पहले के में निकलता है उसकी मात्रा की गणना नहीं करनी चाहिए।

वमन के सम्यक् हीन व अतियोग का विश्लेषण

वमन होने के पश्चात् रोगी के लक्षणों का ध्यान से निरीक्षण करते हैं। हीन योग के लक्षण होने पर पुनः वामक द्रव्योंषध देते हैं तथा अतियोग होने पर वमन क्रिया को रोककर अतियोग निवारक औषध देकर रोगी को विश्राम करवाते हैं।

सम्यक् वमन होने के पश्चात् आगे की क्रिया धूमपान, संसर्जन क्रम आदि की तैयारी करते हैं।

सम्यक् वमन लक्षण (Features of adequate Vamana)

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यक् नमितः स इष्टः।

हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे।। (च. सि. 1/15)

आचार्य चरकानुसार-

क्रम से कफ-पित्त-वात का निकलना। हृदय में, पार्श्व, शिर, इन्द्रियों के मार्ग की शुद्धि और शरीर में हल्कापन का होना बतलाया है।

पित्ते कफस्यानुसुखं प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कंठ शिरः सु चापि।

लघौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत्।। (सु. चि. 33/9)

निर्विबंध प्रवर्तन्ते कफपित्तानिला क्रमात्। सम्यग् योगे। (अ. ह. सू. 18/25)

अन्य आचार्य के अनुसार

(1) शरीर में लघुता (2) अग्नि का दीप्त होना। (3) कण्ठशुद्धि का होना।

(4) मन का प्रसन्न होना। (5) वमन के समय अधिक कष्ट न होना।

वमन व्यापद्

वमन के उपद्रव के कारण- 1. वैद्य द्वारा विधिपूर्वक वमन न करा, 2. परिचारक औषध का ठीक ढंग से योग नहीं बना पाना, 3. औषध हीन मात्रा में प्रयुक्त करना, 4. रोगी वमन में मनोयोग नहीं रखता है, तो इन कारणों से वमन के अयोग या अतियोग होने से 10 प्रकार के उपद्रव होते हैं-

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः।

जीवादानं सविभ्रंशः स्तंभः सोपद्रवः क्लमः।

अयोगादतियोगाश्च दशैता व्यापदो मताः। (च. सि. 6/29-30)

1. आध्मान, 2. परिकर्त, 3. स्राव, 4. हृद्ग्रह, 5. गात्रग्रह, 6. जीवादान, 7. विभ्रंश, 8. स्तम्भ, 9. उपद्रव और 10. क्लम तथा सुश्रुतानुसार 15 व्यापद् है।

वैद्यातुर निमित्तं वमनं विरेचनं च पंचदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्य अधोगतिरुर्ध्व विरेचनस्य इति पृथक्। सामान्यनुभयोः सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं हीन दोषापहृतत्वं, वातशूलं, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम् आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं विबंधः इति।। (सु. चि. 34/3)

वमन उपद्रवों का उपचार

1. वमन-प्रवृत्ति ठीक न होने मधुयष्टि फाण्ट में मदनफल और वच का चूर्ण 1-1 ग्राम डालकर बारम्बार पिलाते जायें।

2. वमन वेग की सुगमता एवं पूर्णता के लिए सुखोष्ण लवणोदक (जल में नमक मिलाकर) पिलाये।

3. यदि अङ्गग्रह आदि उपद्रव उत्पन्न हों, तो औषध-पाचनार्थ दीपन-पाचन और बलकारक एवं शामक औषध दें।

4. अयोगजन्य उपद्रवों के शमन हेतु निरुह (च. सि. 6/29) एवं अनुवासन (च. सि. 6/43-44) बस्ति देनी चाहिए।

हीन योग के लक्षण (Features of inadequate Vamana)

केवलस्य वाप्यौषधस्य, विभ्रंशोः विबंधो वेगानां अयोग लक्षणानि भवन्ति। (च. सू. 15/13)

दुच्छर्दिते स्फोटक कोठकंडू हृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च। (च. सि. 1/16)

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कण्डूं च दुश्छर्दितलिंगमाहुः। (सु. चि. 33/8)

(1) वमन के वेगों का ठीक से न होना, एक-एक कर होना। (2) केवल औषध का ही बाहर आना।

(3) शरीर में भारीपन का होना। (4) स्फोट

(5) कण्डु (6) कफप्रसेक तथा

(7) ज्वर का होना। (8) हृदय में भारीपान

अतियोग के लक्षण (Features of excessive Vamana)-

योगाधिक्येन तु फेनिलरक्त चंद्रिकोपगमनं इत्यतियोगलक्षणानि भवन्ति। (च. सू. 15/13)

पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च हृत्कंठपीडामपि चातिवांते।। (सू. चि. 33/8)

अतियोगे तु फेनचन्द्रकरक्तवत्। वमितं क्षामता दाहः कंठशोषस्तमो भ्रमः।
घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणित निर्गमात्।। (अ. ह. सू. 18/25, 26)

(1) वमन के अतियोग होने पर झागदार रक्तचन्द्रिकाओं का निकलना। (2) तृष्णा की अधिकता।
(3) मोह (4) मूर्च्छा का होना।
(5) वात का प्रकोप होना। (6) निंद्रा का नाश होना।
(7) कण्ठ में पीडा का होना। (8) दाह होना
(9) पित्त की अधिक प्रवृत्ति का होना।

अतियोग में उपचार–

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः। पिबेत् कफहरैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम्।।
सोद्गारायां भृशं वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः। समधूकाञ्जनं चूर्णे लेहयेन्मधुसंयुतम्।।
वमतोऽन्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः। स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषैः क्षीररसैर्हिताः।।
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः। निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत्।।
वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम्। यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान्।।

(च. सि. 6/52-56)

1. शीतल जल से परिषेक कर घी–चीनी मिला हुआ कफहर मंथ देना चाहिए।

2. उद्गार और मूर्च्छा में धनिया, नागर मोथा, मधुक (महुआ) और रसाञ्जन (रसौत) का चूर्ण मधु से देना चाहिए।

3. यदि वमन करते हुए जिह्वा भीतर चली गयी हो तो स्निग्ध, अम्ल–लवण रसयुक्त, रुचिकर यूष, दुग्ध या मांसरस का कवलधारण करायें। उसके सामने चटखारे देकर अम्लफल (इमली की चटनी) खाये जिसे देखकर रोगी की जीभ बाहर आ जाती है।

4. जिह्वा यदि बाहर निकली हो तो उस पर तिल और मुनक्का के कल्क का लेप कर उसे हाथ से पकड़कर अंदर प्रविष्ट करायें।

5. वाग्ग्रह या अन्य वातज रोग हो, तो स्नेहन–स्वेदन करे और घृत तथा मांसरस से सिद्ध पतली यावागु पिलाये।

पश्चात् कर्म (Paschat Karma)– जब वमन बंद हो जाए तब से लेकर प्राकृत भोजन लेने तक की कालावधि में जो कर्म किए जाते हैं वे पश्चात् कर्म के अन्तर्गत आते हैं–

(1) धूमपान ✓ (2) संयम नियम ✓ (3) संसर्जन क्रम ✓ (4) संतर्पण ✓

इसमें सर्वप्रथम जैविक मापन (Vital recording) जैसे– रक्तभार माप, नाडी आदि ज्ञात करते है।

1. धूमपान–

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवंतमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं,
मुहूर्तमाश्वास्यस्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः
पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्पृशेयेत्।। (च. सू. 15/14)

वमन पश्चात् रोगी के हाथ पैर तथा मुख शीतल जल से प्रक्षालन कराकर (धुलाकर) एक मुहूर्त (48 मिनट) तक विश्राम कराते हैं। इस बीच रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिए। क्योंकि कदाचित् हिक्का, वमन वेग या लालास्राव हो सकता है फिर रोगी की प्रायोगिक, स्नैहिक या वैरेचनिक धूमपान कराते है।

धूमपान गले की पिच्छिलता, खुसखुसाहट, कफलिप्तता का नाश करता है कण्ठ, मुख नासिका के द्वार शुद्ध हो जाते हैं और वमन पश्चात् जो कफ रह जाता है उसका शमन हो जाता है। इसमें पश्चात् पुनः मुख-पाद प्रक्षालन करवाना चाहिए।

2. संयम नियम –

उपसृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्यसंवेश्यचानुशिष्यात्–उच्चैर्भाष्यमत्यागनमतिस्थानमतिक्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायप्रतिवातान् यानयानंग्राम्यधर्मस्वपननिशिदिवास्वपनं विरुद्धाजीर्णासात्म्याकाल–प्रमितातिहीनगुरुविषम भोजनवेगसंधारणोदीरणमिति भावानेतान् मनसाऽप्यमेवमानः सर्वमहो–गमयस्व इति स तथा कुर्यात्।। (च. सू. 15/15)

धूमपान के बाद रोगी को निवात स्थान में रखकर उसे निम्न सावधानियाँ हेतु निर्देश देते हैं।

1. तेज आवाज से न बोलना। 2. अधिक देर तक न बैठना।
3. अधिक समय तक खडे न रहना। 4. अधिक न चलना।
5. क्रोध ना करना, शोक ना करना। 6. अधिक शीत, धूप में ना रहना, ओस, आँधी से बचना चाहिए।
7. रात्रिजागरण ना करना। 8. व्यवाय ना करना।
9. दिवाशयन ना करना। 10. वेग संधारण एवं अप्रवृत वेगों को बलात् प्रवृत ना करना।
11. संयोग, संस्कार, वीर्य विरुद्ध भोजन न करना, अकाल, अहितकर भोजन आदि को आचरण में नहीं लाना चाहिए।

3. संसर्जन क्रम

वमन होने बाद आमाशय में क्षोभ होने के कारण रोगी की अग्निमान्द्य हो जाता है। अतः अग्नि की रक्षा हेतु लघु आहार की कल्पना की जाती है। जिससे मंद हुई अग्नि को पेया, विलेपी आदि के द्वारा क्रमशः सन्धुक्षित की जा सके।

यथाणुरग्निस्तृण गोमयाद्यैः संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरंतरग्निः।। (च. सि. 1/12 एवं अ. ह. सू. 18/30)

जैसे– अग्नि की अणुमात्र पर तृण या गोमय (गोबर के उपले) डालने से वह प्रचण्ड अग्नि बन जाती है उसी प्रकार संशोधन से शुद्ध व्यक्ति को अग्नि मंद हो जाती है वह पेयादि संसर्जन क्रम से महान, स्थिर और सभी आहार को पचाने वाली हो जाती है।

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधान मध्यावर शुद्धिशुद्धः।। (च. सि. 1/11 एवं अ. ह. सू. 18/29)

यह योजना निम्न तालिकानुसार की जाती है-

प्रवर शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	प्रवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	×
	सांय	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. पेया
	सांय	3. पेया
तृतीय	प्रातः	4. विलेपी
	सांय	5. विलेपी
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. विलेपी
	सांय	7. अकृत यूष
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत यूष
	सांय	9. कृत यूष
षष्ठ दिवस	प्रातः	10. अकृत मांसरस
	सांय	11. कृत मांसरस
सप्तम दिवस	प्रातः	12. कृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार
कुल अन्नकाल = 12		

मध्यम शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	मध्यम शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	×
	सायं	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. पेया
	सांय	3. विलेपी
तृतीय दिवस	प्रातः	4. विलेपी
	सांय	5. अकृत यूष
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. कृत यूष
	सांय	7. अकृत मांसरस
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार
कुल अन्नकाल - 8		

अवर शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	अवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	×
	सांय	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. विलेपी
	सांय	3. कृताकृत यूष
तृतीय दिवस	प्रातः	4. कृताकृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार
कुल अन्नकाल - 4		

शुद्धि अनुसार पेयादि संसर्जन क्रम

दिवस	समय/ अन्नकाल	प्रवर शुद्धि	मध्य	अवर
प्रथम दिवस	प्रातः	कोई अन्न नहीं	कोई अन्न नहीं	कोई अन्न नहीं
	सांय	पेया	पेया	पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	पेया	पेया	विलेपी
	सांय	पेया	विलेपी	कृताकृत यूष
तृतीय दिवस	प्रातः	विलेपी	विलेपी	कृताकृत मांसरस
	सांय	विलेपी	अकृत यूष	सामान्य आहार
चतुर्थ दिवस	प्रातः	विलेपी	कृत यूष	×
	सांय	अकृत यूष	अकृत मांसरस	×
पंचम दिवस	प्रातः	कृत यूष	कृत मांसरस	×
	सांय	कृत यूष	सामान्य आहार	×
षष्ठ दिवस	प्रातः	अकृत मांसरस	×	×
	सांय	कृत मांसरस	×	×
सप्तम दिवस	प्रातः	कृत मांसरस	×	×
	सांय	सामान्य आहार	×	×

अन्नकाल के अनुसार संसर्जन क्रम

शुद्धि	अन्नकला	दिवस
प्रवर	3	7
मध्य	2	5
अवर	1	3

4. सन्तर्पण क्रम –

कफपित्तेऽविशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके।

तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाऽभिष्यदयेद्धितान्।। (च. सि. 6/25)

च. पा.–पेयायाः स्थाने स्वच्छ तर्पणं, विलेप्याः स्थाने च घनतर्पणं।।

जेज्जट– तर्पणादिकत्वेन च यूषरस निर्देशः।

सुतात्प्य पित्त श्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकं।

पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादि क्रमोहितः।। (अ. ह. सू. 18/46)

अ. द.– प्रथमेऽन्नकाले लाज सक्तवो, द्वितीये अन्नकाले जीर्ण शाल्योदनं, तृतीये मांसरसमित्येष तर्पण क्रमः तेषां हितः।

रोगी की निर्बलता एवं दोष आदि का विचार कर संसर्जन क्रम के स्थान पर संतर्पण क्रम को अपनाया जा सकता है।

आचार्य चरक ने कहा है कि जिस रोगी के कफ पित्त का शोधन पूर्णरूप से न हुआ हो, जो मद्य पीने वाला हो या वात-पित्त प्रकृति का हो उसे तर्पण आदि के क्रम के साथ पथ्य देना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने सम्यक्वान्त, कृत धूमपान, पुनः ऊष्ण जल से स्नान किये हुए शुद्ध शरीर वाले रोगी को सायंकाल कुलथी, मूंग, अरहर के यूष तथा जांगल जीवों के मांसरस के साथ भोजन बतलाया है। चक्रपाणि ने पेया के स्थान पर स्वच्छ (लघु) तर्पण और विलेपी के स्थान पर घन तर्पण निदेर्शित किया है। अरुणदत्त ने प्रथम अन्नकाल में धान का लावा का सनू, दूसरे अन्नकाल में पुराने चावल का भात और तीसरे अन्नकाल में मांसरस का तर्पण देना हितकर बताया है।

तर्पण योग-

फणित, दही, जुल, काञ्जी-उदावर्त एवं मूत्रकृच्छ्र में हितकारी है।

जौ का सनू में समभाग चीनी मिला मधु और मदिरा में घोलकर पीने से वात-मल मूत्र एवं कफ-पित्त का अनुलोमन होता है।

वमनोत्तर शोधन पश्चात् कर्म

1. शमन हेतु– वमन के बाद यदि अन्य उपक्रम न करना हो तो जिस व्याधि के लिये शोधन किया गया था उसकी शमन चिकित्सा प्रारम्भ करते हैं।

2. विरेचन हेतु– वमन के बाद यदि विरेचन करना हो तो 7 वें दिन शाम को प्राकृत भोजन के बाद पुनः 9वें दिन से स्नेहपान प्रारम्भ करना चाहिए। स्नेहपान ऐसा करना चाहिए जिससे कि वमन के 15 वें दिन विरेचन आ जाए। यह दूसरा स्नेहपान काल पूरे 7 दिन तक आवश्यक नहीं है। 9वें दिन से 11 वें दिन तक स्नेहपान 12, 13 और 14 वें दिन विश्राम काल और 15 वें दिन विरेचन दिया जाना चाहिए। मध्य शोधन वालों में और अवर शोधन वालों में यह क्रम कुछ कम हो सकता है। परन्तु इसका स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है।

अनुवासन हेतु

डल्हण के अनुसार वमन के बाद 15 वें दिन ही विरेचन करावें न कि पहले और बाद में। क्यों कि धातु पाक क्रम के अनुसार कम से कम 7 दिन हो जाने के बाद ही पुनः स्नेहपान प्रारम्भ करना ठीक है। यदि 15 दिन के पहले विरेचनार्थ क्रम प्रारम्भ करें तो अग्नि बल की मंदता के कारण सम्यक् नहीं होगा। 15 दिन के बाद अधिक दिन बिताने से पूर्वकृत स्नेहन स्वेदन का फल नहीं मिल सकता। अतएव प्रवर मध्य शुद्धिवालों को भी 15 वें दिन विरेचन आये इस प्रकार की योजना करनी चाहिये। प्रवर शुद्धि में वमनोत्तर 6 दिन संसर्जन क्रम कर, 6 दिन स्नेहपान कर 12, 13, 14 वें दिन विश्राम और स्नेहन व स्वेदन कर 15 वें दिन विरेचन करना चाहिए। चरक ने भी 9 वें दिन स्नेहपान या अनुवासन देने को कहा है। इसमें वमन के बाद विरेचन देना हो तो 9वें दिन से स्नेहपान कर पूर्वोक्त क्रम से विरेचन करावें और विरेचन के बाद बस्ति देना हो तो 9 वें दिन अनुवासन बस्ति दे ऐसा अर्थ किया जाना चाहिए।

मध्य तथा अवर शुद्धि में क्रमशः 5 वें और 3रें दिन प्राकृत भोजन दिया जाता है, तथापि उनमें भी स्नेहपान 9वें दिन से ही प्रारम्भ करना चाहिए।

वमन कार्मुकत्व

वामक औषधि

(उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी गुण युक्त)

↓

स्ववीर्य से हृदय में प्रवेश

↓

धमनियों का अनुसरण

↓

स्थूल तथा अणु स्रोतों में प्रवेश

↓

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले दोष समूह पर क्रिया

- उष्ण गुण से - विष्यन्दन

- तीक्ष्ण गुण से - विच्छिन्दन

अन्नकाल के अनुसार संसर्जन क्रम

शुद्धि	अन्नकला	दिवस
प्रवर	3	7
मध्य	2	5
अवर	1	3

4. सन्तर्पण क्रम –

कफपित्तेऽविशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके।

तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाऽभिष्यदयेंद्धितान्।। (च. सि. 6/25)

च. पा.–पेयायाः स्थाने स्वच्छ तर्पणं, विलेप्याः स्थाने च घनतर्पणं।।

जेज्जट– तर्पणादिकत्वेन च यूषरस निर्देशः।

सुताल्प पित्त श्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकं।

पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादि क्रमोहितः।। (अ. ह. सू. 18/46)

अ. द.– प्रथमेऽन्नकाले लाज सक्तवो, द्वितीये अन्नकाले जीर्ण शाल्योदनं, तृतीये मांसरसमित्येष तर्पण क्रमः तेषां हितः।

रोगी की निर्बलता एवं दोष आदि का विचार कर संसर्जन क्रम के स्थान पर संतर्पण क्रम को अपनाया जा सकता है।

आचार्य चरक ने कहा है कि जिस रोगी के कफ पित्त का शोधन पूर्णरूप से न हुआ हो, जो मद्य पीने वाला हो या वात-पित्त प्रकृति का हो उसे तर्पण आदि के क्रम के साथ पथ्य देना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने सम्यक्वान्त, कृत धूमपान, पुनः ऊष्ण जल से स्नान किये हुए शुद्ध शरीर वाले रोगी को सायंकाल कुलथी, मूंग, अरहर के यूष तथा जांगल जीवों के मांसरस के साथ भोजन बतलाया है। चक्रपाणि ने पेया के स्थान पर स्वच्छ (लघु) तर्पण और विलेपी के स्थान पर घन तर्पण निदेर्शित किया है। अरुणदत्त ने प्रथम अन्नकाल में धान का लावा का सत्तू, दूसरे अन्नकाल में पुराने चावल का भात और तीसरे अन्नकाल में मांसरस का तर्पण देना हितकर बताया है।

तर्पण योग–

फणित, दही, जूस, काञ्जी-उदावर्त एवं मूत्रकृच्छ्र में हितकारी है।

जौ का सत्तू में समभाग चीनी मिला मधु और मदिरा में घोलकर पीने से वात-मल मूत्र एवं कफ-पित्त का अनुलोमन होता है।

वमनोत्तर शोधन पश्चात् कर्म

1. **शमन हेतु**– वमन के बाद यदि अन्य उपक्रम न करना हो तो जिस व्याधि के लिये शोधन किया गया था उसकी शमन चिकित्सा प्रारम्भ करते हैं।

2. **विरेचन हेतु**– वमन के बाद यदि विरेचन करना हो तो 7 वें दिन शाम को प्राकृत भोजन के बाद पुनः 9वें दिन से स्नेहपान प्रारम्भ करना चाहिए। स्नेहपान ऐसा करना चाहिए जिससे कि वमन के 15 वें दिन विरेचन आ जाए। यह दूसरा स्नेहपान काल पूरे 7 दिन तक आवश्यक नहीं है। 9वें दिन से 11 वें दिन तक स्नेहपान 12, 13 और 14 वें दिन विश्राम काल और 15 वें दिन विरेचन दिया जाना चाहिए। मध्य शोधन वालों में और अवर शोधन वालों में यह क्रम कुछ कम हो सकता है। परन्तु इसका स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है।

अनुवासन हेतु

डल्हण के अनुसार वमन के बाद 15 वें दिन ही विरेचन करावें न कि पहले और बाद में। क्यों कि धातु पाक क्रम के अनुसार कम से कम 7 दिन हो जाने के बाद ही पुनः स्नेहपान प्रारम्भ करना ठीक है। यदि 15 दिन के पहले विरेचनार्थ क्रम प्रारम्भ करें तो अग्नि बल की मंदता के कारण सम्यक् नहीं होगा। 15 दिन के बाद अधिक दिन बिताने से पूर्वकृत स्नेहन स्वेदन का फल नहीं मिल सकता। अतएव प्रवर मध्य शुद्धिवालों को भी 15 वें दिन विरेचन आये इस प्रकार की योजना करनी चाहिये। प्रवर शुद्धि में वमनोत्तर 6 दिन संसर्जन क्रम कर, 6 दिन स्नेहपान कर 12, 13, 14 वें दिन विश्राम और स्नेहन व स्वेदन कर 15 वें दिन विरेचन करना चाहिए। चरक ने भी 9 वें दिन स्नेहपान या अनुवासन देने को कहा है। इसमें वमन के बाद विरेचन देना हो तो 9वें दिन से स्नेहपान कर पूर्वोक्त क्रम से विरेचन करावें और विरेचन के बाद बस्ति देना हो तो 9 वें दिन अनुवासन बस्ति दे ऐसा अर्थ किया जाना चाहिए।

मध्य तथा अवर शुद्धि में क्रमशः 5 वें और 3रें दिन प्राकृत भोजन दिया जाता है, तथापि उनमें भी स्नेहपान 9वें दिन से ही प्रारम्भ करना चाहिए।

वमन कार्मुकत्व

वामक औषधि

(उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी गुण युक्त)

↓

स्ववीर्य से हृदय में प्रवेश

↓

धमनियों का अनुसरण

↓

स्थूल तथा अणु स्रोतों में प्रवेश

↓

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले दोष समूह पर क्रिया

- उष्ण गुण से - विष्यन्दन

- तीक्ष्ण गुण से - विच्छिन्दन

↓

अणुप्रवण भाव से क्रिया

– अणुत्वं च अणुमार्ग संचारित्वम्

– प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्

↓

आमाशय में प्रवेश

↓

अग्नि और वायु भूयिष्ठता से

उर्ध्वगमन

↓

उर्ध्वभागहर प्रभाव तथा उदान वायु से प्रेरित होकर

दोषों का मुख से बाहर फेंका जाना

↓

वमन

वमन क्रिया का प्रभाव–

(1) वामक द्रव्य

↓

(2) उत्क्लेश उत्पन्न कर

↓

(3) दोषों को चलायमान कर देते हैं

↓

(4) जिससे लालास्त्राव, स्वेद प्रवृत्ति, श्वासवहस्त्रोतों में कफ का स्त्राव और अन्नलिका में कफस्त्राव बढ जाता है।

↓

(5) नाडी की गति तीव्र हो जाती है।

↓

(6) श्वासगति अनियमित हो जाती है।

↓

(7) वमन के समय आमाशय का उर्ध्व (हार्दिक) द्वार खुल जाता है।

↓

(8) अधोद्वार बंद होकर तीव्र संकोच विकास की गति उत्पन्न होती है।

↓

(9) उदर की पेशियों की और महाप्राचीन पेशी की संकोचन गति प्रबल हो जाती है

↓

(10) जिससे आमाशय के पदार्थ ऊपर की और फैंक दिए जाते हैं

↓

(11) इस प्रकार दोषों के निकल जाने से कफज विकार शांत हो जाते हैं।

Physiology of vomiting

Vomiting is accompanied by a complex series of movements which are controlled by the vomiting centre present in medulla oblongata. The vomiting centre is the final common pathway for the act of vomiting. It receives afferent impulses from:

* Chemoreceptor trigger zone (CTZ).
* Vestibular apparatus.
* Higher centres in the brain; and
* Pereferal structures including the GI tract and nucleus tracts

A major sensory relay stationed in the afferent vomiting pathway is the CTZ (Chemo receptor tigger zone) situated in the lateral border of the area postrema of the medulla oblongata. Direct electrical or chemical stimulation of the vomiting centre can evoke vomiting irrespective of the CTZ (Chemo receptor tigger zone). Vomiting due to irritation or over excitation of the upper GI tract does not involve the CTZ (Chemo receptor tigger zone). But is directly mediated by the vomiting centre.

Similarly it is likely that vomiting of central origin due to emotions, nauseous odours and other similar factors does not involve the CTZ (Chemo receptor tigger zone) but is due to impulses directly reaching the vomiting centre. On the other hand, vomiting of vestibular origin is mediated by the pathway: vestibular nuclei, cerebellum, CTZ and the vomiting centre.

Vomiting is usually preceded by the sensation of nausea and increased secretion of saliva bronchial fluid and sweat. The muscles involved in the act of coughing take part in the act o vomiting and the vagal, vomiting and cough centres have a close functional relationship.

Act of Vomiting

The sequence of events that takes place in GI Tract are :-

(1) Beginning of antiperistalsis which runs from ileum towards the mouth through the intestine pushing the intestinal contents into the stomach within few minutes. The velocity of the antiperistalsis is about 2-3 cm/sec.

↓

(2) Deep inspiration followed by temporary cessation of breathing.

↓

(3) Closure of glottis

↓

(4) Upward and forward movement of larynx and hyoid bone.

↓

(5) Elevation of soft palate.

↓

(6) Contraction of diaphragm and abdominal muscles with a characteristic jerk resulting in elevation of intra-abdominal pressure.

↓

(7) Compression of the stomach between diaphragm and abdominal wall leading to rise in intragastric pressure.

↓

(8) Simultaneous relaxation of lower esophageal sphincter, esophagus and upper esophageal sphincter.

↓

(9) Forceful expulsion of gastric contents (Vomitus) through esophagus, pharynx and mouth. All the movements during the act of vomiting, throw the vomitus to the exterior through mouth.

PHASES OF VOMITING

Phase - I

Nausea :- Physiologically, nausea is typically associated with decreased gastric motility and increased tone in the small intestine. Additionally, there is often reverse peristalsis in the proximal small intestine.

Phase - II

Retching ("dry heaves") refers to spasmodic respiratory movements conducted with a closed glottis. While this is occurring, the antrum of the stomach contracts and the fundus and cardia relax. Studies with cats have shown that during retching there is repeated herniation of the abdominal esophagus and cardia into the thoracic cavity due to the negative pressure engendered by inspiratory efforts with a closed glottis.

Phase - III

Emesis; - gastric and small intestinal contents are propelled up and out of the mouth. When stomach is emptied fully there will be secretion of bile.

MECHANISM OF VOMITING:

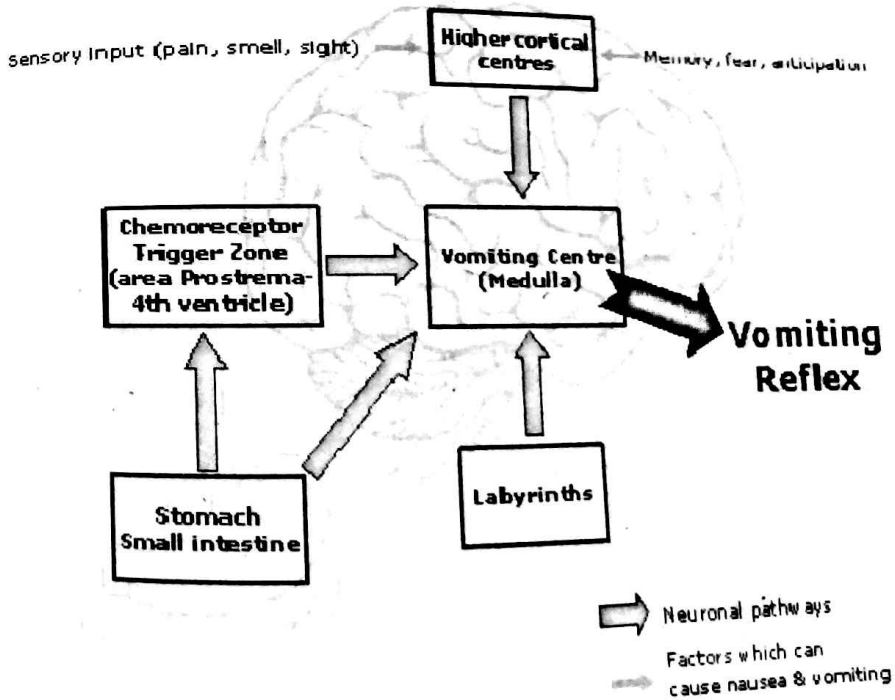

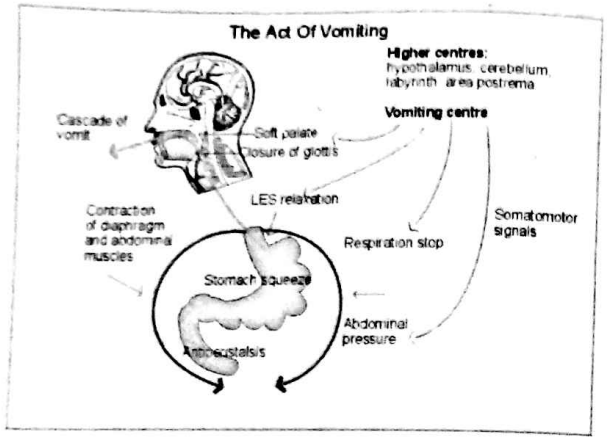

Co-Relation with modern View

Vamana karma is not merely a stomach wash, but it is a complete management of systemic diseases caused by Kapha. Particularly Urdva Amashaya is the seat of action of Kapha. The active principle of Vamana drug taken orally is absorbed from the stomach into circulatory system wherefrom it is circulated to all over the body. On reaching at the site of lesion (Dosha Sanghata), which is at the cellular level, it breaks the association of doshas and bring back the toxic substances thus released into the stomach, wherefrom they are expelled out of the body by the action of vomiting. Mild inflammation is must for purification action. It is noticed that most of the drugs employed in Vamana have mild irritation effect and produced mild inflammation facilitates the quick absorption of the active principles (Veerya) of the durg in the initxial stage. Later on it facilitates the excretion of the morbid matters, which generally are not supposed to be excreted out.

It is possible only because inflammation increases the permeability of the capillaries, which in turn allow the absorption as well as excretion of the substances, which are not allowed in normal conditions. The softening (Visyandana) action of the drugs may be understood from the example of fatty degeneration. In fatty degeneration, the saturated molecules are chemically inert and do not respond to any chemical reaction. But if the suitable catalytic agent is applied, then it will later on react to the other chemicals also to break them in smaller molecules. The smaller molecules thus formed can be driven out of the cell due to the normal function of the cell or by the action of drug and thus the cell is free from the harmful substance leading to the cure of the degeneration.

The Vamana drugs are given in full stomach when the pyloric end of stomach remains closed and all the local activities of the Vamana drugs are limited to the stomach only. As the drugs have irritant action, so a mild inflammation of the stomach mucosa is produced. It will increase the

permeability of the capillaries of the stomach. which in the beginning facilitated the absorption of the active principles of the drug and later on facilitates the excretion of the toxins and metabolites into the stomach where from they are thrown out of the body by the process of vomiting. The process of emesis therapy is considered complete as soon as the pyloric valve opens which is evident from the appearance of bile in vomitus due to the flux of anti peristalsis set during the process of vomiting.

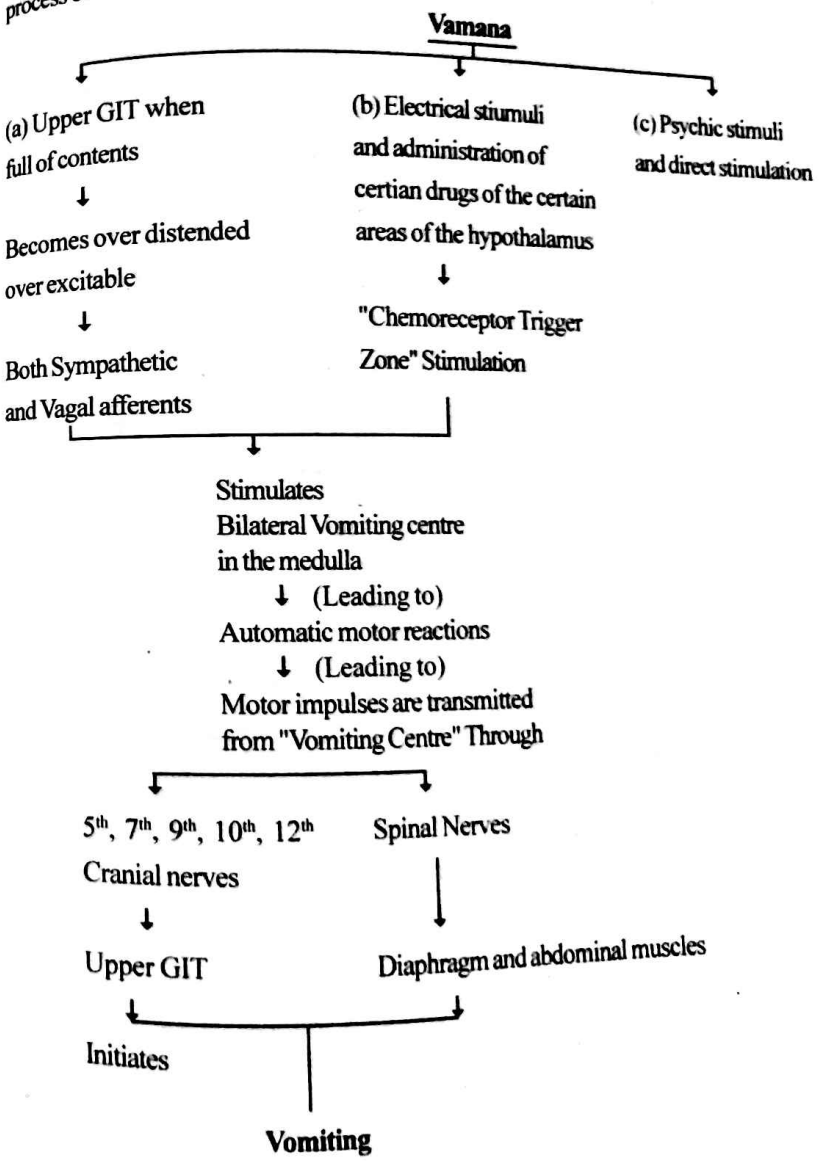

वमन द्रव्य परिचय

1. मदनफल

लैटिन नाम– Randia spinosa (R. dumentorum)

फैमिली – Rubiaceace.

गण– फलिनी, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग

पर्याय– छर्दन, पिण्डी, शल्यक, विषपुष्पक, करहाट, राठ

हिन्दी नाम– मैनफल

अंग्रेजी नाम– Emetic Nut

स्वरूप – इसका छोटा वृक्ष या गुल्म लगभग 30 फीट ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन– बीज तैल में Arachidic, palmitic, steraic, oleic and linoceric acids. सम्पूर्ण वृक्ष में Saponin मुख्य कार्यकारी तत्त्व होता है।

रस – कषाय, मधुर, तिक्त, कटु **गुण–** लघु, रुक्ष

विपाक– कटु **वीर्य–** उष्ण

प्रभाव– वमन (उर्ध्वभागहर)

कर्म– वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षतेऽनपायित्वात्।। (च. क. 1/13)

मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्। (च. सू. 25/40)

संग्रहविधि– चरक ने मदनफल प्रयोगार्थ मदनफल संग्रहित करने की महत्त्वपूर्ण विधि बताई है। मदनफलों को वसन्त या ग्रीष्म ऋतु में, पुष्य या अश्विनी नक्षत्र में या मृग नक्षत्र पर ग्रहण करते हैं। जिस समय औषधि अपने वीर्य में प्रकर्षयुक्त होती है उस समय ली जाती है। फल ऐसे लेते हैं जो पके हुए हो, मध्यम आकार के हो, जो हरे न हो, जन्तुओं से खाए हुए न हो, सड़े-गले न हो। ऐसे फल लेकर उन्हें कुशपुट में बाँधकर गोमय से लीपकर यव, माष, शालि, कुलत्थ, मूंग इनमें से किसी एक में 8 दिन तक रखते हैं जब वे मृदु हो जाये, मधु जैसी गंध इनमें आये तब निकाल कर सुखा देते हैं। सूखने पर बीजपिंडों को निकाल कर इन्हें घी, दही, मधु, तिलकल्क में घोटकर फिर सुखा लेते हैं। फिर नये घड़े में (अच्छे पात्र में) प्रयोगार्थ सुरक्षित रख देते है, इन पिप्पलियों का उपयोग वमनार्थ करते हैं।

हरे मदनफल

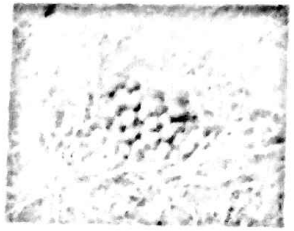

शुष्क मदनफल

कुश में लपेटते हुए

गोबर में लपेटते हुए

घृत डालते हुये

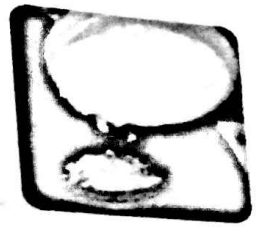

दही डालते हुए

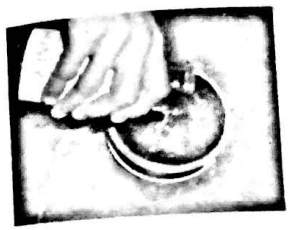

मधु डालते हुए

शोधन करते हुए

मर्दन करते हुए

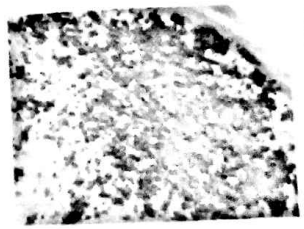

शुष्क मदनफल पिप्पली

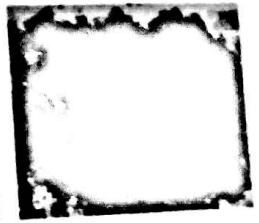

तैयार मदनफल पिप्पली

2. कुटज

लैटिन नाम – Holarrhena antidysenterica

फैमिली – Apocynaceae

गण – चरक– अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग।

सुश्रुत– आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, हरिद्रादि, लाक्षादि।

पर्याय– गिरिमल्लिका, वत्सक, वृक्षक, कालिंग, इन्द्रवृक्ष

हिंदी नाम– कुड़ा, कुडैया

अंग्रेजी नाम– Kurchi

स्वरूप– इसका वृक्ष 30-40 फीट ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन – बीज में - Holarresmine, kurchessine, holarridine, holonarmi antidysentricine, crystalline, gluco-alkaloid.

मूल त्वक् में – Conessine and holacetine

त्वक् में– Conessine, holarrhenine and holarrhimine.

रस–तिक्त, कषाय **गुण**–लघु, रुक्ष

विपाक – कटु **वीर्य**– शीत

दोषकर्म– कफपित्तशामक

कर्म– **कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसंग्राहिकोपशोषणानाम्।** (च. सू. 25/40)

रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः।

हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते।। (च. क. 5/6)

3. यष्टीमधु

लैटिन नाम– Glycyrrhiza glabra.

फैमिली– Leguminosae

गण – चरक– जीवनीय, संधानीय, वर्ण्य, कण्ठ्य, कण्डुघ्न, छर्दिनिग्रहण, शोणितस्थापन, मूत्रविरजीय, स्नेहोपग, वमनोपग, आस्थापनोपग।

सुश्रुत– काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि। **पर्याय**– मधुक, क्लीतक

हिन्दी नाम– मुलेठी **अंग्रेजी नाम** – Liquorice

स्वरूप– इसका बहुवर्षीय क्षुप या गुल्मक 6 फुट तक ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन– मूल में – Liquiritigenine, licoagrone, glycyrrhizine, prenylated, biaurone, astragalin, isoliquiritigenin, isoliquiritin, liquiritin.

रस–मधुर **गुण**– गुरु, स्निग्ध

विपाक– मधुर **वीर्य**– शीत

कर्म– दोषकर्म– वातपित्तशामक

4. वचा

लैटिन नाम – Acorus Calamus **फैमिली** – Araceae.

गण – चरक– लेखनीय, अर्शोघ्न, तृमिघ्न, आस्थपनोपग, शिरोविरेचनोपग, संज्ञास्थापन, शीतप्रशमन।

सुश्रुत– पिप्पल्यादि, मुस्तादि, वचादि। **पर्याय**– उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी, लोमशा।

हिन्दी नाम– वच **अंग्रेजी नाम**– Sweet flag

स्वरूप– इसका सदाहरित क्षुप जलप्राय भूमि में 3-5 फीट ऊँचा होता है। इसका कन्द भूमि में अदरख के समान फैलता है।

रासायनिक संघटन– इसकी मूलत्वक् में उड़नशील तैल होता है जिसमें प्रधानतः Asaryl aldehyde होता है। इसमें दो क्रियाशील तत्वों (A-Asarone and B-Asarone) का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त Acorin, Eugenal, Caffeine भी पाया जाता है।

रस–कटु, तिक्त **गुण**– लघु, तीक्ष्ण

विपाक– कटु **वीर्य**– उष्ण

प्रभाव–मेध्य **कर्म**– **दोषकर्म**– कफवातशामक, पित्तवर्धक

वामनी कटुतिक्तोष्णा वातश्लेष्मरुजापहा।

कण्ठ्या मेध्या च कृमिहृद्विबन्धाध्मानशूलनुत्।। (ध. नि.)

5. निम्ब

लैटिन नाम– Azadirachta indica **फैमिली**– Meliaceae

गण–चरक– कण्डूघ्न, तिक्तस्कन्ध **सुश्रुत**– आरग्वधादि, गुडूच्यादि, लाक्षादि।

पर्याय– पिचुमर्द, अरिष्ट, हिंगुनिर्यास **हिन्दी नाम**– नीम

अंग्रेजी नाम– Margosa tree **स्वरूप**– इसका वृक्ष 40-50 फीट ऊँचा होता है।

रासायनिक संघटन– छाल में Nimbin, Nimbinin, Nimbidin, Nimbosterol, उड़नशील तैल, टैनिन और मार्गोसिन नामक घटक होते हैं।

पत्तियों में – Azadirachtin, azadirachtanin, azadirone etc.

फलों में– Melianone, nimbiol, Nimocin etc.

रस– तिक्त, कषाय **गुण** – लघु

विपाक– कटु **वीर्य**– शीत

कर्म– दोषकर्म– कफपित्तशामक

× × ×

अध्याय –5

विरेचन
(Virechana Karma)

विरेचन परिचय (Introduction)

शरीरान्तर्गत किसी भी प्रकार के मल का किसी भी मार्ग से बाहर निकालना विरेचन शब्द का अर्थ है। परन्तु रूढ़ होने के कारण अद्योमार्ग से मल निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कहा जाता है।

विरेचन शब्द से सामान्य अर्थ में शोधन प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त होता है जैसे उर्ध्वविरेचन (वमन), अद्यो विरेचन (गुद मार्ग द्वारा विरेचन), शिरोविरेचन (नस्य), मूत्रविरेचन, शुक्रविरेचन आदि अर्थों में प्रयुक्त किया है।

आचार्य चरक ने वमन के लिए भी विरेचन संज्ञा दी है। जिसे उर्ध्व विरेचन कहते है।

सामान्यतः गुदमार्ग से दोषों को बाहर निकालना ही विरेचन कहलाता है।

शब्द उत्पत्ति (Etymology)–

वि+रिच्+णिच्।

ल्युट्– मलादेः निस्सरणम्।

वि उपसर्ग पूर्वक रिच् धातु में णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय लगने से विरेचन शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ मलादि को बाहर निकालना।

विरेचन परिभाषा (Definition)

तत्र दोषहरणम् अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्। (च. क. 1/4)

अधोभाग अर्थात् गुदमार्ग से मल, दोषादि को निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कहते है।

विरेचन का महत्त्व एवं प्रयोजन (Improtance and aim of Virechana Karma)-

1. पित्त की श्रेष्ठतम चिकित्सा–

विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यते भिषजः। तद् हि आदित एवं आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशांतिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्नि गृहं शीती भवति तद्वत्।। (च. सू. 20/16)

विरेचन पित्तज विकारों की श्रेष्ठतम चिकित्सा है क्योंकि विरेचन द्रव्य सर्वप्रथम आमाशय में जाकर सम्पूर्ण विकृत पित्तमूल का अपकर्षण कर अद्यो मार्ग से बहार निकाल देता है। आमाशय के विकृत पित्त पर विजय प्राप्त कर लेने पर शरीर के विभिन्न भागों में होने वाले पित्तज रोग स्वयं ही शांत हो जाते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार किसी घर में आग लगने पर आग बुझाकर काबू पाया जाता है उसी प्रकार आग बुझाने के पश्चात् जो शनैः शनैः शीतलता की प्राप्ति होती है और घर शीतल हो जाता है उसी प्रकार आमाशयिक पित्त के शांत होने पर समस्त शरीर के पित्तज रोग शांत हो जाते हैं।

2. बुद्धि प्रसादन– विरेचन से दोषादि मलों का शोधन होने से बुद्धि का प्रसादन होता हैं इन्द्रियों में सबलता की प्राप्ति, धातुओं में स्थिरता, उत्साह की वृद्धि, जठराग्नि दीप्त होती है तथा बुढ़ापा देर से आता है।

3. सकल मल संशोधन– जिस व्यक्ति के शरीर में कफ, पित्त, रक्त और मल अधिक मात्रा में हो तथा वे वायु युक्त हों तथा जिनका शरीर बड़ा व बलवान हो उनमें संशोधन (वमन-विरेचन आदि) के द्वारा लंघन कराना चाहिए।

4. हृदय व वृक्क विकृति में लाभदायक– विरेचन द्रव्य हृदय विकार और वृक्क विकृति के कारण उत्पन्न शोथरोग और जलोदर में जल सदृश्य मल विसर्जन कराकर, शरीर में जल की मात्रा को घटाकर शोथ को दूर करते हैं।

5. कोष्ठबद्धता का नाश– विरेचन से अन्न नलिका में से त्याज्य पदार्थ बाहर निकाल दिये जाते हैं जिससे कोष्ठबद्धताजन्य शिरःशूल और व्याकुलता शांत हो जाती है।

6. अन्य रोगों में लाभकारी है यथा–

(i) ज्वर में विरेचन का प्रयोग शारीरिक उत्ताप को कम कर देता है।

(ii) रक्तभार वृद्धि का ह्रास करता है जिससे रक्त का दबाव न्यून होने पर आंतरिक अंगों में होने वाले रक्तस्राव में न्यूनतां आ जाती हैं।

(iii) धमनी सिरा विस्तार (Vericose vein) और आन्त्रवृद्धि (Hernia, Apendix) आदि।

(iv) विरेचन गर्भाशय पर प्रभाव डालकर रजः स्त्राव का प्रवर्तन कराता है।

(v) रक्तज रोग जैसे कुष्ठ, विसर्प, रक्त पित्त, प्लीहा, विद्रधि और वातरक्त।

(vi) पित्तज विकार जैसे पाण्डु, कामला, हलीमक।

(vii) मानस विकारों (मद-मूर्च्छा आदि) में।

7. स्वास्थ्य और दीर्घायुस्य– शरीर के दूषित त्रिदोष (वात, पित्त, कफ), मूत्र, पुरीष आदि मलों को दूर करने में, रोगों को नष्ट करने में तथा बल, वर्ण को समृद्ध बनाने में संशोधन (वमन विरेचन आदि) का प्रयोग किया जाता है।

काश्यपानुसार विरेचन द्वारा शरीर शुद्ध हो जाने से धातुएँ शुद्ध हो जाती हैं और इन्द्रियाँ प्रसन्न और क्रियाशील रहती हैं तथा वीर्य की समृद्धि होकर सत्तानोत्पत्ति की क्षमता प्राप्त होती हैं।

संशोधन (वमन विरेचन आदि) का प्रयोग करने से व्यक्ति स्वस्थ तथा दीर्घाजीवी होता है।

विरेचन द्रव्यों के गुण (Properties of Virechana Drugs)– निम्न गुण हैं-

(1) ऊष्ण (2) तीक्ष्ण (3) सूक्ष्म (4) व्यवायी (5) विकासी

(6) प्रभाव–अधोर्मागहरण

वमन व विरेचन द्रव्यों के गुण, प्रभाव को छोडकर समान होते हैं।

1. ऊष्ण – ऊष्ण गुण के कारण दोषों का पाक कर उन्हें गला देता है जिससे दोष कोष्ठगमन करते हैं।

2. तीक्ष्ण – इस गुण से विरेचन द्रव्य दोषों का पाचन और छेदन करता है जिससे दोष अपने स्थान से स्त्रवण करने योग्य हो जाते हैं।

3. सूक्ष्म – इस गुण से स्थूल एवं अणु स्त्रोतों में प्रविष्ट होकर दोषों का पाचन तथा विष्यन्दन करता है एवं उन्हें कोष्ठमनोन्मुख बनाता है।

4. व्यवायी– इस गुण के कारण विरेचन द्रव्य पाचन होने के पूर्व ही शरीर में फैलकर अपना कार्य करता है।

5. विकासी – इस गुण से विरेचन द्रव्य धातुओं में श्लिष्ट दोषों को पृथक् करते है।

6. अधोभागहरण (प्रभाव)– इस प्रभाव के कारण ही अधोभाग से दोषों को बाहर निकालता है।

इन गुणों से युक्त होने के कारण से हृदय में जाकर धमनियों का अनुसरण कर सूक्ष्म और स्थूल स्त्रोतों तथा धातुओं में लीन दोषों को अपनी उष्णता से विलयन, अपनी तीक्ष्णता से छिन्न भिन्न करते हैं। फिर दोष पक्वाशय में चले जाते हैं।

विरेचन द्रव्य पृथ्वी व जल महाभूत प्रधान होने के कारण अधोभागहर प्रभाव युक्त होने से, अपान वायु की प्रेरणा से पक्वाशयस्थ दोषों को गुदमार्ग से बाहर निकाल देते हैं।

	वमन द्रव्य गुण	विरेचन द्रव्य गुण
1.	उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म व्यवायी, विकासी	समान
2.	प्रभाव–उर्ध्व भाग	अधोभाग
3.	महाभूत– अग्नि वायु	पृथ्वी, जल

वमन/विरेचन सम्प्राप्ति

उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकासी गुण
वाली औषधियाँ
↓
अपने वीर्य से
↓
हृदय में जाकर
↓
धमनियों द्वारा या धमनी का अनुसरण कर
↓
स्थूल तथा अणु (सूक्ष्म) स्त्रोतों में प्रविष्ट हो
↓
सम्पूर्ण शरीर स्थित दोष को उष्ण होने के कारण विष्यदंन (विलयन)
तीक्ष्ण होने के कारण दोषो का छेदन

↓
विच्छिन्न हुआ दोष इधर-उधर गमन करता हुआ
स्नेह से भावित शरीर होने के कारण
↓
कोष्ठ की ओर गमन
↓

आमाशय में आकर	पक्वाशय/अद्यो आमाशय में आकर
उदान वायु से प्रेरित होकर	अपान वायु से प्रेरित होकर
↓	↓
अग्नि और वायु में उत्कर्ष के कारण	पृथ्वी व जल में उत्कर्ष के कारण
↓	↓
उर्ध्व भाग के दोषों का हरण करने का प्रभाव होने के कारण	अधोभाग के दोषों का हरण करने का प्रभाव होने के कारण
↓	↓
उर्ध्व (मुख) की ओर गमन	अधो (गुद) की ओर गमन
↓	↓
वमन	विरेचन

विरेचन योग्य रोग व रोगी (Indications of Virechana Karma)–

शेषास्तुविरेच्याः–विशेषतस्तु कुष्ठ ज्वरमेहार्ध्व रक्तपित्त भगंदरार्शो ब्रघ्न प्लीहगुल्मार्बुद गलगंड ग्रंथि विसूचिकालसक मूत्राघातक्रिमिकोष्ठ विसर्प पांडुरोग शिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोग व्यंग नीलिका नेत्रनासिकास्यस्रवणहलीमक श्वास कास कामलापच्यपस्मारोन्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैर्मिर्यारोचकाविपाकच्छर्दि श्वयथूदरविस्फोटकादयः, पित्त व्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च।। (च. सि. 2/13)

1. कुष्ठ	2. ज्वर	3. प्रमेह
4. उर्ध्वरक्तपित्त	5. भगन्दर	6. उदर रोग
7. अर्श	8. ब्रघ्न रोग	9. प्लीहा रोग
10. अर्बुद	11. गलगण्ड	12. ग्रंथि
13. विसूचिका	14. अलसक	15. मूत्राघात
16. क्रिमिकोष्ठ	17. विसर्प	18. पाण्डु
19. शिरःशूल	20. पार्श्वशूल	21. उदावर्त
22. नेत्र दाह	23. मुख दाह	24. हृदय रोग
25. व्यंग	26. नीलिका	27. नेत्र, नसिका या मुख से स्त्राव होने पर
28. हलीमक	29. कामला	30. कास
31. श्वास	32. अपची	33. अपस्मार

34. उन्माद 35. वात रक्त 36. योनि दोष
37. शुक्र दोष 38. तिमिर 39. अरोचक
40. वमन 41. शोथ 42. विस्फोटक रोग
43. च. सू. 20 अध्याय में समस्त पित्तज विकारों में

विरेचन के अयोग्य रोग व रोगी (Contra indication of Virechana Karma)

अधिरेच्यास्तु सुभग क्षत गुद मुक्तालाधोभाग रक्तपित्त विलंबित, दुर्बलेंद्रिय, अल्पानि निरूढ़ कामादि व्यग्राजीर्णि नवज्वरि मदात्ययिताध्मात शल्यर्दिताभिहतातिस्निग्ध रुक्ष दारुण कोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यांताः।। (क्षतादयश्च गर्भिण्यांताः इति वमनादिविषय मध्ये पठिताः) (च. सि. 2/11)

1. सुकुमार 2. क्षतगुद 3. मुक्तनाल
4. अधोरक्तपित्त 5. लंघित (लंघन के बाद) 6. दुर्बल इन्द्रियों वाला
7. अल्पाग्नि (मंदाग्नि) 8. निरुह बस्ति देने के बाद 9. काम आदि से व्यग्र
10. अजीर्ण 11. नवज्वर 12. मदात्यय
13. आध्मान 14. शल्यार्दित- अन्तः शल्य से पीडित 15. आघात से पीडित
16. अतिस्निग्ध 17. अतिरुक्ष 18. अति दारुण कोष्ठ (अति क्रूर कोष्ठ)
19. उरः क्षत 20. क्षीण 21. अतिस्थूल
22. अतिकृश 23. बालक 24. वृद्ध
25. दुर्बल 26. श्रान्त 27. पिपासित (प्यास से पीडित)
28. भूख से पीडित (क्षुधित) 29. कार्य से थका हुआ 30. भार से थका हुआ
31. उपवास 32. मैथुन 33. अध्ययन प्रसक्त
34. व्यायाम प्रसक्त 35. चिन्ता प्रसक्त 36. क्षाम
37. गर्भिणी 38. नवप्रसूता 39. नवप्रतिश्याय
40. राजयक्ष्मा 41. अतिसार 42. हृद्रोगी
43. भयभीत 44. नित्यदुःखित

(1-37 तक चरकानुसार है, 38-44 अन्य आचार्यानुसार है, आचार्य चरकानुसार क्षीण से लेकर गर्भिणी 20 से 37 तक वमन के भी अयोग्य है।)

अयोग्यों को विरेचन कराने से सम्भवित विकार-

1. यदि सुभग में विरेचन कराया जाये तो सुकुमारोक्त उपद्रव अर्थात् हृदयापकर्षण से ऊर्ध्व या अधोभाग में रक्तप्रवृत्ति होती है।

2. जिसकी गुदा में क्षत है उसे विरेचन करने से भयंकर रुजा उत्पन्न होती है।

3. विलंघित, दुर्बलेंद्रिय, अग्नि मंद हो, जिन्हें निरुह बस्ति दी गई हो, वे विरेचनौषधि का वेग सहन नहीं कर सकते।

4. अजीर्ण अवस्था में विरेचन देने से आमदोष की उत्पत्ति होती है।

5. नवज्वर में अपक्व (आम) दोष होने के कारण विरेचन उसे निकाल नहीं सकता और वात प्रकोप होने की सम्भावना होती है।

6. मदात्यय में मद्य के कारण शरीर क्षीण हो जाने से वायु प्रकुपित होकर प्राणोपरोध होता है।

7. आध्मान के कारण पहले ही वायु प्रकोप है, अतः विरेचनौषधि के प्रक्षोभ से अत्यधिक आनाह उत्पन्न होता है। जिससे मरण भी सम्भव है।

8. शल्य से पीड़ित आतुरों में विरेचन से शल्य क्षत में वायु प्रकोप के कारण प्राण नाश सम्भव है।

9. अतिरूक्ष को विरेचन से प्रकुपित वायु शरीर को जकड़ देता है।

10. क्रूरकोष्ठ को विरेचन देने से विरेचन तो शीघ्र नहीं होता अपितु दोष प्रकुपित होकर हृच्छूल, पर्वभेद, आनाह अंगमर्द, छर्दि, मूर्च्छा तथा प्राण नाश सम्भव है।

11. क्षतादि से गर्भिणी तक के आतुरों को विरेचन करने से वमन में कहे गये दोष उत्पन्न होते हैं।

12. मुक्तनाल, अधोग रक्तपित्त तथा अतिस्निग्ध आतुरों में विरेचन से अतिप्रवृत्ति का भय रहता है।

13. विचलित मन वाले एवं काम, क्रोध, शोक, भयादि आतुरों को विरेचन देने से कष्टपूर्वक विरेचन होता है, और अयोग लक्षण उत्पन्न होते है अथवा वेग की प्रवृत्ति ही नहीं होती। चूँकि शोक और भय ये दोनों अतिसार के हेतु भी है अतः इनमें अतिप्रवृत्ति की सम्भावना रहती है।

विरेचन के भेद (Types of Virechana)

चरकानुसार

1. मृदुविरेचन 2. सुखविरेचन 3. तीक्ष्ण विरेचन

1. मृदु विरेचन- जो विरेचन द्रव्य कोष्ठ स्थित पकने योग्य मलादि को बिना पकाये ही नीचे की ओर अग्रसित कर देते हैं वे मृदु विरेचन द्रव्य की श्रेणी में आते हैं।

जैसे- अमलतास (चतुरङ्गुल)

2. सुखविरेचन- जो विरेचन द्रव्य पक्व या अपक्व मलादिकों को पतला करके सुखपूर्वक नीचे अग्रसित कर हैं।

जैसे- निशोथ (त्रिवृत)

3. तीक्ष्ण विरेचन- जो विरेचन द्रव्य कोष्ठस्थ मल की गांठे को तोड़कर तथा विडोलित कर मलादि को बा निकालता है यह तीव्रकार्यकर होता है।

जैसे- स्नुहीक्षीर

आचार्य शार्ङ्गधर और भावमिश्र के अनुसार 4 भेद :-

1. अनुलोमन 2. स्रंसन 3. भेदन 4. रेचन

1. अनुलोमन –

कृत्वा पाकं मलानां यत् भित्वा बंधमधोनयेत्।

तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी।। (शा. पू. खं 4/3)

यह एक प्रकार का मृदुविरेचन है जो द्रव्य मलादि को परिपाक करके, वायु के बंधन को भेदन करके उन्हें गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।

जैसे- हरीतकी

2. स्रंसन –

पक्तव्यं यदपक्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकं।

नयत्यधः स्रंसनं तत् यथा स्यात् कृतमालकः।। (शा. पू. खं 4/4)

जो द्रव्य कोष्ठ स्थित पकने योग्य मलादि को बिना पकाये गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है। जैसे- अमलतास

3. भेदन –

मलादिकमबद्धं यद्बद्धं वा पिंडितं मलैः।

भित्वाधः पातयति यद् भेदनं कटुकी यथा।। (शा. पू. खं 4/5)

जो द्रव्य शिथिल व गाढे मलादिको के टुकडे करके गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।

जैसे- कुटकी

4. रेचन –

विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्।

रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा।। (शा. पू. खं.-4/6)

जो द्रव्य पक्व अथवा अपक्व मलादिकों को पतला करके गुद मार्ग के द्वारा शरीर से बाहर निकालता है।

जैसे - निशोथ।

विरेचन के भेद

1. चरकानुसार

	मृदु विरेचन	सुख विरेचन	तीक्ष्ण विरेचन
1. मल प्रवर्तक	अल्प मल प्रवर्तक	सुख पूर्वक अबहु मल प्रवर्तक	अति वेग से मल प्रवर्तक
2. उदाहरण	अमलतास	निशोथ	स्नुही क्षीर

2. शार्ङ्गधर व भावमिश्रानुसार

	अनुलोमन	स्त्रंसन	भेदन	रेचन
मलादि की स्थिति	मलादि को पकाकर बाहर निकाले	बिना पकाये ही शरीर से बाहर	मलादि को टुकडे करके शरीर से बाहर	पक्व अथवा अपक्व मलादि को पतला करके
उदाहरण	हरीतकी	अमलतास	कुटकी	निशोथ

आचार्य चरकानुसार विरेचन द्रव्य–

आचार्य चरक ने अनेक स्थलों पर विरेचन द्रव्यों का उल्लेख किया है।

11 मूलिनी द्रव्य विरेचन द्रव्य है। (जिनका मूलचूर्ण प्रयुक्त होता है)

10 फलिनी द्रव्य विरेचन द्रव्य हैं। (जिनका फल प्रयुक्त होती है)

चार महास्नेह विरेचन के सहयोगी द्रव्य है।

पांच लवण विरेचन के सहयोगी द्रव्य हैं।

अष्ट मूत्र, अष्ट दुग्ध भी विरेचन के सहायक द्रव्य हैं।

शोधनार्थ 6 वृक्षों में 5 विरेचन द्रव्य हैं।

दश भेदनीय द्रव्य –

सुवहार्कोरूबूकाग्निमुखीचित्राचित्रक चिर बिल्वशङ्खिनी

शकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति।। (च. सू. 4/8)

1. निशोथ 2. अर्क 3. एरण्ड 4. लांगली 5. दंती
6. चित्रक 7. चिर बिल्व 8. शंङ्खिनी (यव तिक्ता) 9. कुटकी 10. स्वर्णक्षीरी

10 विरेचनोपग (विरेचन में सहायक)–

द्राक्षाकाश्मर्यरूपकाभयामलक विभितककुबलबदरकर्कन्धुपीलू नीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति।।

(च. सू. 4/8)

1. द्राक्षा 2. गम्भारी फल 3. फालसा 4. हर्रा 5. आंवला
6. बहेडा 7. बडी बेर 8. बेर 9. छोटी बेर 10. पीलु

विरेचन सहायक क्वाथ द्रव्य (च. वि. 8/136)–

1. अजवायन 2. अश्वगंधा 3. नीलिनी 4. मुलेठी 5. लताकरंज
6. पूतिकरञ्ज 7. मेढासिंगी 8. कबीला 9. इन्द्रवारुणी 10. रक्तपुनर्नवा
11. त्रिफला 12. फालसा 13. अनार 14. वायविडङ्ग

इन द्रव्यों के क्षीर, मूल, त्वक् का प्रयोग क्वाथ हेतु किया जाता है।

आचार्य सुश्रुतानुसार विरेचन द्रव्य– (सु.सू. 39/4)

आचार्य सुश्रुत ने चरकोक्त विरेचन द्रव्यों के अलावा कुश, काश, बकायन तथा ज्योतिष्मती का अधिक उल्लेख किया है।

आचार्य वाग्भट्टानुसार विरेचन द्रव्य (अ. ह.सू. 15/2)–

1. दंतीमूल	2. निशोथमूल	3. त्रिफला	4. इन्द्रायणमूल
5. सेहण्डदुग्ध (थूहर)	6. यवतिक्ता (शंखिनी)	7. नीलबीज	8. तिल्वक (लोध्र की छाल)
9. अमलतास	10. कबीला (कम्पिल्लक)	11. दुग्ध	12. गोमूत्र
13. भडभाड (स्वर्णक्षीरी)			

विरेचन द्रव्यों की कल्पनाएँ

रोगी की प्रकृति आदि का विचार कर विरेचन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। चूर्ण, वटी, आसव, अरिष्ट, क्वाथ, यूष, दुग्ध, घृत, यवागु, राग, षाडव, मोदक, तर्पण, अवलेह, सुरा, क्षीरयोग, मद्ययोग, घृतयोग, तैलयोग आदि के साथ अथवा कल्पना के रूप में विरेचन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

विरेचन विधि (Procedure of Virechana Karma)

विरेचन कर्म तीन चरणों में सम्पादित किया जाता है–

(1) पूर्वकर्म (2) प्रधान कर्म (3) पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म (Pre operative procedure)

पूर्व कर्म को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है।

(A) संभार संग्रह (B) आतुर परीक्षा (C) आतुर सिद्धता

(A) संभार संग्रह (Collection of necessary facilities)– विरेचन के योग्य कक्ष जिसमें पानी, शौचालय आदि की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

उपकरण– विरेचन पीठ या मल पात्र (Bed Pans), मेजर ग्लास, कटोरी, भगोना, विरेचनार्थ औषध या योग, विरेचनोपग एवं उपद्रव निवारण औषधियाँ हों जैसे कुटजघन वटी, कर्पूर रस, जातीफलादि चूर्ण, अभ्यंग हेतु- तैल, स्नेहपान हेतु शुद्ध घृत/तैल या संस्कारित घृत, स्वेदन हेतु नाडी पेटिका स्वेदन की व्यवस्था आदि।

परिचारक- विरेचन हेतु (4) परिचारक को आवश्यकता होती है।

(B) आतुर परीक्षा (Examination of the patient)–

(i) रोगी परीक्षा– सर्वप्रथम यह निश्चय किया जाता है कि रोगी विरेचन के योग्य है या नहीं। यदि है तो देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, सत्व, प्रकृति आदि का परीक्षण कर फिर विरेचन प्रकार का निर्धारण करते है।

(ii) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) – रोगी का विरेचन कराने से पूर्व चिकित्सा की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी के साथ उपद्रव आदि की जानकारी देते हैं तथा उसकी लिखित में सहमति लेते हैं।

(iii) तापक्रमादि सारणी (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, नाडी गति, श्वसन गति, वजन, रक्तचाप आदि का मापन सम्पूर्ण विरेचन क्रिया में कम से कम 4 बार किया जाता है (1. पूर्व कर्म, 2. प्रधान कर्म में 2 बार विरेचन योग पूर्व व पश्चात् 3. पश्चात् कर्म में)

(C) आतुर सिद्धता (Preparation of patient)

(i) रोगी की तैयारी– विरेचन से पूर्व वमन कराना हो तो रोगी का स्नेहन, स्वेदन-वमन, संसर्जन क्रम के पश्चात् फिर पुनः नए क्रम से रोगानुसार स्नेह से स्नेहन किया जाता है।

वमन-पश्चात् संसर्जन क्रमानुसार पथ्य प्रयोग के बाद 9 वें, 10वें, 11वें, 12वें दिन स्नेहपान कराते हैं। अथवा वमनोत्तर या सीधे विरेचन हेतु सम्यक् स्नेहन लक्षण प्राप्त होने तक स्नेहपान कराते हैं।

स्नेहात् प्रस्कंदनं जंतुः त्रिरात्रोपरतः पिबेत्।। (च. सू. 13/80)

सम्यक् स्नेहन होने के बाद तीन दिन विश्राम (gap day) कराकर 4th दिन विरेचन देना चाहिए।

श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग् विरेचयेत्। (अ. ह. सू. 18/33)

विरेचन का प्रयोग प्रातःकाल (10 बजे लगभग-पैत्तिक काल प्रारम्भ) खाली पेट किया जाता है।

स्नेहवत् द्रवमुष्णंच त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्। (च. सू. 13/80)

रसैस्तथा जांगलजैः सयूषै स्निग्धै कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः। (च. सि. 1/9)

रोगी को मानसिक दृष्टि से तैयार करना चाहिए तथा सम्पूर्ण तीन दिन (विश्राम दिवस) को भोजन में ऊष्ण, द्रव, स्निग्ध कफ अवृद्धिकर पदार्थों का सेवन कराकर प्रातः काल विरेचन योग दिया जाता है।

प्रयोज्य औषध की कल्पना–

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि। पायसं कृशरां सर्पिः काश्मर्य त्रिफला रसं। द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा। मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते। विरेचयंति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन्।।

(च. सू. 13/66-68)

मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति का विरेचन गुड के शर्बत, गन्ने का रस, दूध, खीर, घी, त्रिफला, द्राक्षा, मद्य और गरम जल के पीने से ही हो जाता है।

(ii) मृदु विरेचन के योग्य रोगी–

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्प दोषः कृशो नरः। अपरिज्ञात कोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधं।।

वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम्।। (अ. ह. सू. 18/49-50)

दुर्बल, पूर्व में शोधित, अल्पदोष, कृश और अज्ञातकोष्ठ रोगी को प्रारम्भ में मृदु और अल्पमात्रा में औषध देना चाहिए। क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति की ग्रहणी में वात की प्रधानता होती है अतः उसे तीक्ष्ण विरेचन औषध दी जाती है।

(iii) रोगी की वेशभूषा– रोगी को विरेचन के समय न अधिक तंग न अधिक ढीले कपडे पहनाने चाहिए। रोगी की सुविधानुसार वेश-भूषा का निर्धारण किया जाता है।

विरेचनार्थ औषध मात्रा (Dose of Virechana yog)– औषध की मात्रा और प्रकार का निर्धारण रोगी के कोष्ठ, दोष, अग्नि और प्रकृति आदि के आधार पर क्रिया जाता है।

आचार्य शार्ङ्गधर ने मात्रा एवं दोषानुसार निम्न मात्रा निर्देशित की है।

द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत्। पलार्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम्।

कल्क मोदकचूर्णानां कर्षमध्वाज्वलेहतः। कर्षद्वयं पलं वापि वयो रोगा[illegible]

औषध/कल्पना	प्रधान	मध्य	हीन
विरेचन क्वाथ मात्रा	2 पल (100 ml)	1 पल (50ml)	1/2 पल (25ml)
कल्क, चूर्ण, मोदक	1 पल (48 g)	2 कर्ष (24g)	1 कर्ष (12g)
स्वरस (क्वाथ की अर्द्ध मात्रा)	1 पल (48 g)	2 कर्ष (24g)	1 कर्ष (12g)
उष्णोदक (अनुपान की तरह)	3 पल (150ml	2 पल (100ml)	1 पल (50ml)

दोषानुसार:-

पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षा क्वाथादिभि: पिबेंत्। त्रिफला क्वाथ गौमूत्रै: पिबेत् व्योषं कफादित:।।

त्रिवृत्सैंधव शुंठीना चूर्णमम्लै: पिबेन्नर:। वातर्दितो विरेकाय जांगलानां रसेन वा।।

(शा. उ. ख. अ. 4/18-19)

वात प्रधान	पित्त प्रधान	कफ प्रधान
त्रिकटु चर्ण शुण्ठी चूर्ण सेंधा नमक सुखोष्ण जल से	त्रिवृत चूर्ण द्राक्षा क्वाथ से	त्रिकटु चूर्ण त्रिफला क्वाथ व गोमूत्र से

व्यवहारोपयोगी मात्रा :- (कोष्ठानुसार)

	औषध/कल्पना	क्रूर कोष्ठ	मध्यम कोष्ठ	मृदु कोष्ठ
1.	इच्छा भेद रस/अन्य जमालघोटा युक्त योग/ अभयादि मोदक	500mg	250mg	125mg
2.	एरण्ड स्नेह	120ml	60ml	30ml
3.	त्रिवृत चूर्ण/सनाय योग	15g	8g	4g
4.	ईसबगोल/गुलाब पत्र	15g	8g	4g
5.	पंचसकार चूर्ण/अविपत्तीकर/ तरुणी कुसुमाकर/त्रिफला	15g	8g	4g
6.	द्राक्षा/आरग्वध क्वाथ	120ml	60ml	30ml

2. प्रधान कर्म (Pradhan karma)-

विरेचन योग देने से लेकर जब तक विरेचन के वेग आते रहते हैं तब तक के चिकित्सकीय कार्य प्रधान कर्म में आते हैं।

(i) विरेचनोषधि प्रयोग (ii) रोगी निरीक्षण (iii) वेग निर्णय
(iv) सम्यक्, हीन, अतियोग विश्लेषण (v) उपद्रवों का शमन

(i) विरेचनौषधि प्रयोग-रोगी का आसन पूर्वाभिमुख रखते हैं तथा रोगी को मानसिक दृष्टि से तैयार करके विरेचन योग दिया जाता है। विरेचन योग रोगी के क्रूर, मध्य, मृदु कोष्ठ के अनुसार दिया जाता है। विरेचन योग की माप एवं तापक्रमादि मान (Vital recording) को विरेचन विवरण पत्रक पर अंकित करते है।

(ii) रोगी निरीक्षण (Observation of the patient) - (अ) विरेचन औषध पिलाने के बाद रोगी की स्थिति पर नजर रखी जाती है। कभी-कभी औषध के स्वादु न होने से उसकी गंध से ही वमन हो जाता है अतः चमेली, जुही आदि सुंगधित फूलों की माला रोगी को पहना दी जाती है। अथवा इत्र आदि लगा दिया जाता है।

(ब) रोगी को निवात स्थान में रखना चाहिए। तथा बार-बार थोडा-थोडा गरम पानी पिलाया जाता है। परन्तु यदि जयपाल (जमालघोटा) का योग दिया हो तो उष्ण जल के स्थान पर ठण्डा जल पिलाना चाहिए। (इच्छाभेदी, नाराच रस, जलोदरारि रस आदि देने पर)

ऊर्ध्वं कफानुगे पित्ते विट्पित्तेऽनुकफेत्वध:।

हृतदोषं वदेत्काश्र्यं दौर्बल्ये चेत् सलाघवे।। (च. सि. 6/20)

(स) समुचित विरेचन होने पर पहले मल→पित्त→कफ निकलता है तथा शरीर में कृशता, दौर्बल्य और लघुता होती है।

(द) यदि विरेचन औषध पच जाए और विरेचम न हो तो उस दिन रोगी को भोजन कर पुनः दूसरे दिन विरेचनार्थ औषध देनी चाहिए।

(य) यदि फिर भी विरेचन न हो तो 10 दिन के पश्चात् पुनः स्नेहन-स्वेदन कराकर विरेचन हेतु पहले से अधिक तीव्र औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(iii) वेग निर्णय (Assessment of vega)-

(अ) विरेचन योग पिलाने के बाद मल से युक्त पहले जो 2-3 वेग आते हैं उन्हें छोड़कर वेगों को गिनना चाहिए।

(ब) विरेचन में प्रवर, मध्य और अवर शुद्धि का निर्णय वेगों की संख्या, विसृष्ट मल का वजन और लक्षणों के आधार पर किया जाता है।

शुद्धि सारणी

शुद्धि	प्रवर	मध्य	अवर
वेगीकी	30	20	10
मानिकी	4 प्रस्थ	3 प्रस्थ	2 प्रस्थ
अंतकी	कफांत	कफांत	कफांत
लैंगकी	सम्यक् विरेचन लक्षण	सम्यक् विरेचन लक्षण	सम्यक् विरेचन लक्षण

- प्रवर शुद्धि में 30 वेग, 4 प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन।
- मध्य शुद्धि में 20 वेग 3 प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन।
- अवर शुद्धि में 10 वेग 2 प्रस्थ विसृष्ट मल तथा कफान्त विरेचन- लक्षण मिलते हैं।

(iv) विरेचन सम्यक्, हीन व अतियोग का विश्लेषण- विरेचन कर्म के पश्चात् उत्पन्न लक्षणों को ध्यान से देखा जाता है। हीन योग के लक्षण उत्पन्न होने पर पुनः विरेचन औषध दिया जाता है अतियोग होने की स्थिति में विरेचन क्रिया को रोक कर, अतियोग की चिकित्सा कर, रोगी को विश्राम करवाया जाता है तथा सम्यक् योग के लक्षण होने पर आगे की प्रक्रिया (बस्ति/नस्य/शमन/रसायन-वाजीकरण प्रयोग) की जाती है।

3. पश्चात् कर्म (Paschat Karma) :-

विरेचन के वेग समाप्त हो जाने के बाद से प्राकृत भोजन कराने के समय के बीच में जो कर्म किए जाते हैं वे पश्चात् कर्म की श्रेणी में आते हैं। ये निम्न हैं-

(i) संसर्जन क्रम **(ii) तर्पण औषध** **(iii) संयम-नियम** **(iv) विरेचनोत्तर कर्म**

वमन कर्म के अन्तर्गत जो पश्चात् कर्म का वर्णन है वही विरेचन कर्म का भी है अंतर केवल धूमपान का है अर्थात् विरेचन के पश्चात् धूमपान नहीं कराया जाता शेष वमनवत् है।

1. संसर्जन क्रम

विरेचन कर्म के पश्चात् जठराग्नि न्यूनतम हो जाती है इस अग्नि की रक्षा करते हुए लघु आहार की योजना की जाती है। उसे संसर्जन क्रम कहा जाता है।

प्रवर शुद्धि में संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	प्रवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	×
	सांय	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. पेया
	सांय	3. पेया
तृतीय दिवस	प्रातः	4. विलेपी
	सांय	5. विलेपी
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. विलेपी
	सांय	7. अकृत यूष
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत यूष
	सांय	9. कृत यूष

षष्ठ दिवस	प्रातः	10. अकृत मांसरस
	सांय	11. कृत मांसरस
सप्तम दिवस	प्रातः	12. कृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार

प्रवर शुद्धि-

कुल अन्न काल	-	12
दिवस	-	7 दिन

मध्यम शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	मध्यम शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	×
	सायं	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. पेया
	सांय	3. विलेपी
तृतीय दिवस	प्रातः	4. विलेपी
	सांय	5. अकृत यूष
चतुर्थ दिवस	प्रातः	6. कृत यूष
	सांय	7. अकृत मांसरस
पंचम दिवस	प्रातः	8. कृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार

कुल अन्नकाल - 8

अवर शुद्धि संसर्जन क्रम तालिका

दिवस	अन्नकाल	अवर शुद्धि
प्रथम दिवस	प्रातः	×
	सांय	1. पेया
द्वितीय दिवस	प्रातः	2. विलेपी
	सांय	3. कृताकृत यूष
तृतीय दिवस	प्रातः	4. कृताकृत मांसरस
	सांय	सामान्य आहार

कुल अन्नकाल - 4

2. तर्पण औषध– रोगी की निर्बलता एवं दोष आदि का विचार कर संसर्जन क्रम के स्थान पर संतर्पण क्रम को अपनाया जा सकता है।

जैसे– मुनक्का, वृक्षाम्ल, इमली, अनारदाना, आनार, फालसा और आंवला इनके रस में घुला हुआ मंथ तर्पण है और मदिरा के विकार का नाश करता है।

3. संयम–नियम – विरेचन कर्म के पश्चात् रोगी को निम्न कार्यों की उपेक्षा करनी चाहिए।

1. अधिक चलना
2. अधिक देर तक बैठना
3. अधिक देर तक खडे रहना
4. उच्च स्वर में बोलना
5. वेग विधारण करना
6. अधिक बोला, उच्च स्वर में बोलना
7. दिवाशयन करना
8. रात्रि जागरण करना
9. व्यवाय करना
10. अधिक शीत, धूप का सेवन करना
11. विरुद्ध आहार करना

4. विरेचनोत्तर कर्म–

(i) यदि विरेचन पश्चात् कोई शोधन कर्म नहीं करना हो तो संसर्जन क्रम पश्चात् शमन चिकित्सा /रसायन/ वाजीकरण चिकित्सा करनी चाहिए।

संसृष्ट भक्तं नवमेह्नि सर्पिस्तं पाययेद्वाप्यनुवासयेद्वा।
तैलाक्त गात्राय ततो निरूहं दद्यात् त्र्याहानाति बुभुक्षिताच।। (च. सि. 1/20)

(ii) यदि विरेचन पश्चात् रोगी को बस्ति देनी हो तो 9वें दिन पहले अनुवासन बस्ति देना चाहिए फिर तीन दिन पश्चात् अभ्यंग किए हुए व्यक्ति को निरुह बस्ति देनी चाहिए।

पक्षाद्विरेको वातंस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्योनिरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्रात् विरेचितः।। (सु. चि. 36/52)
नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्त दिनान्यवश्यम्।
शुद्धो निरूहेण विरेचनं च तद्धयस्य शून्यं विकसेच्छरीरम्।। (च. सि. 1/26)

विरेचन के सात दिन पश्चात ही निरुह बस्ति देनी चाहिए क्योंकि विरेचन से कोष्ठ रिक्त रहता है यदि इस स्थिति में निरुह बस्ति दी जाती है तो वह शरीर को नष्ट कर देता है।

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत्।
धूम वर्ज्येन विधिना, ततो वमितवानिव।
क्रमेणात्रानि भुंजानो भजेत्प्रकृति भोजनम्।। (अ. ह. सू. 18/42-43)

वमन कर्म पश्चात् धूमपान करवाया जाता है परन्तु विरेचन के पश्चात् धूमपान नहीं करवाते हैं।

(अ) विरेचन के सम्यक् योग के लक्षण (Features of adequate Virechana)–

प्रवर शुद्धि होने पर विरेचन के 30 वेग होते हैं। अंत में कफ आता है।

सम्यक् योग के लक्षण निम्न है–

स्त्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्।
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण।। (च. सि. 1/17)

1. स्त्रोतों विशुद्धि
2. इन्द्रिय प्रसाद
3. शरीर में लघुता एवं उत्साह
4. अग्निदीप्ति
5. अनामयत्व
6. क्रमशः विट्, पित्त, कफ, वात का निःसरण
7. वातानुलोमन

(ब) विरेचन के हीन योग के लक्षण (Features of inadequte Virechana) –

ये लक्षण निम्न है–

स्यात्श्लेष्मपित्तानिल संप्रकोपः सादस्तथाग्नेर्गुरुता प्रतिश्याय। तंद्रा तथा छर्दिरोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते। (च. सि. 1/18)

1. कफ प्रकोप
2. पित्त प्रकोप
3. वात प्रकोप
4. अग्निमांद्य
5. गौरव
6. प्रतिश्याय
7. तंद्रा
8. छर्दि
9. अरुचि
10. वातप्रतिलोमता (1 से 10 चरकानुसार है)
11. दाह
12. हृदय अशुद्धि
13. कुक्षि अशुद्धि
14. कण्डू
15. पिडिका
16. विट्संग
17. मूत्रसंग

(स) विरेचन के अतियोग के लक्षण (Features of excessive Virechana)–

ये निम्नलिखित है–निरुह बस्ति अति योग के लक्षण भी विरेचन अतियोग लक्षण समान है (चरकानुसार)

कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यंगमर्द क्लमवेपनाद्याः।
निद्रा बलाभावतमः प्रवेशाः सोन्माद हिक्काश्च विरेचितेऽति।। (च. सि. 1/19)
मूर्च्छा गुदभ्रंश कफातियोगाः शूलोद्गमश्चाति विरिक्त लिंगम्। (सु. चि. 33/24)

1. कफक्षयज विकार
2. रक्तक्षयज विकार
3. वातक्षयज विकार
4. सुप्ति (शरीर में शून्यता)
5. अंगमर्द
6. क्लम
7. वेपथु (कम्प)
8. निद्रा नाश
9. बलाभाव
10. तमःप्रवेश (आँखों के सामने अंधेरा छाना)
11. उन्माद
12. हिक्का (1 से 12 तक चरकानुसार है)
13. मूर्च्छा
14. गुदभ्रंश
15. शूल
16. कफ पित्त रहित श्वेत जल का निकलना
17. कफ पित्त रहित लोहित जल का निकलना
18. मांसधोवन तुल्य जल निकलना
19. तृष्णा
20. भ्रम
21. नेत्र का अन्तः प्रवेश
22. अति वमन के लक्षणों जैसे लक्षणों का उत्पन्न होन

(द) विरेचन के उपद्रव (Complications of Virechana)–

आचार्य चरकानुसार परिचारक की असावधानी, औषध की गुणहीनता, रोगी के प्रमाद अथवा चिकित्सक भूल से विरेचन का अयोग या अतियोग होता है उसके कारण 10 प्रकार के उपद्रव होते हैं जो निम्न हैं:-

1. आध्मान
2. परिस्त्राव
3. हृद्ग्रह
4. अङ्गग्रह

— अयोग

5. विभ्रंश — अतियोग के कारण

6. स्तम्भ
7. उपद्रव
8. क्लम

— अयोग

9. परिकर्तिका
10. जीवादान

— अतियोग

परिकर्तिका, जीवादान तथा विभ्रंश जैसे गुदभ्रंश ये लक्षण अतियोग के कारण होते हैं। शेष अयोग लक्षण है।

आचार्य सुश्रुत ने विरेचन के 15 व्यापद् बताएं हैं जिन्हें आचार्य चरक के 10 लक्षणों में समाहित किया जा सकता है। आचार्य चरक व सुश्रुत ने वमन व विरेचन के उपद्रव समान बताए हैं।

उपद्रवों की चिकित्सा (Treatment of complications)–

1. आध्मान– (i) यह होने पर अभ्यंग, स्वेदन, गुदवर्ति, निरुह, अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

(ii) शिवक्षार पाचन चूर्ण, हिंग्वादि वटी चूषणार्थ हेतु देते हैं।

2. परिकर्तिका – यह उपद्रव होने पर उदुम्बरत्वक् क्वाथ ½ लीटर में 100 ml तिल तैल मिलाकर पिच्छा बस्ति देनी चाहिए।

3. परिस्त्राव– अल्पदोष में कुटजघन वटी, शंखोदर रस, नागकेशर चूर्ण आदि का प्रयोग करते हैं।

अधिक दोष उर्ध्वगामी हो तो वमन कराएँ तथा अधिक दोष, यदि अधोगामी हो तो विरेचन तथा ग्रहणीरोगाधिकार में आसव, चूर्ण प्रयोग करना चाहिए।

4. हृद्ग्रह– दोषों की उर्ध्वगति होने पर आमाशय के उर्ध्वभाग में स्तब्धता होने से हृदय प्रदेश में जकडन की प्रतीति होती है इस स्थिति में वमन करवाना चाहिए। तथा दीपन पाचन और वातानुलोमन उपचार करते है मूर्च्छा होने पर नस्य देते है।

5. अंगग्रह– सम्पूर्ण शरीर का तैलाभ्यंग व स्वेदन करना चाहिए। तथा वातनाशक उपचार करते है।

6. जीवादान– शुद्ध रक्त निकलने को जीवादान कहा जाता है। इस प्रकार की स्थिति होने पर न्यग्रोधादि गण के क्वाथ में घृत मिलाकर पिच्छाबस्ति देनी चाहिए; तथा शीतल जल से परिषेक करते हैं या रक्त शोधक चिकित्सा करते हैं।

7. विभ्रंश– यह तीन प्रकार का होता है–

(अ) गुद भ्रंश (ब) संज्ञाभ्रंश (स) कण्डू, पिडिका आदि का होना

(अ) **गुदभ्रंश–** वट, गूलर, बेर, चमेली, लोध्र पत्ते के क्वाथ में फिटकरी का चूर्ण मिलाकर गुदा में पिचु धारण करवायें। जात्यादि तैल लगाकर गुदा को अन्तः प्रविष्ट करवायें।

(ब) संज्ञाभ्रंश– मन की प्रसन्नता हेतु मधुर संगीत, इत्र, सुगन्धित पुष्पमाला धारण, शीतल तैल आदि का लेप करना चाहिए।

(स) कण्डू–पिडिका आदि भ्रंश में– स्नेहन, स्वेदन कराकर तीक्ष्ण शोधन करना चाहिए।

8. स्तम्भ– लंघन, पाचन, तीक्ष्ण विरेचन, बस्ति चिकित्सा करनी चाहिए।

9. उपद्रव– स्नेहन, स्वेदन, वातनाशक उपचार करना चाहिए।

10. क्लम– लंघन, पाचन, स्वेदन, तीक्ष्ण शोधन चिकित्सा करनी चाहिए।

विरेचक की कार्मुकता

विरेचक औषधि

(उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी गुण युक्त)

↓

स्ववीर्य से हृदय में प्रवेश

↓

धमनियों का अनुसरण कर स्थूल तथा अणु स्रोतों में प्रवेश

↓

सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले दोष-समूह पर क्रिया

उष्ण गुण से - विष्यन्दन

तीक्ष्ण गुण से - विच्छिन्दन

अणु प्रवण भाव से– **अणुत्वं च अणुमार्ग संचारित्वम्**
प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्

↓

आमाशय में प्रवेश (अधो) / ऊर्ध्वभाग

↓

अधः प्रवृत्ति

(जल व पृथ्वी महाभूत की प्रधानता तथा अधोभागहर प्रभाव के कारण)

↓

विरेचन

आचार्यों ने विरेचक औषधियों के प्रभाव/कार्मुकत्व के सन्दर्भ में निम्न दृष्टान्त दिये है-

चरकानुसार – चरक ने अग्निगृह का दृष्टान्त देकर कहा है कि अग्नि को शांत करने से जैसे अग्निगृह शान्त होता है, वैसे ही आमाशय में प्रविष्ट विरेचन द्वारा पित्तमूल का शोधन होने से सभी पित्तों का शोधन होकर पित्त व्याधि शांत होती है।

सुश्रुतानुसार– सुश्रुत ने दृष्टान्त दिया है कि जैसे जल को निकाल देने पर जल के आश्रय से रहने वाले कमलादि वनस्पतियाँ, मछलियाँ आदि जलचर प्राणियों का नाश होता है वैसे ही पित्त को दूर करने से पित्तज रोग नष्ट होते हैं।

अतः विरेचन का कार्य सार्वदैहिक है। वह केवल आमाशय, पक्वाशय के ही दोषों को नहीं निकालता है अपितु सम्पूर्ण शरीर के दोषों को निकालता है।

Physiology of Virechana/Purgation

The process of Virechana is regulated and controlled by a special centre situated near Medulla oblongata in the brain. This centre is close to respiratory and vomiting centre. When the Virechana drugs stimulate the purgation centre, indirectly vomiting centre is relaxed. Sacral plexus of the spinal cord also helps in controlling and regulating the act of purgation, and it is also controlled and regulated by local reflex actions. Hence, during the act of defaecation, the respiration is arrested shortly; diaphragm is activated and presses transverse colon. Simultaneously, the accessory muscles of the abdomen are also activated and helps in propelling the faecal matter towards anus along with the diaphragm.

The increased hydrostatic pressure of the matter reached to the large intestine along with the mass peristaltic movements induces a slight mechanical pressure in the sacral plexus (2nd, 3rd and 4th sacral nerves) and lumber nerves situated at the lower levels of spinal cord. Because of these irritations, motor reaction occurs which relaxes the illiosacral valve muscles and anal sphincter muscles. The respiration is arrested momentarily and diaphram is activated through motor response and it exerts more pressure and presses the transverse colon downwards. As a combination of the mechanical pressure and associated relexation of anal sphincter muscles, the material as a whole is expelled from the body downwards through anus.

Types of Purgation

Laxatives: - These are drugs that promote evacuation of bowels. According to the intensity of action they are classfied into,

(1) Laxative or aperients- These have milder action elimination of soft but formed stool.

(2) Purgative:- Stronger action resulting in more fluid evacuation. These are of following types.

(i) Bulk Purgatives -These work by one or more of following actions.

(a) Non-metabolising

(b) Retaining water

(c) Promoting peristalsis

These drugs increase the total bulk of the faecal matter, e.g. high fiber diet, Staculim cellulose diet, Isabgol, yava.

(ii) Lubricant Purgatives :- The drugs which lubricate intestine and faecal matter, e.g. liquid paraffin, dioctyl sodium sulpho-succinate.

(iii) Irritant or Stimulant Purgatives

These drugs increases the peristalsis by irritation of nerve endings of intestine, e.g.– phenolphthalein, castor oil, mercury, sulphur.

(a) Stimulate the mucosa of gut

(b) Irritate local reflexes e.g. Castor oil hydrolysed in small intestine by lipase to give ricinoleic acid which is irritant. It requires bile for hydrolysis.

(iv) Osmotic Purgatives

Solutes that are not absorbed in the intestine retain water osmotically and distend the bowel increasing peristalis indirectly. All organic salts are used as osmotic (saline) purgatives have similar action. eg. Magnesium sulfate and hydroxide, sodium sulfate and phosphate.

(a) Poorly absorbed solutes which maintain and increased fluid volume.

(b) Accelerate transfer to gut contents through small intestine to colon.

(c) Large volume in colon results in purgation.

(d) Saline purgatives - example. $MgSO_4$ doubles the volume of faeces.

Many of drugs in small doses act as laxative and in larger doses as purgatives

Mode of Action of Purgative/Virechana drugs

(A) All the purgatives increase the water content of faeces by-

(1) A hydrophilic or osmotic action, retaining water and electrolytes in the intestinal lumen- increase volume of colonic content and make it easily propelled.

(2) Acting on intestinal mucosa to decrease net absorption of water and electrolyte, intestinal transit is enhanced indirectly by the fluid bulk.

(3) Increase propulisve activity as primary action- allowing less time for absorption of salt and water as a secondary effect.

(B) Laxative modity the fluid dynamics of the mucosal cell and may cause fluid accumulation in gut lumen by one or more of following mechanisms-

(1) Inhibiting Na^+ K^+ ATPase of villous cells impairng electrolyte and water absorption.

(2) stimulating adenyl cyclase in crypt cells increasing water and electrolyte secretion.

(3) Enhancing PG synthesis which inereases secretion.

(4) Structural injury to the absorbing intesinal mucosal cells.

The irritat action of the drug causes inflammation in the small and large intestine due to this and the mucosa is extensively irrtated, secretion rate is enhanced and motility of the intestinal wall usually increase. As a result, large quantities of fluid are propelled by propulsive movements resulting in formation of loose stools.

(C) Action on Nerves- Here the defecation centre is irritated in medualla oblongata. The vagus nerve stimulates pancreas, liver to produce secretions. Bile is secreted due to contraction of gall bladder and also due to irritant vagal stimulation. Burnner's glands are stimulated which secretes mucus. Due to increased peristalsis, sacral and lumber plexus are irritated, ileo-caecal and anal sphincters are relaxed there fore these secretions are excreted out.

(D) Hormonal Action- due to irritation of liver and pancreas, secretions are increased which adds to further irritation of mucosa. small intestinal secretions like secretin and cholecystokinin are also increases. Whenever a segment of large intestine become irritated, then mucosa secretes large quantities of water and electrolytes in addition to alkaline mucus. This acts to dilute irritating factors and to cause rapid movement of the faeces towards anus.

There is also secretion of chloride ions and bicarbonate ions into the crypts of lieberkuhn. The secretion of chloride ions causes electrical drag of sodium ions through the membrane. Finally all these cause osmotic movement of water and hence fuidity in the purgation occurs.

(E) Evacuation of Bowels- during the act of defection. the respiration is arrested momentarily. diaphragm is activated and presses transvese colon. Simultaneously, the accessory muscles of the abdomen are also activated and helps in propelling the faecal matter towards anus along with the diaphragm.

Faecal matter, when reaches the intestine, stimulates local nerve plexuses and then enforced peristalsis further helps in expelling contents of intestines towards rectum and finally to anal canal. when these voluntary or involuntary act of defection starts, finally results in evacuation of bowels.

Mechanism of Purgation/Virechana karma

Ingestion of Purgative/Virechana drug

↓

Irritation of gastric mucosa

↓

sensory signal to defection centre

in medulla oblongata

↓

Motor response from defecation centre

Through ganglionic plexus → Increased Peristalsis → Reduced absorption

Through vagus → Secretion of various enzymes from gall Bladder, pancreas, Burner's gland. → fluid accumulation in the gut

Increased hydrostatic pressre

↓

Irritation of sacral and lumbar plexus

↓

Relaxation of ilco caecal and anal shincters.

↓

Purgation/Virechana

विरेचन द्रव्य परिचय

1. **त्रिवृत**

लैटिन नाम– Operculina turpethum.

फैमिली– Convolvulaceae.

गण– चरक– भेदनीय

सुश्रुत– श्यामादि, अधोभागहर

पर्याय– त्रिभण्डी, त्रिपुटा, सरला, सुवहा, रेचनी

हिन्दी नाम– निशोथ

अंग्रेजी नाम– Indian Jalap

स्वरूप– इसकी बड़ी, बहुवर्षायु सदृघ वल्ली होती है।

रासायनिक संघटन– α and β - Turpethins, Scopoletin turpethinic acids A, turpethin, scopoletin comarin etc.

रस–तिक्त, कटु गुण– लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण
विपाक– कटु वीर्य– उष्ण
प्रभाव– विरेचन कर्म– दोषकर्म– यह कफ पित्त संशोधक है।

त्रिवृत् सुखविरेचानाम्। (च. सू. -25/40)
विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः। (च. क. -7/3)

2. **एरण्ड**

लैटिन नाम– Ricinus Communis
फैमिली– Euphorbiaceae
गण– चरक– भेदनीय, अंगमर्दप्रशमन, स्वेदोपग
सुश्रुत– विदारीगन्धादि, अधोभागहर, वातसंशमन
पर्याय– गन्धर्वहस्त, पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, उत्तानपत्रक, व्याघ्रपुच्छ, उरुबुक, व्यङ्गम्बक
हिन्दी नाम– रेड़ी, अंडी
अंग्रेजी नाम– Castor
स्वरूप– इसका वर्षायु या बहुवर्षायु गुल्म या वृक्षक 18 फीट तक या कभी–कभी अधिक भी ऊँचा होता है।
रासायनिक संघटन–

Seeds & Leaves- ricinine (toxic alkaloid)
1- Methly-3-cyano-4 methoxy-2 - Pyridone
Seed coat- lupeol, lipids, phosphatides.
Seed oil- archidic, ricinoluc, palmitic, stearic etc.

गुण–मधुर, गुरु, उष्ण
रस–मधुर अनुरस–कटु, कषाय
विपाक–मधुर वीर्य– उष्ण
कर्म– दोषकर्म– कफवातशामक
एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम् (च. सू. -25/40)
वातकफहरमधोभागदोषहरं च। (सु. सू.-45/114)

3. **आरग्वध**

लैटिन नाम– Cassia fistula
फैमिली– Leguminosae
गण– चरक– कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, तिक्तस्कंध, विरेचन
सुश्रुत– आरग्वधादि, श्यामादि, श्लेष्म संशमन, अधोभागहर
पर्याय– राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, आरेवत, व्याधिघात, कृतमाल, सुवर्णक, दीर्घफल, स्वर्णभूषण
हिन्दी नाम– अमलतास, सियरलाठी
अंग्रेजी नाम– Purging cassia
स्वरूप– इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का 25-30 फीट ऊँचा होता है।
रासायकि संघटन–

Seeds- sugars, galactomannan
flowers- fistulin, leucopelargonidin tetramer, kaempferol
Pods- Fistulic acid
Bark & Heart wood- barboloin, fistucacidin
Leaves- Rhein, sennosides A & B

रस– मधुर गुण– गुरु, मृदु, स्निग्ध
विपाक–मधुर वीर्य– शीत
कर्म– दोषकर्म– यह मधुर और स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। रेचन होने से कोष्ठगत पित्त और कफ का संशोधन भी करता है।

चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्। (च. सू. -25/40)

4. **कटुकी**

लैटिन नाम– Picrohiza kurroa
फैमिली – Scrophulariaceae
गण– चरक– भेदनीय, लेखनीय, स्तन्य शोधन, तिक्तस्कन्ध
सुश्रुत– पटोल्यादि, पिप्पल्यादि, मुस्तादि
पर्याय– कटुका, तिक्ता, कटुरोहिणी, काण्डरुहा, मत्स्यशकला, चक्राङ्गी, कृष्णभेदा, शतपर्वा
हिन्दी नाम– कटुका, कुटकी
अंग्रेजी नाम– Picrorrhiza
स्वरूप– इसका छोटा बहुवर्षायु, प्रायः रोमश क्षुप होता है। मूलस्तम्भ (भौमिक काण्ड) दृढ़, 6-10 इंच लम्बा, छोटी अंगुलि जितना स्थूल, विशीर्ण पत्राधारों से आवृत्त, सर्पणशील होता है।

रासायनिक संघटन–

D- Mannitol, kutkiol, kutkisterol, apocyanin phenol glucosides
androsim and picein iridoid glycosides
kutkin, picrorhizin, picroside I, II & III etc.

रस–तिक्त गुण– लघु, रुक्ष
विपाक– कटु वीर्य– शीत
कर्म– दोषकर्म– कफपित्तहर
अल्प मात्रा में यह रोचन दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा अधिक मात्रा में रेचन है।

5. **जयपाल**

लैटिन नाम– Croton tiglium
फैमिली– Euphorbiaceae
गण– चरक– विरेचन
पर्याय– द्रवन्ती, जयपाल, दन्तीबीज, जेपाल, तिन्तिडीफल
हिन्दी नाम– जमालगोटा
अंग्रेजी नाम– Purging croton

स्वरूप– इसके सदाहरित छोटे वृक्ष 15-20 फीट ऊँचे होते हैं।

रासायनिक संघटन–

Seed- B-Sitosterol

oil- Phorbol-12-tiglate-13-decanoate, Tiglyol etc.

रस–कटु **गुण–गुरु, रुक्ष, तीक्ष्ण**

विपाक– कटु **वीर्य–उष्ण**

कर्म– दोषकर्म- कफपित्तहर।

यह तीव्र रेचन और कृमिघ्न है। इससे आमाशय में क्षोभ होता है, पेट में मरोड होती है, अन्त्रकला में शोथ होता है और अधिक संख्या में पानी जैसे दस्त होते हैं।

शोधन विधि– जमालगोटे के बीजों के छिलके तथा गर्भाङ्कुर निकालकर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करें। पश्चात् गरम जल से धो ले, नींबू के रस में भावना देकर धूप में सुखा लें।

✕ ✕ ✕

अध्याय- 6

बस्ति
(Basti)

बस्ति परिचय (Introduction)

जिस प्रकार आयुर्वेदीय चिकित्सा में पंचकर्म का एक विशिष्ट स्थान है उसी प्रकार पंचकर्म में बस्ति चिकित्सा का ऐसा ही अविज्ञय महत्त्वपूर्ण स्थान है। बस्ति यह शब्द बस्तिदान में प्रयुक्त यंत्र के नाम से प्रचलित हुआ है।

अ. द.– बस्तिना दीयत इति बस्तिः। (अ. ह. सू. 19/1 पर)

बस्तिभिर्दीयते यस्मात तस्मात् बस्तिरिति स्मृतः। (शा. उ. खं. 5/1)

बस्ति अर्थात् प्राणियों के मूत्राशय के द्वारा औषधियों का आभ्यंतर प्रविष्ट कराने की इस विधि को बस्ति नाम दिया गया है।

शब्द निष्पत्ति (Etymology)-

वसुः निवासे बस्–आच्छादने वस्–वासने सुरभिकरणे।

अर्थात् वस–शब्द–निवास करने के अर्थ में, आच्छादन करने के अर्थ में या सुंगधी कारकता के अर्थ में उपयोगी है।

बस्ति–वस्तेः आवृणोति मूत्रं। वस्– तिच्।

नाभेरधोभागे मूत्राधारे स्थाने (पु.)।

औषध दानार्थे द्रव्यभेदे।।

बस्ति शब्द– यह पुल्लिंगी शब्द है। वस् में तिच् प्रत्यय से बना है। बस्ति जो मूत्र को आवरण करता है। बस्ति को नाभि के अधो भाग में रहने वाले मूत्राधार स्थान के लिए तथा औषधदान के साधन के लिए प्रयुक्त है।

बस्ति परिभाषा (Definition)

बस्ति वह प्रक्रिया है जिसमें प्रायः गुदमार्ग से औषधि, सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, मांसरस, रक्तादि द्रव्यों को पक्वाशय में प्रविष्ट किया जाता है।

यहाँ पर प्रायः शब्द का प्रयोग का कारण गुदमार्ग के अतिरिक्त मूत्रमार्ग तथा अपत्यपथ से भी बस्ति दी जा सकती है। जिसे उत्तर बस्ति कहा जाता है।

व्रण में भी बस्ति दी जाती है जिसे व्रण-बस्ति कहते हैं। इस प्रकार गुदा से पक्वाशय में, मेढ्र से मूत्राशय में, योनि से गर्भाशय में और व्रण मुख से व्रण में बस्ति दी जाती है।

प्राचीन काल में जब रबर का आविष्कार नहीं हुआ था, तब इस कार्य हेतु गाय, बैल, बकरे, भैंस इत्यादि प्राणियो के मूत्राशय (बस्ति) का उपयोग एक संकोचक प्रसरणशील थैली के रूप में किया जाता था जिससे यह कर्म भी कहा जाने लगा और बस्ति नाम रुढ हो गया।

नाभि प्रदेशं कटिपार्श्व कुक्षिं गत्वा शकृद्दोषचयं विलोड्य।
संस्नेह्यकायं सपुरीष दोषः सम्यग् सुखेनैतिच यः स बस्तिः।। (च. सि. 1/40)

जो बस्ति नाभि प्रदेश-कटि-पार्श्व-कुक्षि तक जाकर सम्पूर्ण मलसंघात को आलोडित कर तथा शरीर को स्निग्ध कर मल तथा दोषों के साथ आसानी से निकल आती है उसे बस्ति का सम्यक् योग जानना चाहिए।

बस्तिकर्म की उपयोगिता एवं महत्त्व (Utility & importance of Basti)

बस्तिर्वातेच पित्तेच कफे रक्तेच शस्यते।
संसर्गे संन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा।। (सु. चि.- 35/6)

(1) बस्ति वातज रोगों की सर्वोत्तम चिकित्सा होने के साथ-साथ पित्तज, कफज, संसर्गज, सन्निपातज और रक्तज रोगों में भी हितकर है।

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगाः मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये संतितेषां नहि काश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति।।
विण्मूत्रपित्तादि मलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किंचित्।
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेके।। (च. सि. 1/38-39)

(2) शाखा, मर्म और कोष्ठ इन तीन मार्गों में होने वाले रोग का प्रसार करने में वात प्रमुख है क्योंकि स्वेद, मल, मूत्र, पित्त, कफादि के संहनन तथा विक्षेपण का कार्य वायु ही शरीर में करता है और उस वायु के लिए बस्ति श्रेष्ठतम चिकित्सा कही गयी है।

इह खलु बस्तिर्नानाविध द्रव्यसंयोगात् दोषाणां संशोधन संशमन संग्रहाणि करोति। क्षीणशुक्रंवाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलीपलितमपहंति, वयः स्थापयति। शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिंश्च बस्तिः सम्यगुपासितः। (सु. चि. 35/3-4)

(3) अनेक औषधियों के संयोग के कारण बस्ति दोषों का शोधन करती है संशमन करती है मलों की संग्राही भी होती है क्षीण-शुक्र वाले आतुरों का शुक्र भी बढाती है, कृशों को स्थूल करती है स्थूलों को कृश करती है, नेत्रों की ज्योति बढ़ाती है, वयः स्थापन करती है, बुढापे को देर से लाती है, वर्ण को उज्जवल करती है आयुष्य को कायम रखकर आरोग्य की वृद्धि करती है।

(4) शरीर या मन के आधे से अधिक रोग वात के कारण होते हैं। तथा दूसरे दोषों से होने वाले रोगों में भी वात एक सहकारी कारण होता है वात की चिकित्सा करना भी एक दुष्कर कार्य है। उस प्रबलतम वात दोष की चिकित्सा बस्तिकर्म द्वारा की जाती है। अतः बस्ति को चिकित्सार्ध कहा गया है। तथा कुछ बस्ति को सम्पूर्ण चिकित्सा भी कहते है।

बस्तिर्वय स्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधा स्वर वर्ण कृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धायूनां निरत्याः सर्वगदापहश्च।।
विटश्लेष्मपित्तानिल मूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
विश्वग्स्थितं दोषचय निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः।। (च. सि. 1/27-28)

1. निरूह बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं को दृढ़ कर जरावस्था को रोकने में सहायक है। (2) आयुष्य को बढ़ाती है। (3) अग्नि और मेधा को तीक्ष्ण करती है। (4) स्वर को प्रसादित करती है। (5) वर्ण का प्रसादन

करती है। (6) बालकों में, वृद्धों में तथा शिशुओं में सब में बिना कष्ट के देय है। (7) युक्ति पूर्वक उपयोग करने से सभी रोगों को दूर करती है। (8) मल, वात, पित्त, कफ, मूत्र इनका शोधन करती है। (9) शरीर को दृढ़ करती है। (10) शुक्र और बल को बढ़ाती है। (11) सम्पूर्ण शरीर में स्थित दोष संचय को बाहर निकालती है।

देहे निरूहेण विशुद्ध मार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदश्च।
न तैल दानात् परमस्ति किञ्चित् द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते।
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा।
तैलं ददात्याशु मनः प्रसादं वीर्य बलं वर्णमथानि पुष्टिः।। (च. सि. 1/29-30)

आचार्य चरक ने अनुवासन की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि-

(1) यह वर्ण और बल को बढ़ाता है।

(2) वात को दूर करने के लिये तैलदान के अतिरिक्त कोई भी श्रेष्ट उपाय नहीं है।

(3) तैल स्निग्धता से वात की रुक्षता को दूर करता है, गुरुता से वात की लघुता को तथा उष्णता से वात का शैत्य दूर करता है।

(4) मन का प्रसादन करता है।

(5) वीर्य, बल, वर्ण तथा अग्नि को बढ़ाता है।

शिशुनामाशिशुनांच बस्तिकर्मामृतं यथा।। (क. सि. 1/19)

काश्यप ने कहा है कि शिशुओं तथा बड़ों के लिये बस्ति अमृत के समान गुणकारी है।

बस्ति प्रकार (Types of Basti)

बस्ति के अनेक प्रकार है। और अनेकविध आधारों पर अनेक भेद किये जा सकते हैं, जो निम्न हैं-

– 1. अधिष्ठान भेद (According to site of administration) – बस्ति जिस अधिष्ठान में दी जाती है उस अधार पर बस्ति के निम्नलिखित 4 भेद हैं-

(i) पक्वाशयगत– जो गुदमार्ग से दी जाती है और औषध द्रव्य का अधिष्ठान पक्वाशय होता है।

(ii) गर्भाशयगत– स्त्रियों में गर्भाशय के दोषों को दूर करने के लिए दी जाने वाली, अपत्यपथ से गर्भाशय में औषधों को पहुँचाने वाली बस्ति गर्भाशयगत बस्ति होती है।

(iii) मूत्राशयगत– मूत्रमार्ग (मेढ्र या योनि) से मूत्राशय में औषधों को पहुँचाने वाली बस्ति है। गर्भाशयगत और मूत्राशयगत बस्ति को **''उत्तर बस्ति''** की संज्ञा दी जाती है।

(iv) व्रणगत– व्रणों में व्रणमुख शोधन, रोपणार्थ औषधि द्रव्यों को पहुँचाना व्रणगत बस्ति है।

– 2. द्रव्य भेद से (According to content) – बस्ति में प्रयुक्त द्रव्य क्वाथ है या स्नेह है इस आधार पर बस्ति के दो प्रकार है-

तत्र द्विविधो बस्तिः नैरूहिकः स्नैहिकश्च। (सु. चि. 35/18)

(i) निरुहबस्ति

(ii) अनुवासन बस्ति

(i) निरुह बस्ति– जिस बस्ति के निर्माण में क्वाथ की प्रधानता होती है उसे निरुह बस्ति कहते हैं इसका अन्य नाम आस्थापन बस्ति है।

स दोष निर्हरणात् शरीर नीरोहणाद्वा निरूहः।
वयः स्थापनात् आयुः स्थापनात् वा आस्थापनम्।। (सु. चि. 35/18)

दोषों को शरीर से बाहर निकाल देने के कारण अथवा रोगों को हरने के कारण इसे निरुह कहा जाता है और वयः स्थापन अर्थात् आयु स्थापन करने के कारण इसे आस्थापन बस्ति कहा जाता है।

निरुह बस्ति वयः स्थापन, सुखायुष्य, अग्निवर्धक, स्वरवर्ण प्रसादन, युवा-बाल-वृद्ध इन सबके लिए निरुपद्रव सर्वरोगनाशन दोष, मल, मूत्र शोधन, दृढताकरण, शुक्रबलवर्धन और शरीर के सभी संचित मलों का निर्हरण करती है।

आस्थापनं निरूह इत्यनर्थांतरम्। तस्य विकल्पो माधु तैलिकः, तस्य
पर्याय शब्दो यापनो, युक्तरथः, सिद्ध बस्तिरिति।। (सु. चि. 35/18)

निरुह का एक विकल्प "माधुतैलिक बस्ति" है इसके निर्माण में मधु और तैल प्रधान द्रव्य होते हैं। इसके पर्याय- यापन बस्ति, युक्तरथ बस्ति और सिद्धबस्ति हैं।

यापनाश्च बस्तयः सर्वकालं देयाः। (च. सि. 12/15)

च. पा.- आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वन्तीति यापना बस्तयः।।

(क) यापन बस्ति- जो सभी काल में दी जा सकती है और आयु को बढाती है।

(ख) युक्तरथ बस्ति- युद्धादि के लिए रथ में बैठकर जाना हो, हाथी, घोडे की सवारी करते समय या यात्रा करनी हो ऐसी अवस्था में भी जो बस्ति निषेद्ध नहीं हो।

(ग) सिद्ध बस्ति- यह शरीर में बल उत्पन्न करती हो, वर्ण प्रसादन करती है सैंकडो रोगों को मिटाती है।

(ii) अनुवासन बस्ति- जिस बस्ति के निर्माण में स्नेह की प्रधानता होती है उसे अनुवासन बस्ति कहते हैं।

अनुवसन् अपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः।। (सु. चि. 35/18)

अनुवासन की निरुक्ति इस तरह की गयी है- जो अनुवासन-अंदर रहते हुए भी कोई दोष उत्पन्न नहीं करती तथा प्रतिदिन दी जा सकती है वह अनुवासन बस्ति है।

आचार्य सुश्रुत ने अनुवासन को स्नैहिक बस्ति का एक प्रकार माना है।

स्नैहिक बस्ति के 3 भेद मात्रा के आधार पर किए जाते हैं-

ड.- तंत्रांतरेप्युक्तं "षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा त्रिपली मध्यमा भवेत्।
कनीयस्यर्ध पलिका त्रिधा मात्रानुवासने।
अध्याद्धार्धावकृष्टास्ताः कार्या इति अन्यं पठंति।
तत्रापि अर्द्धस्यार्द्धश्चतुर्थो भाग एवति स एवार्थः।। (सु. चि. 37/4 पर)
यथावयो निरूहाणां याः मात्राः परिकीर्तिताः।
पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम्।। (सु. चि. 37/4)

6 5 **(क) स्नेह बस्ति-** इसकी मात्रा 6 पल होती है जो निरुह बस्ति की एक चतुर्थांश है।

स्नेहबस्ति विकल्पो अनुवासनः पादावकृष्टः।। (सु. चि. 35/18)

3 A **(ख) अनुवासन बस्ति** - इसकी मात्रा 3 पल होती है।

तस्यापि (अनुवासनस्यापि) विकल्पो अर्धार्द्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्रा बस्तिरिति।
(सु. चि. 35/18)

1.5 M **(ग) मात्रा बस्ति** - इसकी मात्रा 1½ पल होती है। तथा चरक ने स्नेहपान की ह्रस्व मात्रा कही है।

- 3. कार्मुकता के आधार पर भेद (According to mode of action)-

(i) शोधन बस्ति-यह दोषों एवं मलों का शोधन करती है। मृदु एवं तीक्ष्ण भेद से दो प्रकार की है।

(ii) लेखन बस्ति- यह मेद को कम करती है तथा शरीर को कृश करती है।

(iii) उत्क्लेशन बस्ति- यह चिपके हुए दोषों एवं मलों को अपने स्थान से हटा कर द्रवीभूत कर प्रमाण बढाकर उनका निर्मूलन करती है।

(iv) शमन बस्ति- यह कुपित दोषों का शमन करती है।

(v) बृंहण बस्ति- यह धातुओं को बढाकर शरीर को पुष्ट करती है।

(vi) रसायन बस्ति- यह बल-वर्ण आयुवर्धक एवं रोगहर है।

(vii) वाजीकरण बस्ति-यह वीर्य को बढाकर पौरुष शक्ति प्रदान करती है।

(viii) कर्षण बस्ति- यह स्थौल्य व मेद को दूर करती है।

(ix) स्नेहनीय बस्ति - यह शरीर का स्नेहन करती है। स्नेह प्रधान बस्ति है।

(x) चक्षुष्य - यह नेत्र के लिए हितकर है।

(xi) संग्राही बस्ति - यह संग्राहक होती है।

(xii) वर्णप्रसादन- शरीर के वर्ण का प्रसादन करती है।

आचार्य सुश्रुतानुसार कार्मुकता आधार पर भेद-

(i) शोधन बस्ति (ii) स्नेहन बस्ति (iii) लेखन बस्ति (iv) बृंहण बस्ति

आचार्य वाग्भट्टानुसार भेद-

(i) उत्क्लेशन बस्ति (ii) दोषहर बस्ति (iii) शमन बस्ति

- 4. संख्या भेद से 3 प्रकार (According to number of Basti)

(i) कर्म बस्ति (ii) काल बस्ति (iii) योग बस्ति

त्रिंशन्मताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः।
सान्वासनाः द्वादश वै निरूहाः प्राक्स्नेह एकः परतश्च पंच।।
काले त्रयोऽन्ते, पुरस्तथैकः स्नेहानिरूहांतरिताश्च षट् स्युः।
योगे निरूहाः त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पंचैव परादिमध्याः।। (च. सि. 1/47-48)

(i) कर्म बस्ति- इसमें 30 बस्तियाँ होती हैं। पहले 1 अनुवासन, फिर अनुवासन और निरुह का क्रम से अर्थात् अनुवासन के बाद निरूह फिर अनुवासन के अनुसार दी जाती है तथा दोनों 12-12 दी जाती हैं और अंत में 5 अनुवासन बस्ति दी जाती हैं।

इस प्रकार 1+12+12+5 = 30 बस्तियाँ दी जाती है। इसमें 18 अनुवासन 12 निरुह बस्तियाँ दी जाती हैं।

(ii) काल बस्ति- इसमें 16 बस्तियाँ दी जाती हैं। पहले एक अनुवासन फिर क्रम से 6 अनुवासन 6 निरुह तथा अंत में 3 अनुवासन बस्तियाँ दी जाती है इस प्रकार 1+6+6+3=16 बस्तियाँ दी जाती है। इसमें 10 अनुवासन तथा 6 निरुह बस्तियाँ दी जाती हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने 16 के स्थान पर 15 बस्तियाँ बताई है।

(iii) योग बस्ति- इसमें 8 बस्तियाँ दी जाती हैं। पहले एक अनुवासन फिर क्रम से 3 अनुवासन 3 निरुह तथा अंत में 1 अनुवासन बस्तियाँ दी जाती है। इस प्रकार 1+3+3+1=8 बस्तियाँ दी जाती हैं। इसमें 5 अनुवासन और 3 निरुह बस्तियाँ दी जाती हैं।

कर्म	काल	योग
1. A	1. A	1. A
2. A	2. A	2. A
3. N	3. N	3. N
4. A	4. A	4. A
5. N	5. N	5. N
6. A	6. A	6. A
7. N	7. N	7. N
8. A	8. A	8. A
9. N	9. N	**Total 8**
10. A	10. A	5-A, 3N
11. N	11. N	
12. A	12. A	
13. N	13. N	
14. A	14. A	
15. N	15. A	
16. A	16. A	
17. N	**Total - 16**	
18. A	10-A, 6 N	
19. N		
20. A		
21. N		
22. A		
23. N		
24. A		
25. N		
26. A		
27. A		
28. A		
29. A		
30. A		

Total 30
18- Anuvasan
12- Nirhu

A = Anuvasana Basti
N = Nirhu Basti

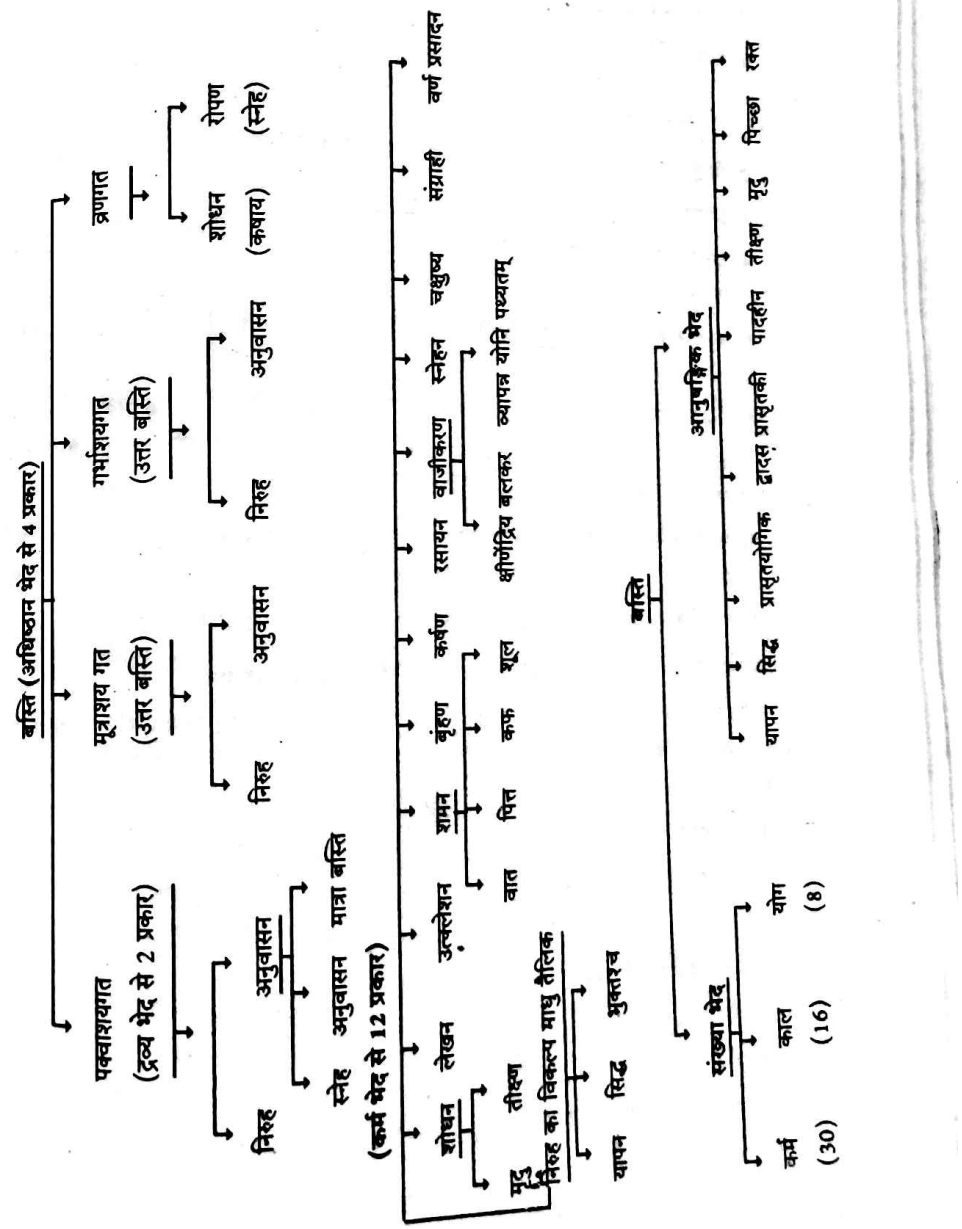

5. आनुषङ्गिक भेद से 9 प्रकार (According to nomenclature/other basis)

1. यापन बस्ति– यह बलवर्ण, आयुर्वर्धक एवं निरापद बस्ति है। इसमें क्वाथ, दूध, गुड, घृत, आदि का प्रयोग किया जाता है। यह मांस एवं शुक्रवर्द्धक है। तथा बस्ति परिहार काल में मैथुनादि अपथ्य विहार करने से उत्पन्न व्यापद की चिकित्सा हेतु निर्देशित है।

2. सिद्धबस्ति– यह किसी विशेष रोग को दूर करने के लिए होती है। अर्थात् विशिष्ट रोग को सिद्ध करने हेतु।

3. प्रासृतवैगिकी बस्ति– एक प्रसृत प्रमाण में (8 तोला) बस्ति दी जाती है।

4. द्वादश प्रासृतिकी बस्ति– इसमें बस्ति द्रव्य का प्रमाण 12 प्रसृत (96 तौला) होता है। इसका उदाहरण माधुतैलिक बस्ति है।

5. पादहीन बस्ति– इसमें बस्ति द्रव्य एक चौथाई कम द्वादश प्रासृतिकी बस्ति से अर्थात् 9 प्रसृत की बस्ति दी जाती है।

6. तीक्ष्ण बस्ति – क्षार, मूत्र, लवण, ऊष्ण-तीक्ष्ण द्रव्यों से जो बस्ति दी जाती है वह तीक्ष्ण बस्ति होती है।

7. मृदु बस्ति – यह बस्ति मधुर स्कन्ध की औषधों से दूध-घी आदि मृदु द्रव्यों से निर्मित होती हैं। तथा बाल, वृद्ध एवं सुकुमारों में दी जाती हैं।

8. पिच्छा बस्ति– यह संग्राही बस्ति है इसका प्रयोग रक्तस्राव के अवरोध के लिए, अर्श, अतिसार आदि में करते हैं। पिच्छल द्रव्यों से निर्माण के कारण इसे पिच्छा बस्ति कहते हैं।

9. रक्तबस्ति – रक्तक्षय होने पर उसकी पूर्ति के लिए पशुओं को रक्त की बस्ति दी जाती है।

बस्तिकर्म में उपयोगी द्रव्य (Dravya useful for Basti karma)

बस्ति में अनेक द्रव्यों का उपयोग किया जाता है जिसमें स्थावर, वानस्पतिक द्रव्य, जांगम, क्षीर, मांसरस, मूत्रादि द्रव्य, क्षार, लवण आदि का समावेश होता है। जिनका नामतः उल्लेख सम्भव नहीं है इसलिए महत्त्वपूर्ण द्रव्यों का संक्षिप्त विवरण निम्न है।

1. आस्थापनोपयोगी फल प्रधान द्रव्य– (च. सू. 1/85-86)

(1) धामार्गव (2) ईक्ष्वाकु (3) जीमूतक (4) कृतवेधन
(5) मदनफल (6) कुटज (7) त्रपुष (8) हस्तिपर्णिनी

2. आस्थापनोपयोगी अष्टमूत्र (च. सू. 1/95, 97)

(1) भेड (2) बकरी (3) गाय (4) हाथी
(5) भैंस (6) ऊँट (7) घोड़ा (8) खर के मूत्र

3. आस्थापनोपयोगी अष्टक्षीर (च. सू. 1/107-108, 113)

(1) भेड (2) बकरी (3) गाय (4) भैंस
(5) हथिनी (6) ऊँटनी (7) घोडी (8) स्त्री दुग्ध

4. आस्थापनोपयोगी पञ्चलवण (च. सू. 1/90-92)

(1) सौवर्चल (2) सैंधव (3) विड् (4) औद्भिद्
(5) सामुद्र लवण

5. आस्थापनोपग द्रव्य–

त्रिवृतबिल्व पिप्पली कुष्ठ सर्षप वचा वत्सकफल शतपुष्पा
मधुक मदनफलानीति दशेमानि आस्थापनोपगानि भवन्ति।। (च. सू. 4/8)

(1) त्रिवृत् (2) बिल्व (3) पिप्पली (4) कुष्ठ
(5) सर्षप (6) वच (7) कुटज (वत्सक) (8) सौंफ
(9) मुलेठी (10) मदनफल

6. अनुवासनोपग गण– ये द्रव्य अनुवासन में सहायक द्रव्य होते हैं।

रास्ना सुरदारु बिल्व मदन शतपुष्पा वृश्चीर पुनर्नवाश्वदंष्ट्राग्निमंथ
श्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवति।। (च. सू. 4/8)

(1) रास्ना (2) देवदारु (3) बिल्व (4) मदनफल
(5) शतपुष्पा (सौंफ) (6) रक्तपुर्ननवा (7) श्वेतपुर्ननवा (8) गोखुर
(9) अग्निमंथ (10) श्योनाक

7. छः आस्थापन स्कन्ध (च. वि. 8/139-144)

(1) मधुरस्कन्ध (2) अम्लस्कन्ध (3) लवणस्कन्ध (4) कटुस्कन्ध
(5) तिक्तस्कन्ध (6) कषाय स्कन्ध

ये छः स्कन्ध आस्थापन बस्ति द्वारा साध्य रोगों में दोषानुसार कल्पना कर प्रयोग करने से लाभप्रद होते हैं।

मधुरस्कन्ध	वातरोग एवं पित्तरोग में लाभकर।
अम्लस्कन्ध, लवणस्कन्ध	वातरोग में हितकर
कटुस्कन्ध	कफज रोग में हितकर
तिक्तस्कन्ध, कषायस्कन्ध	कफज एवं पित्तज रोग का शमन करते हैं।

8. आस्थापन तथा अनुवासन गण– निम्नलिखित औषधियों के क्वाथ आस्थापन के लिए तथा उनसे सिद्ध स्नेहों का अनुवासन के लिए उपयोग करना चाहिए। (च. सू. 2/11-14)

(1) पाटला (2) अग्निमांद्य (3) बिल्व (4) श्योनाक (5) काश्मरी
(6) शालपर्णी (7) पृश्निपर्णी (8) छोटी कटेरी (9) बला (10) गोक्षुर
(11) बडी कटेरी (12) एरण्ड (13) पुनर्नवा (14) यव (15) कुलथ
(16) कोल (17) गुडुची (18) मदनफल (19) पलाश (20) तृण
(21) स्नेह (22) लवण

आस्थापन बस्ति के अयोग्य रोग और रोगी (Contraindication of Asthapana Basti)

अनास्थाप्यास्तु-अजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्निं यानक्लांतातिदुर्बल क्षुत्तृष्णा श्रमार्तातिकृश भुक्तभक्त पीतोदकवमितविरिक्तकृतनस्तः कर्म क्रुद्ध भीत मत्त मूर्च्छित प्रसक्तछर्दि निष्ठीविका श्वासकास हिक्काबद्ध छिद्रोदकोदराध्मानालसक विसूचिकामप्रजातामातिसार मधुमेह कुष्ठार्ताः।।

(च. सि. 2/14)

तत्रोन्माद भय शोक पिपासारोचकाजीर्णार्शः पांडुरोग भ्रममद मूर्च्छा छर्दि कुष्ठ मेदोदर स्थौल्य श्वासकास कंठशोष शोफोपसृष्ट क्षतक्षीण चतुस्त्रिमास गर्भिणी दुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धौ वातरोगादृते क्षीणानानुवास्या नास्थापयितव्याः। (सु. चि. 35/21)

अजीर्णी	विरिक्त	अर्श	अतिस्निग्ध	कृतनस्यकर्म
अरोचक	पीतस्नेह	क्रुद्ध	स्थौल्य	उक्लिष्ट दोष
भीत	निष्ठीविका	अल्पाग्नि	मूर्च्छित	आध्मान
यानक्लान्त	प्रसक्तछर्दित	अलसक	अतिदुर्बल	श्वासप्रसक्त
विसूचिका	क्षुधार्त	कासप्रसक्त	आमदोष	तृष्णार्त
हिक्काप्रसक्त	सूतिका	श्रमार्त	बद्धगुदोदर	अतिकृश
छिद्रोदर	भुक्तभक्त	कुष्ठ	आमातिसार	पीतोदक
मधुमेह- प्रमेह	वमित			

ये सभी चरकानुसार हैं।

अनास्थाप्यों में आस्थापन देने से सम्भवित विकार-

(1) अजीर्ण रोगी जिसका स्नेहन किया है तथा जिसने अभी अभी स्नेह पिया है (स्नेह पीत) उसे आस्थापन बस्ति देने से दूष्योदर, मूर्च्छा और शोथ रोग उत्पन्न हो सकते है। क्योंकि आभ्यंतर स्नेहपान से दोषों का उत्क्लेश होता है और बस्ति में तैलादि स्नेह का प्रयोग होते है जिससे उत्क्लेश बढ सकता है और दूष्योंदरादि के लिये यह अवस्था हेतु का कार्य करती है।

(2) यान क्लान्त (जो सवारी कर थके हुए हों) को बस्ति देने से शरीर सूख जाता है।

(3) अत्यंत दुर्बल, क्षुधार्त, तृष्णार्त तथा श्रम से थके हुओं में बस्ति कर्म से उत्पन्न क्षोभ सहन करने की क्षमता नहीं होने से प्राणोपरोध होता है। अत्यंत कृशों में दी हुई बस्ति कार्श्य को बढ़ाती है। भोजन पश्चात् निरूह बस्ति दी जाने पर, दोषों का उत्क्लेश कर अत्यधिक विकारों को उत्पन्न करती है।

(4) जिसे वमन या विरेचन कराया गया है, उसके शरीर में रूक्षता उत्पन्न होती है, इस अवस्था में बस्ति, क्षत में क्षार के समान दाह उत्पन्न (जलन) करती है। नस्य के बाद बस्ति देने से विभ्रंश और स्रोतोरोध होता है।

(5) क्रुद्ध और भयभीत को दिया हुआ निरूह कोष्ठ में अधिक ऊपर तक पहुँच जाता है।

(6) मत्त और मूर्च्छित को बस्ति संज्ञानाश कर हृदयोपघात करती है।

(7) छर्दि, निष्ठीविका, श्वास, कास में वायु उर्ध्वीभूत होकर बस्ति को ऊपर ले जाती है।

(8) बद्ध गुदोदर, छिद्रोदर, दकोदर और आध्मान में दी हुई बस्ति तीव्र आध्मान उत्पन्न कर प्राणनाश करती है।

(9) अलसक में मल प्रवृत्ति या छर्दि दोनों बंद होने से उदर में तीव्र आध्मान होता है। विसूचिका में छर्दि और अतिसार दोनों एक साथ होकर तीव्र आमदोष उत्पन्न होता है। इन दोनों अवस्थाओं में दी हुयी बस्ति पुनः आमदोष को उत्पन्न करती है और व्याधि को बढ़ाती है।

(10) मधुमेह और कुष्ठ में बस्ति व्याधि को अधिक बढा देती है।

आस्थापन बस्ति के योग्य रोग एवं रोगी (Indication of Asthapana Basti)

शेषास्त्वास्थाप्याः, विशेषतस्तु सर्वांगैकांग कुक्षिरोग वातवर्चो मूत्र शुक्रसंग बल मांस रेतः क्षयदोषाध्मानांगसुप्तिक्रिमि कोष्ठोदावर्त शुद्धातिसार पर्वभेदाभितापप्लीह गुल्म शूलहृद्रोग भगंदरोन्माद ज्वर ब्रघ्न शिरः कर्ण शूल हृदयपार्श्वपृष्ठ कटीग्रह वेपनाक्षेपक गौरवातिलाघवरजः क्षयार्त विषमाग्नि स्फिग् जानु जंघोरु गुल्फ पार्ष्णि प्रपदयोनि बाह्वंगुली स्तनांतदंतनखपर्वास्थि शूलशोष स्तंभांत्रकूज परिकर्तिकाल्पाल्प सशब्दोद्गगंधोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेषु आस्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पति मूलच्छेदवत्।।

(च. सि. 2/16)

तथा ज्वरातिसार तिमिर प्रतिश्याय शिरोरोगाधिमंथार्दिताक्षेप पक्षाघातैकांग सर्वांग रोगाध्मानोदर योनिशूल शर्कराशूलवृद्ध्युपदंशानाह मूत्रकृच्छ्र गुल्मवातशोणित मूत्र पुरीषोदावर्त शुक्रार्तवस्तन्यनाश हृद्ग्रहनुमन्याग्रह शर्कराश्मरी मूढगर्भ प्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते। (सु. चि. 35/5)

1. सर्वाङ्ग रोग	2. एकाङ्ग रोग	3. कुक्षिरोग	4. वातसंग	5. मूत्रसंग
6. मलसंग	7. शुक्रसंग	8. आध्मान	9. अंगसुप्ति	10. कृमिकोष्ठ
11. उदावर्त	12. शुद्ध अतिसार	13. पर्वभेद	14. अभिताप	15. प्लीहा रोग
16. गुल्म	17. शूल	18. हृदय रोग	19. भगंदर	20. उन्माद
21. ज्वर	22. ब्रघ्न	23. शिरशूल	24. कर्णशूल	25. हृदय ग्रह
26. पार्श्व ग्रह	27. पृष्ठग्रह	28. कटिग्रह	29. कम्प	30. आक्षेप
31. अंग गौरव	32. अति लाघव	33. रजःक्षय	34. विष्माग्नि	35. नितंब शूल
36. जानु शूल	37. जंघा शूल	38. उरू शूल	39. गुल्फ शूल	40. पार्ष्णि शूल
41. प्रपद शूल	42. योनि शूल	43. बाहु शूल	44. अंगुली शूल	45. स्तन के अन्त भाग शूल
46. दन्त शूल	47. नख शूल	48. पर्व शूल	49. अस्थि शूल	50. शोष
51. स्तम्भ	52. अन्त्र कूजन	53. परिकर्तिका		

54. अल्प, अनेक बार भयंकर गन्ध से युक्त मल त्याग

55. महा रोगाध्यायोक्त वात व्याधि (चरक)

अनुवासन बस्ति के अयोग्य रोग एवं रोगी (Contra-indication of Anuvasana Basti)

य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः स्युः, विशेषतस्त्वभुक्तभक्त नवज्वर पांडुरोगकामला प्रमेहार्शः प्रतिश्यायारोचक मंदाग्निदुर्बल-प्लीहा कफोदरोरुस्तंभ वर्चोभेद विषगरपीत पित्तकफाभिष्यंद गुरुकोष्ठ श्लीपदगलगंडापचि क्रिमि कोष्ठिनः।। (च. सि. 2/17)

1. अनास्थाप्य	2. अभुक्तभक्त	3. श्लीपद और नवज्वर	4. पाण्डु-कामला
5. कफोदर	6. प्रमेह	7. अर्श	8. प्रतिश्याय/अरोचक
9. मन्दाग्नि	10. दुर्बल	11. प्लीहा	14. वर्चोभेद (अतिसार)
15. विषपीत	16. कृत्रिम विष पीत	17. पित्तज तथा कफज अभिष्यन्द	18. गुरु कोष्ठ
19. श्लीपद	20. गल गण्ड	21. अपची	22. कृमि कोष्ठ

अनुवासन अयोग्यों में अनुवासन देने से सम्भवित विकार –

(1) जिनको अनुवासन बस्ति निर्षिध है उनको अनुवासन बस्ति देने पर उनके रोगों की वृद्धि होती है और वे रोग असाध्य बन जाते हैं। और शरीर टूटने जैसी (गात्र सदन) वेदना होना यह प्रमुख लक्षण उत्पन्न होता है। (सु. चि. 35/23)

(2) यदि अभुक्त भक्त (जिसको भोजन न किया हो) को अनुवासन दिया जाये तो आंत्र में मार्ग आवृत्त न होने के कारण वह ऊपर तक पहुँच जाता है। अनुवास (स्नेह) बस्ति भोजनोपरान्त ही दी जाती है क्योंकि भोजन के बाद आमाशय तथा आंत्र में पच्यमान अन्न का दबाव होता है। इसलिये स्नेह की व्यापि पक्वाशय में धीरे धीरे होती है और रिक्तमार्ग हो तो निःसंशय वेग से ग्रहणी तक आ सकता है जिससे आध्मान, हृद्ग्रह, हिक्का, तथा छर्दि उत्पन्न हो सकती है।

(3) नवज्वर, कामला, पाण्डु, प्रमेह में अनुवासन दोषों को उत्क्लिष्ट कर उदर रोग उत्पन्न करता है। इन रोगों में स्रोतोरोध का प्रधान्य रहता है। अतः स्नेहगति में अवरोध से दोषों का उत्क्लेश होता है। इन चारों रोगों में स्नेहपान का भी निषेध है।

(4) अर्श में अनुवासन, अर्शांकुरों को क्लिन्न कर आध्मान उत्पन्न करता है।

(5) अरोचक में अरूचि को और बढ़ा देता है।

(6) अग्निमांद्य तथा दुर्बलों में अनुवासन अग्निमांद्य की वृद्धि होती है।

(7) प्रतिशयाय प्लीहादि रोगों में दोषोत्क्लेश से रोगवृद्धि होती है।

(8) कृमि कोष्ठ में कृमि निर्हरण पूर्व स्नेहबस्ति देने से, कृमि बाहुल्य के कारण तथा निर्हरण नहीं होने के कारण कृमि ऊपर की ओर गमन कर हृदयापकर्षण करते है।

(9) आढ्यवात में स्नेह बस्ति से आमवृद्धि होती है।

अनुवासन बस्ति योग्य रोग एवं रोगी (Indication of Anuvasana Basti)–

य एवास्थाप्यास्तएवानुवास्याः, विशेषतस्तु रुक्ष तीक्ष्णाग्नयः केवल वातरोगार्ताश्च। एतेषु हि अनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूले द्रुमप्रसेकवत्।। (च. सि. 2/19)

जो आस्थापन योग्य होते हैं वो ही रोगी अनुवासन योग्य होते हैं।

- विशेष रूप से अत्यन्त रुक्ष शरीर वाले, तीक्ष्ण जठराग्नि वाले, केवल वातज व्याधि से पीडित व्यक्ति है उन्हें अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

बस्ति यंत्र (Basti Instrument)

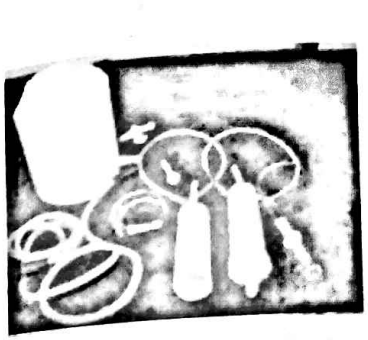

एनिमा पोट

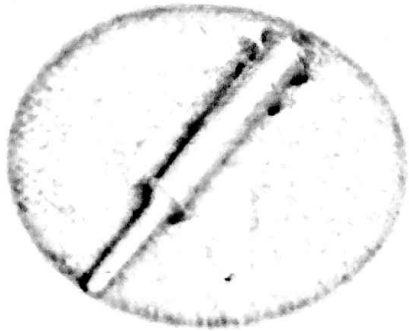

बस्ति नेत्र

जिस यंत्र से बस्ति दी जाती है उसे "बस्तियंत्र" कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं-

(1) बस्ति नेत्र (2) बस्तिपुटक

1. बस्तिनेत्र (Basti netra)

सुवर्ण रौप्यत्रपुताम्ररीति कांस्यास्थि शस्त्र द्रुम वेणु दंतैः।
नलैः विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैर्नेत्राणि कार्याणि सुकर्णिकानि।।
षड्द्वादशाष्टांगुल सन्मितानि षड्विंशति द्वादश वर्षजानां।
स्युर्मुद्ग कर्कन्धु सतीन वाहि छिद्राणिवर्त्याऽपिहितानि चैव।।
यथावयोंगुष्ठ कनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवंति।
ऋजूनि गोपुच्छ समाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिका मुखानि।।
स्यात् कर्णिकैकाग्रचतुर्थभागे मूलाश्रिते बस्तिनिबंधने द्वे। (च. सि. 3/7-9)

नेत्र से यहाँ नलिका का अर्थ है। जिस भाग को गुदा में प्रविष्ट कर बस्ति दी जाती है बस्तिनेत्र कहलाता है। यह नलिका सोने, चांदी, तांबे, कांसा, पीतल, रांगा, अस्थि आदि की बनायी जाती थी। वर्तमान काल में स्टील, पीतल या प्लास्टिक की नलिका का प्रयोग किया जाता है। अतः यह एक प्रकार का नलिका यंत्र है।

यह नलिका गोपुच्छाकार एवं मोटाई में उतार चढाव वाली होती है। मूलभाग (जहाँ से पुटक बांधा जाता है) में अंगुष्ठ जैसी मोटी तथा अग्रभाग (गुद प्रवेश वाला भाग) में कनिष्ठिका जैसी पतली होती है।

आयु के अनुसार नलिका की लम्बाई तथा छिद्र का प्रमाण होता है।

आचार्य चरकानुसार बस्तिनेत्र के छिद्र का प्रमाण –

1 वर्ष से 6 वर्ष आयु	मूंग प्रविष्ट होने लायक ✓
8 वर्ष तक की आयु के लिए	उड़द (माष) प्रविष्ट होने लायक
8 से 16 वर्ष की आयु	कलाय (मटर) प्रवेश लायक
16 से 25 वर्ष की आयु में	फूले हुए मटर के बराबर

बस्ति नेत्र का प्रमाण

आचार्य चरकानुसार

आतुर आयु	नेत्र लम्बाई
6 वर्षायु	6 अंगुल
12 वर्षायु	8 अंगुल
20 वर्षायु के ऊपर	12 अंगुल

यहाँ आचार्य ने 6 वर्ष से 12 वर्ष तक की आयु हेतु 1/3 अंगुल प्रतिवर्ष लम्बाई अधिक लेनी चाहिए तथा 12 से 20 वर्ष तक की आयु हेतु 1/2 अंगुल प्रतिवर्ष लम्बाई अधिक लेनी चाहिए।

आतुर वय	नेत्र लम्बाई		नेत्र छिद्र प्रमाण
1 से 6 वर्ष	6 अंगुल	(1/2 अंगुल प्रतिवर्ष अधिक)	मूंग प्रविष्ट योग्य
7	6 1/3 अंगुल		माष प्रविष्ट योग्य
8	6 2/3 अंगुल		
9	7		कलाय प्रविष्ट योग्य
10	7 1/3		
11	7 2/3		
12	8		
13	81/2 अंगुल		
14	9 अंगुल	(1/3 अंगुल प्रतिवर्ष अधिक)	
15	9 1/2 अंगुल		
16	10 अंगुल		
17	10 1/2 अंगुल		फूले हुए मटर प्रविष्ट योग्य
18	11 अंगुल		
19	11 1/2 अंगुल		
20	12 अंगुल		
20 से अधिक	12 अंगुल		

उत्तर बस्ति नेत्र प्रमाण:–

पुष्पनेत्रं तु हैमंस्यात् श्लक्ष्णमौत्तर बस्तिकम्।
जात्यश्वहन वृंतेन समं गोपुच्छसंस्थितम्। रौप्यं वा सर्षप छिद्रं द्विकर्णं द्वादशांगुलं।।

(च. सि. 9/50–51)

चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुल सम्मितं। मालतीपुष्प वृंताग्रं छिद्रं सर्षप निर्गमम्।।

(सु. चि. 37/101)

उत्तर बस्ति के नेत्र को विशिष्ट संज्ञा "पुष्प नेत्र" दी गई है।

आकार :– 1. जातीपुष्प (चमेली के फूल) या कनेर पुष्प समान
2. नेत्र सीधा व चिकना होना चाहिए।

लम्बाई :– 12 अंगुल, तथा सुश्रुतानुसार 14 अंगुल (पुरुष) 10 अंगुल (स्त्री)

नेत्र छिद्र प्रमाण – सरसों के आकार का (पुरुष), मूंग के समान (स्त्री)

व्रणबस्ति नेत्र प्रमाण :–

व्रणनेत्रमष्टांगुलं मुद्गवाही स्रोत:।
व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेहकषाये विदधीत। (सु. चि. 35/11)

लम्बाई–8 अंगुल

अग्रछिद्र परिमाण– मूंग सदृश

बस्ति नेत्र दोष (Demerits of Basti netra)

8 प्रकार के होते हैं

ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबंधनम्। पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौं नेत्राणि वर्जयेत्।।
अप्राप्त्यतिगति क्षोभ कर्षण क्षणन स्रवा:। गुदपीडा गतिर्जिह्मा तेषां दोषा: यथाक्रमम्।।

(च. सि. 5/4–5)

1. ह्रस्वता (छोटा होना)
2. दीर्घता (अधिक लम्बाई)
3. तनुता (पतला)
4. स्थूलता (मोटा)
5. जीर्णता
6. शिथिल बंधनता (बंधन का ढीला होना)
7. पार्श्व छिद्र
8. वक्रता (टेढ़ा होना)

इन अष्ट दोषों से क्रमशः अप्राप्त्यत, अगति, क्षोभ, कर्षण, क्षणन, स्त्राव, गुदपीडा तथा गति जिंहमा ये दोष होते हैं।

2. बस्ति पुटक (Basti putak)

यह वह भाग है जिसमें बस्ति दी जाने वाली औषध रखी जाती है जो संकोच–प्रसरणशील थैली की तरह होती है।

प्राचीनकाल में इसको पशुओं के मूत्राशय से बनाया जाता था। रबर का आविष्कार होने के बाद आजकल रबर या प्लास्टिक का बनाया जाता है अथवा फुटबॉल के ब्लैडर में भी एक अतिरिक्त छिद्र करके काम में लिया जा सकता है।

बस्ति पुटक में औषध भरकर इसे बस्तिनेत्र के अग्रभाग की कर्णिका से जोड़ कर, धागे से अच्छी तरह बांध देते हैं। बस्ति देते समय बस्ति पुटक को समान दाब से लगातार अल्प बस्ति द्रव्य पुटक में शेष रहने तक दबाकर बस्ति दी जाती है। इस प्रकार से उपद्रव रहित बस्ति प्रयोग किया जाता है।

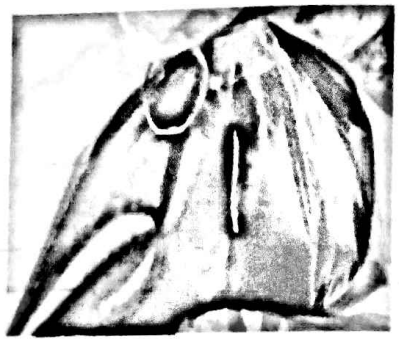

बस्ति पुटक (प्लास्टिक)

बस्ति पुटक के दोष (Demerits of Basti putak)

बस्ति पुटक के आठ प्रकार के दोष माने जाते हैं, इन दोषों से रहित बस्ति पुटक का प्रयोग करना चाहिए।

विषममांसल छिन्न स्थूल जालिक वातलाः। स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तिन् कर्मसु वर्जयेत्।।
गतिवैषम्य विस्रत्व स्राव दौर्ग्राह्य निस्रवाः। फेनिलच्युत्यधार्यत्वं बस्तेः स्युर्बस्तिदोषतः।।

(च. सि. 5/6-7)

1. विषमाकार	2. मांसल	3. छिद्रयुक्त	4. स्थूल
5. जालयुक्त	6. वातल	7. स्निग्ध	8. क्लिन्नता

बस्ति निर्माण विधि (Method of preparation of Basti)

1. निरुह बस्ति निर्माण विधिः– आचार्य चरक व वाग्भट्ट ने निरुह बस्ति निर्माण का एक विशिष्ट क्रम दिया जो निम्न प्रकार है।

पूर्वं हि दद्यात्मधु सैंधवं तु स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनु कल्कम्।
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तं बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन।। (च. सि. 3/23)
माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं कवाथमिति क्रमात्।
आवपेत निरूहाणां ह्येष संयोजने विधिः।। (अ. ह. सू. 11/45)

सर्वप्रथम माक्षिक (मधु) और सैंधव लवण को लेकर अच्छी तरह घोटे। जब यह एक मिश्रण (Emulsion) के रूप हो जाए तो फिर इसमें स्नेह (घृत, तैल आदि) मिलाते है और पुनः घोटते हैं जब यह भी अच्छी तरह मिश्रित हो जाता है तो कल्क मिलाकर पुनः घोटते है।

पूतो यवानी फलबिल्व कुष्ठवचा शताह्वा घन पिप्पलीनां। (अ. ह. क. 4/2)

यदि कहीं कल्क का उल्लेख न हो तो अष्टांगहृदय के **पूतो यवानी कल्कः**– (अजवायन, मदनफल, बिल्व, कुष्ठ, वचा, सौफ, नागरमोथा तथा पिप्पली एवं मधु, घृत, गुड, तैल और लवण का सुखोष्ण प्रयोग करना चाहिए।) प्रयोग में लेते हैं (अ. ह. कल्प 4/2-3) जब यह सभी अच्छी तरह मिश्रित हो जाए तो अंत में क्वाथ को मिलाकर अच्छी तरह मथना चाहिए।

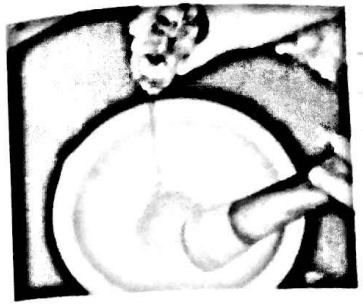

सर्व प्रथम मधु लेते हुए

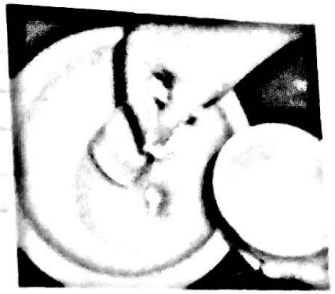

फिर सैंधव लवण लेते हुए

दोनों (मधु-सैंधव) मिश्रित करते हुए

फिर तैल/घृत लेते हुए।

तैल/घृत मिश्रण में डालते हुए

फिर तैल/घृत मिश्रित करते हुए।

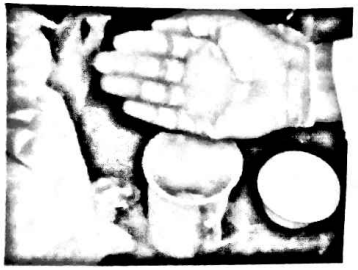

कल्क लेते हुए

कल्क आर्द्र करते हुए

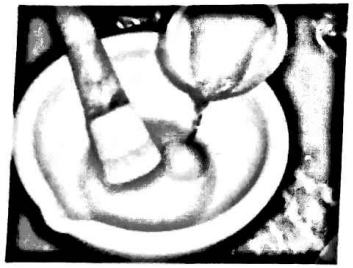

आर्द्र कल्क डालते हुए

कल्क मिश्रित करते हुए।

क्वाथ डालते हुए

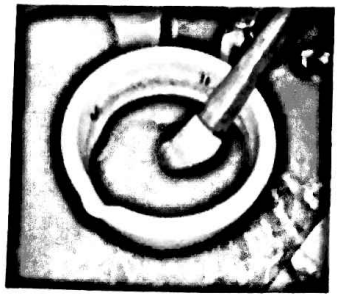

अंत में क्वाथ मिश्रित करते हुए

प्रथम चरण (1) मधु + सैंधव
द्वितीय चरण (2) स्नेह
तृतीय चरण (3) कल्क
चतुर्थ चरण (4) क्वाथ।

कल्क को आर्द्र करके अथवा शुष्क (सूखा) भी प्रयोग कर सकते हैं।

सर्वं तदेकतः। उष्णाबुं कुंभी बाष्पेण तप्तं खज समाहतं।। (अ. ह. सू. 19/41)

सभी प्रकार की बस्तियों के द्रव्य को गर्म करने की एक विशिष्ट विधि है। बस्ति द्रव्य को सीधे अग्नि पर गर्म नहीं किया जाता है इस हेतु बस्ति द्रव्य को एक पात्र में रखकर अन्य बडे पात्र जिसमें उष्ण जल भरा होता है में रख कर गर्म करते हैं।

वय अनुसार निरूह बस्ति मात्रा:-

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धं प्रसृताभिवृद्धिः।
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः।।
आसप्ततेस्तद् विहितं प्रमाणमतः परं षोडषवद् विधेयम्।
निरूहमात्रा प्रसृत प्रमाणाबालेच वृद्धे च मृदुर्विशेषः। (च. सि. 3/31-32)
निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुंचों वत्सरे परं। प्रकुंच वृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्यट्
प्रसृतास्ततः। प्रसृतं वर्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु। आसप्तेरिदं मानं
दशैव प्रसृताः परम्।। (अ. ह. सू. 19/18-19)

वय के अनुसार निरूह मात्रा- निरूह की मात्रा 1 वर्ष के बालक के लिये अर्ध प्रसृति होती है। तत्पश्चात् प्रति वर्ष आधी प्रसृति अधिक लेनी चाहिए। इस तरह 12 वर्षायु तक करते हैं, तत्पश्चात् प्रतिवर्ष एक प्रसृति बढ़ाकर 18 वर्षायु तक मात्रा निर्णय करते हैं। यही प्रमाण 70 वर्षायु तक लेना चाहिए है और 70 वर्ष पश्चात्, 16 वर्षायु के प्रमाण में बस्ति देनी चाहिये। वाग्भट ने वही प्रमाण प्रकुंच में दिया है। (दो प्रकुंच = 1 प्रसृति)

निरूह मात्रा-तालिका

क्र.	वय	चरकोक्त मात्रा प्रसृति में	वाग्भटोक्त मात्रा प्रकुंच में	मात्रा तोले में
1.	1 वर्ष हेतु	1/2 प्रसृति	1 प्रकुंच	4 तोला = 40 g
2.	2 वर्ष हेतु	1 प्रसृति	2 "	8 तोला = 80 g
3.	3 वर्ष हेतु	1.5 प्रसृति	3 "	12 " = 120 g
4.	4 वर्ष हेतु	2 "	4 "	16 " = 160 g
5.	5 वर्ष हेतु	2.5 "	5 "	20 " = 200 g
6.	6 वर्ष हेतु	3 "	6 "	24 " = 240 g
7.	7 वर्ष हेतु	3.5 "	7 "	28 " = 280 g
8.	8 वर्ष हेतु	4 "	8 "	32 " = 320 g
9.	9 वर्ष हेतु	4.5 "	9 "	36 " = 360 g
10.	10 वर्ष हेतु	5 "	10 "	40 " = 400 g
11.	11 वर्ष हेतु	5.5 "	11 "	44 " = 440 g

12.	12 वर्ष हेतु	6 "	12 "	48 "	=	480 g
13.	13 वर्ष हेतु	7 "	चरकवत् प्रसृति में उक्त	56 "	=	560 g
14.	14 वर्ष हेतु	8 "	"	64 "	=	640 g
15.	15 वर्ष हेतु	9 "	"	72 "	=	720 g
16.	16 वर्ष हेतु	10 "	"	80 "	=	800 g
17.	17 वर्ष हेतु	11 "	"	88 "	=	880 g
18.	18 वर्ष हेतु	12 "	"	96 "	=	960 g
19.	19 वर्ष से 70 वर्ष तक के लिये	12 "	"	96 "	=	960 g
20.	70 वर्ष के ऊपर के आतुरों हेतु।	10 "	"	80 "	=	800 g

12 प्रसृति या 96 तोला यह बस्ति का परम प्रमाण है,

तेषु त्वास्थापन द्रव्यप्रमाणमातुर हस्तप्रमाण संमितेन प्रसृतेन संमितौ द्वौ चत्वाराष्टौ च विधेया:।

(सु. चि. 35/7)

सुश्रुत ने आस्थापनबस्ति का प्रमाण आतुर के हस्त प्रमाण से दो प्रसृति, चार प्रसृति और आठ प्रसृति क्रमश: हीन मध्यम और उत्तम प्रमाण बताया है। तथा आस्थापन का परम प्रमाण 12 प्रसृति का कहा है।

निरूहत्य प्रमाणं तु प्रस्थ: पादोत्तर मतं। मध्यम प्रस्थमुद्दिष्टं हीनं च कुडवं त्रयं।। (शा. उ. खं. 6/3)

शार्ङ्गधर और भावप्रकाश ने निरूह की उत्तम मात्रा $1\frac{1}{4}$ प्रस्थ (80 तौला) मध्यममात्रा 1 प्रस्थ (64 तोला) और हीनमात्रा 3 कुडव (48 तोला) कही है।

बस्ति द्रव्यों में स्नेह की मात्रा -

भागा: कषायस्य तु पंच, पित्ते स्नेहस्य षष्ट: प्रकृतौ स्थिते च।

वाते विवृद्धे तु चतुर्थ भागो मात्रा निरूहेषु कफेऽष्ट भाग:।। (च. सि. 3/30)

निरूह बस्ति में स्नेह की मात्रा वात प्रधान दोषों में क्वाथ की चतुर्थांश, पित्तधान दोषों में तथा स्वस्थ पुरुषों में व ज्वर से षष्ठांश, और कफप्रधान दोषों में अष्टांश स्नेह तथा सर्वत्र सभी दोषों में पंचमांश स्नेह लेनी चाहिये। यह प्रमाण द्वादश प्रसृति बस्ति का है, जिससे वात के विकार में 3 प्रसृत (24 तो.) पित्त विकार में 2 प्रसृत (16 तो.) और कफ विकार में 1½ प्रसृत (12 तो.) तथा स्वस्थ लगभग 2.4 प्रसृत (18 तो.) स्नेहमात्रा होती है। (सुश्रुतमानुसार)

दोष	स्नेह भाग	द्वादश प्रसृति बस्ति हेतु
वात प्रधान दोष	1/4 स्नेह	3 प्रसृत (24 तोला) ✓
पित्त व स्वस्थ/प्रकृतिस्थ	1/6 स्नेह	2 प्रसृत (16 तोला) ✓
कफ प्रधान दोष	1/8 स्नेह	1½ प्रसृत (12 तोला) ✓
स्वस्थ (सुश्रुत)	1/5 स्नेह	2.4 प्रसृत (18 तोला) (सुश्रुतानुसार)

द्वादश प्रसृत बस्ति (चरक)

दोष	क्वाथ	स्नेह	मधु	कल्क	प्रक्षेप
वात	5 प्रसृत	3 प्रसृत	1½ प्रसृत	1 प्रसृत	1½ प्रसृत
पित्त	5 प्रसृत	2 प्रसृत	2 प्रसृत	1 प्रसृत	2 प्रसृत
कफ	5 प्रसृत	1½ प्रसृत	3 प्रसृत	1 प्रसृत	1½ प्रसृत

सुश्रुतानुसार- कषाय-4 प्रसृत, स्नेह 3 प्रसृत, मधु- 2 प्रसृत, कल्क 14 प्रसृत, प्रक्षेप-2 प्रसृत तथा सैंधव लवण 1 कष बताया है अर्थात् 1 कर्ष (सैंधव लवण) अधिक बताया है।

बस्तिदान विधि (Method of administration of Basti)

आचार्यों ने अनेक प्रकार की बस्तियों का उल्लेख किया है। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से बस्ति तीन प्रकार की है इन्हीं में ही उन सबका समावेश हो जाता है-

1. निरुह/आस्थापन बस्ति
2. अनुवासन बस्ति
3. उत्तर बस्ति

निरुह बस्ति (Nirhu Basti)

इस बस्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया तीन भागों में विभक्त होती है।

1. पूर्वकर्म (Poorva karma)
2. प्रधान कर्म (Pradhana karma)
3. पश्चात् कर्म (Paschat karma)

1. पूर्व कर्म (Poorva karma)-

(i) आतुर परीक्षण (Examination of Patient)-बस्ति से पूर्व बस्ति के योग्य-अयोग्य रोग व रोगी के भिन्न-भिन्न लक्षणों को देखकर निर्णय कर लिया जाता है कि वह बस्ति के योग्य है या नहीं। योग्य होने पर आगे कि प्रक्रिया की जाती है।

दोष, औषध, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्त्व, ओक, वय तथा बल इन सभी पर विचार करके ही बस्ति दी जाती है तभी सफलता की प्राप्ति होती है।

(1) दोष की समीक्षा- वात विकार के लिए बस्ति सर्वोत्तम चिकित्सा है। तथापि कफ-पित्त के विकारों में भी बस्ति लाभकारी है, अत: सभी दोषों के क्षय, वृद्धि समत्व, ऊर्ध्वदेहगमन, अधोदेहगमन, तिर्यग्गमन, शाखा-कोष्ठा-मध्यममार्गाश्रयित्व, स्वदेशगमन, परदेशगमन, स्वतन्त्रत्व, परतन्त्रत्व, अंशांशकल्पना, धातुविशेषाश्रयित्व और कालप्रकृति आदि का विचार कर शोधन, लेखन या बृंहण आदि उपयुक्त बस्ति को चयन करना चाहिए।

(2) औषध की समीक्षा- औषध के तरुणत्व, वृद्धत्व, आर्द्रत्व, शुष्कत्व, द्रव्यान्तरसंयुक्तत्व, स्वरसादि-कल्पनायोगित्व तथा रस-वीर्य-विपाक की दृष्टि से आतुर रोग या दोष में प्रयोग के अयोग्य या योग्य है, यह सब विचार करना आवश्यक है।

औषध द्रव्यों के 11 दोष बतलाये गये हैं उन दोषों से मुक्त होने पर ही उन्हें बस्ति द्रव्यों हेतु प्रयोग करना चाहिए- 1 आमता, 2. हीनमात्रता, 3. अतिमात्रता, 4. अतिशीतता, 5. अतिउष्णता, 6. अतितीक्ष्णता, 7. अतिमृदुता, 8. अतिस्निग्धता, 9. अतिरूक्षता, 10. अतिसान्द्रता और 11. अतिद्रवता।

3. देश समीक्षा– देश दो प्रकार का है।

1. भूमिदेश और 2. आतुरदेश

(1) भूमिदेश– 1. जांगल, 2. आनूप और 3. साधारण भेद से देश तीन प्रकार का होता है। जांगल वातदोषकर, आनूप कफदोषकर और साधारण समदोष होता है। इनका विचार कर देश–गुण के विपरीत गुणवाले द्रव्यों के योग से बस्ति की कल्पना करनी चाहिए।

(2) आतुरदेश– रोगी निरुह या अनुवासन के योग्य है या नहीं, सर्वप्रथम यह विचार करना चाहिए। रोगी का अभ्यंग एवं स्वेदन करने और अनुवासनवस्ति देने के पश्चात् निरूह देनी चाहिए।

निरुह के योग्य रोगी को शुक्लपक्ष में उत्तम दिन, नक्षत्र एवं मुहूर्त देखकर प्रशस्त, स्वच्छ, निर्मल गगन वाले काल में पूर्वकृत भोजन के जीर्ण हो जाने पर एकाग्रचित्त होकर भोजन के पूर्व निरूहबस्ति देनी चाहिए।

बस्ति प्रयोग हेतु निषिद्ध रोग–

(A) शोधन योग्य रोगों (कुष्ठ–प्रमेह–मेदोरोग आदि) में बृंहणीय बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (च. सि. 1/36)

(B) क्षतक्षीण– शोष या मूर्च्छापीड़ित, अतिदुर्बल और विशोधित रोगियों में शोधनबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (च. सि. 1/37)

4. काल समीक्षा– ऋतु और रोगावस्था के अनुसार, विचार कर बस्ति देनी चाहिए।

सामान्य नियमानुसार वमन के पन्द्रहवें दिन विरेचन और विरेचन के 7 दिन के बाद निरूह, फिर नवें दिन अनुवासन देकर उसी दिन शाम को या दूसरे दिन निरूह बस्ति दी जा सकती है।

5. सात्म्य समीक्षा–निरूह या अनुवासन देने की अनुकूलता का विचार करना चाहिए। जैसे– पूर्व के भोजन के पच जाने पर तथा बिना भोजन किये (अभुक्त भक्त) ही निरूह दिया जाता है, क्योंकि भोजन के बाद दी गयी निरूहबस्ति छर्दि और विसूचिका को उत्पन्न करती है, इसी प्रकार अनुवासन भोजन के तुरन्त बाद दी जाती है। (आर्द्रपाणि)

6. अग्नि समीक्षा– अग्नि मन्द होने पर पहले दीपन, पाचन एवं अग्निवर्धन करके निरूह या अनुवासन देनी चाहिए।

7. सत्व समीक्षा–सत्त्व का अर्थ मन से है। वह प्रवर, मध्यम और अवर भेद के अनुसार मृदु या तीक्ष्ण बस्ति देनी चाहिए। प्रवरसत्त्व को तीक्ष्ण, मध्यम को मध्यम और अवर को मृदु बस्ति देनी चाहिए।

8. ओक–समीक्षा– ओक का अर्थ अभ्यास से है, रोगी शाकाहारी है या मांसाहारी तथा भोजन घी, तैल आदि की मात्रा के अनुसार सौम्य या तीक्ष्ण बस्ति का निर्धारण करते हैं।

9. वय समीक्षा – आयु अनुसार बस्ति नेत्र की लम्बाई तथा मात्रा का चयन करते हैं।

10. बल–समीक्षा– रोगी के बल के अनुसार स्निग्ध, मृदु या उष्ण, तीक्ष्ण गुणयुक्त बस्ति देनी चाहिए।

बस्ति चाहे निरूह या अनुवासन या उत्तरबस्ति देनी हो, प्रत्येक स्थिति में उपरोक्त दश विषयों पर विचार करना आवश्यक है, अन्यथा व्यापद् की सम्भावना होती है।

(ii) स्नेहन एवं स्वेदन कर्म– बस्ति से पहले स्नेहन (अभ्यंग) एवं स्वेदन पूर्वकर्म आवश्यक होती है।

(iii) आतुर आहार एवं वेशभूषा– निरुह बस्ति भोजन से पूर्व अर्थात् खाली पेट (रिक्त कोष्ठ) होने पर दी जाती है।

रोगी की वेशभूषा न तो अधिक तंग, न ही अधिक ढीली हो तथा आरामदायक होनी चाहिए।

(iv) तापक्रमादि सारणी (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, हृदय गति, वजन, श्वसन गति, रक्तचाप आदि को सूचीबद्ध कर लेते हैं।

(v) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form)– रोगी का बस्ति कर्म करने से पहले बस्ति विधि तथा होने वाले उपद्रव की जानकारी दे दी जाती है तथा उसकी सहमतिलिखित भी ले लेते हैं।

(vi) बस्ति द्रव्यों का सम्मिश्रण– पहले मधु और नमक घोटें फिर स्नेह मिलाकर मथानी से मथे फिर कल्क और अंत में क्वाथ मिलाकर अच्छी तरह से मथ लेते हैं।

बस्ति द्रव तैयार कर एक छोटे से पात्र में रखते हैं तथा उसे बड़े पात्र के गर्म जल में रखकर गर्म करते हैं।

(vii) आवश्यक उपकरण एवं सामग्री– बस्ति नेत्र, बस्ति पुटक, एनिमा पोट, माप अंकित पात्र, छोटी भगोनी, दस्ताने, ऊष्ण जल पात्र, तैल पात्र, तौलिया आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhana karma)– इसके अन्तर्गत बस्ति देने से लेकर वापस लौटने तक के सभी कर्म समाविष्ट है:–

यह निम्न चरणों में पूर्ण होता हैं–

(i) बस्ति दान

(ii) बस्ति–प्रत्यागमन एवं निरीक्षण

(iii) सम्यक् योग, अयोग व अतियोग लक्षणों का निरीक्षण

(i) बस्तिदान– आवश्यक सभी सामग्री एकत्रित करके रोगी को मलमूत्र विसर्जित कराकर उसका अभ्यंग, स्वेदन करावकर बस्ति टेबल पर लिटा देते हैं।

वाम पार्श्व श्यन :–रोगी को बाएँ करवट लिटाकर बस्ति देनी चाहिए।

रोगी अपने हाथ का ही तकिया लगाकर सोयें और बांया पैर एकदम सीधा और दाहिना पैर जानुसंधि तथा वंक्षण संधि से मोडकर बांये पैर पर रखें। गुदा में जात्यादि तैल/बला तैल या घृत लगाकर उसे स्निग्ध करें। यहाँ घृत/तैल लगाने का उद्देश्य केवल स्निग्ध (Lubricate) करना है तथा बस्तिनेत्र को भी स्निग्ध कर गुदा में 4" से 6" इंच तक धीरे-धीरे पृष्ठवंश के समानान्तर रखते हुए प्रविष्ट करवायें। बस्ति नेत्र प्रवेश के समय क्षत न हो यह सावधानी रखनी चाहिए।

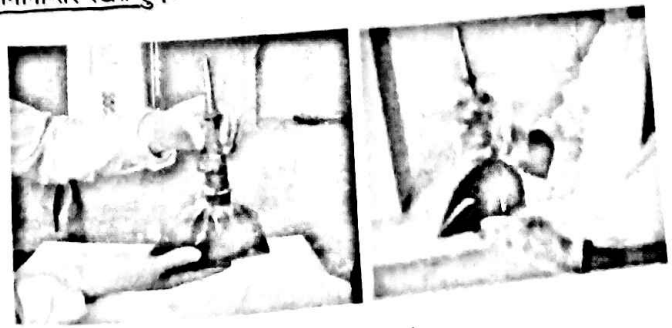

तैयार बस्ति यंत्र

3. देश समीक्षा– देश दो प्रकार का है।

1. भूमिदेश और 2. आतुरदेश

(1) भूमिदेश– 1. जांगल, 2. आनूप और 3. साधारण भेद से देश तीन प्रकार का होता है। जांगल वातदोषकर, आनूप कफदोषकर और साधारण समदोष होता है। इनका विचार कर देश–गुण के विपरीत गुणवाले द्रव्यों के योग से बस्ति की कल्पना करनी चाहिए।

(2) आतुरदेश– रोगी निरुह या अनुवासन के योग्य है या नहीं, सर्वप्रथम यह विचार करना चाहिए। रोगी का अभ्यंग एवं स्वेदन करने और अनुवासनवस्ति देने के पश्चात् निरूह देनी चाहिए।

निरुह के योग्य रोगी को शुक्लपक्ष में उत्तम दिन, नक्षत्र एवं मुहूर्त देखकर प्रशस्त, स्वच्छ, निर्मल गगन वाले काल में पूर्वकृत भोजन के जीर्ण हो जाने पर एकाग्रचित्त होकर भोजन के पूर्व निरूहबस्ति देनी चाहिए।

बस्ति प्रयोग हेतु निषिद्ध रोग–

(A) शोधन योग्य रोगों (कुष्ठ–प्रमेह–मेदोरोग आदि) में बृंहणीय बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (च. सि. 1/36)

(B) क्षतक्षीण– शोष या मूर्च्छापीड़ित, अतिदुर्बल और विशोधित रोगियों में शोधनबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (च. सि. 1/37)

4. काल समीक्षा– ऋतु और रोगावस्था के अनुसार, विचार कर बस्ति देनी चाहिए।

सामान्य नियमानुसार वमन के पन्द्रहवें दिन विरेचन और विरेचन के 7 दिन के बाद निरूह, फिर नवें दिन अनुवासन देकर उसी दिन शाम को या दूसरे दिन निरूह बस्ति दी जा सकती है।

5. सात्म्य समीक्षा– निरूह या अनुवासन देने की अनुकूलता का विचार करना चाहिए। जैसे– पूर्व के भोजन के पच जाने पर तथा बिना भोजन किये (अभुक्त भक्त) ही निरूह दिया जाता है, क्योंकि भोजन के बाद दी गयी निरूहबस्ति छर्दि और विसूचिका को उत्पन्न करती है, इसी प्रकार अनुवासन भोजन के तुरन्त बाद दी जाती है। (आर्द्रपाणि)

6. अग्नि समीक्षा– अग्नि मन्द होने पर पहले दीपन, पाचन एवं अग्निवर्धन करके निरूह या अनुवासन देनी चाहिए।

7. सत्व समीक्षा– सत्त्व का अर्थ मन से है। वह प्रवर, मध्यम और अवर भेद के अनुसार मृदु या तीक्ष्ण बस्ति देनी चाहिए। प्रवरसत्त्व को तीक्ष्ण, मध्यम को मध्यम और अवर को मृदु बस्ति देनी चाहिए।

8. ओक–समीक्षा– ओक का अर्थ अभ्यास से है, रोगी शाकाहारी है या मांसाहारी तथा भोजन घी, तैल आदि की मात्रा के अनुसार सौम्य या तीक्ष्ण बस्ति का निर्धारण करते हैं।

9. वय समीक्षा – आयु अनुसार बस्ति नेत्र की लम्बाई तथा मात्रा का चयन करते हैं।

10. बल–समीक्षा– रोगी के बल के अनुसार स्निग्ध, मृदु या उष्ण, तीक्ष्ण गुणयुक्त बस्ति देनी चाहिए।

बस्ति चाहे निरूह या अनुवासन या उत्तरबस्ति देनी हो, प्रत्येक स्थिति में उपरोक्त दश विषयों पर विचार करना आवश्यक है, अन्यथा व्यापद् की सम्भावना होती है।

(ii) स्नेहन एवं स्वेदन कर्म– बस्ति से पहले स्नेहन (अभ्यंग) एवं स्वेदन पूर्वकर्म आवश्यक होती है।

(iii) आतुर आहार एवं वेशभूषा– निरुह बस्ति भोजन से पूर्व अर्थात् खाली पेट (रिक्त कोष्ठ) होने पर दी जाती है।

रोगी की वेशभूषा न तो अधिक तंग, न ही अधिक ढीली हो तथा आरामदायक होनी चाहिए।

(iv) तापक्रमादि सारणी (Vital recording) – रोगी का तापक्रम, हृदय गति, वजन, श्वसन गति, रक्तचाप आदि को सूचीबद्ध कर लेते हैं।

(v) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form)– रोगी का बस्ति कर्म करने से पहले बस्ति विधि तथा होने वाले उपद्रव की जानकारी दे दी जाती है तथा उसकी सहमतिलिखित भी ले लेते हैं।

(vi) बस्ति द्रव्यों का सम्मिश्रण– पहले मधु और नमक घोटें फिर स्नेह मिलाकर मथानी से मथे फिर कल्क और अंत में क्वाथ मिलाकर अच्छी तरह से मथ लेते हैं।

बस्ति द्रव तैयार कर एक छोटे से पात्र में रखते हैं तथा उसे बड़े पात्र के गर्म जल में रखकर गर्म करते हैं।

(vii) आवश्यक उपकरण एवं सामग्री– बस्ति नेत्र, बस्ति पुटक, एनिमा पोट, माप अंकित पात्र, छोटी भगोनी, दस्ताने, ऊष्ण जल पात्र, तैल पात्र, तौलिया आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhana karma)– इसके अन्तर्गत बस्ति देने से लेकर वापस लौटने तक के सभी कर्म समाविष्ट है:–

यह निम्न चरणों में पूर्ण होता हैं–

(i) बस्ति दान

(ii) बस्ति–प्रत्यागमन एवं निरीक्षण

(iii) सम्यक् योग, अयोग व अतियोग लक्षणों का निरीक्षण

(i) बस्तिदान– आवश्यक सभी सामग्री एकत्रित करके रोगी को मलमूत्र विसर्जित कराकर उसका अभ्यंग, स्वेदन करावकर बस्ति टेबल पर लिटा देते हैं।

वाम पार्श्व शयन :–रोगी को बाएँ करवट लिटाकर बस्ति देनी चाहिए।

रोगी अपने हाथ का ही तकिया लगाकर सोयें और बांया पैर एकदम सीधा और दाहिना पैर जानुसंधि तथा वंक्षण संधि से मोडकर बांये पैर पर रखें। गुदा में जात्यादि तैल/बला तैल या घृत लगाकर उसे स्निग्ध करें। यहाँ घृत/तैल लगाने का उद्देश्य केवल स्निग्ध (Lubricate) करना है तथा बस्तिनेत्र को भी स्निग्ध कर गुदा में 4" से 6" इंच तक धीरे-धीरे पृष्ठवंश के समानान्तर रखते हुए प्रविष्ट करवायें। बस्ति नेत्र प्रवेश के समय क्षत न हो यह सावधानी रखनी चाहिए।

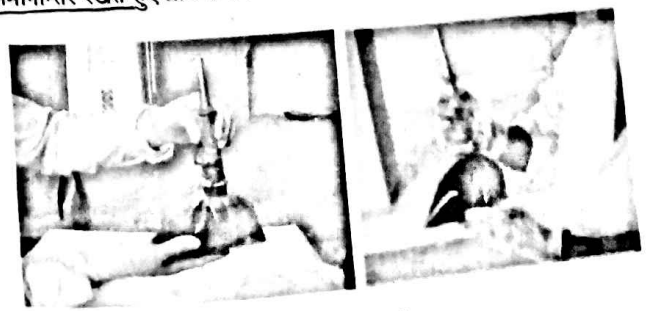

तैयार बस्ति यंत्र

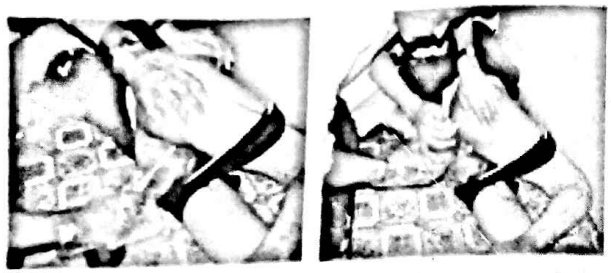

बस्ति नेत्र लगाते हुए बस्तिदान करते हुए

सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति।। (अ. हृ. सू. 19/26)

सम्पूर्ण बस्तिद्रव्य को पक्वाशय में प्रविष्ट नहीं करना चाहिए अर्थात् अल्प मात्रा में बस्ति पुटक में शेष रहने देते हैं। अन्यथा वायु शरीर में प्रविष्ट हो सकती है जिससे अनेक उपद्रव होने की सम्भावना रहती है।

दत्तेतूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिजौ।। (अ. हृ. सू. 19/27)

बस्तिनेत्र को सावधानी से निकालकर 1 या 2 मिनट वैसे ही लेटे रखा जाता है साथ-साथ नितम्ब को थप-थपाते रहते हैं। रोगी को निर्देश देते है कि वह अपनी यथाशक्ति अनुसार कुछ अधिक समय तक बस्ति को अंदर ही रोकने का प्रयास करे। परन्तु यह भी ध्यान रहे कि बस्ति वापस आने का काल अधिकतम 48 मिनट है। फिर मल वेग की इच्छा होने पर कुक्कुटासन (उकडू) बैठाकर मलविसर्जन के लिए कहना चाहिये। यदि बैठने में परेशानी हो तो बिस्तर पर ही (मल पात्र) बैडपैन का प्रयोग करना चाहिए।

विड्वातवेगो यदि चार्थ दत्ते निष्कृष्य मुक्ते प्रणयेदशेषम्।

उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नोति तथास्य देहम्।। (च. सि. 1/25)

यदि बस्तिप्रयोगकाल में ही वेग की प्रवृत्ति हो तो बस्ति नेत्र को निकाल लेना चाहिए। तथा मल विसर्जन पश्चात् दूसरी बस्ति देनी चाहिए। नितम्ब के नीचे उपधान (तकिया) लगाकर उसे कुछ ऊँचा कर देते हैं जिससे बस्ति द्रव्य अधिक समय तक भीतर रहकर अपना कार्य अच्छी तरह से कर सकें।

वाम पार्श्व शयन का कारण-

वामाश्रये हि ग्रहणी गुदेच तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः।

लीयंत एवं वलयश्च तस्मात् सव्यं शयनोऽर्हति बस्तिदानम्।। (च. सि. 3/24)

क्योंकि गुदा की वलियाँ, मलाशय, पक्वाशय एवं ग्रहणी ये अवयव वाम पार्श्व में शयन करने से समानान्तर स्थिति में होते हैं। जिससे बस्ति इन अवयवों में पहुँचकर अपना कार्य कर आसानी से लौट आती है। बस्ति के कुछ द्रव्य तैल, घृत, दूध, मांसरस आदि स्नेह के अणु प्रवण भाव से ग्रहणी तक पहुँचकर उसकी सक्रियता में वृद्धि करते हैं।

(ii) बस्ति प्रत्यागमन और देख-रेख- बस्ति लौटने के काल को प्रत्यागमनकाल कहते हैं।

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यु वे परम्।। (अ. हृ. सू. 19/47)

निरूहप्रत्यागमनकालस्तु मुहूर्तो भवति।। (सु. चि. 38/5)

प्रत्यागमनकाल एक मुहूर्त (लगभग 48 मिनट) का कहा गया है। यदि उक्त काल में बस्ति बाहर नहीं आती तो आध्मान, पक्वाशयशूल, विष्टम्भ, ज्वर आदि उपद्रव होते हैं।

अनायांत मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैहरेत्।

तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान् क्षारमूत्राम्ल संयुतैः।। (सु. चि. 38/17)

तत्रानुलोमिकं स्नेह क्षारमूत्राम्ल कल्पितम्। त्वरितं स्निग्ध तीक्ष्णोष्णं बस्तिमन्यं प्रपीडयेत्।।

विद्यात्फल वर्ति वा स्वेदनोत्रासनादि च।। (अ. हृ. सू. 19/47-48)

ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण निरुह बस्ति (क्षार, मूत्र, अम्ल युक्त) द्वारा शोधन करें या फलवर्ति लगाकर विरेचन कराएँ।

(iii) सम्यक् योग, अयोग, अतियोग लक्षणों का निरीक्षण

सम्यक् योग लक्षण (Symptoms of adequate Nirhu Basti)-

प्रसृष्ट विण्मूत्र समीरणत्वं रुच्यग्नि वृद्ध्याशय लाघवानि।

रोगोपशांतिः प्रकृतिस्थता च बलंच तत्स्यात् सुनिरूढलिङ्गम्।। (च. सि. 3/41)

यस्यक्रमेण गच्छंति विट्पित्तकफवायवः।

लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत्।। (सु. चि. 38/10)

(1) मल-मूत्र अधोवात की सम्यक् प्रवृत्ति (2) भोजन में रुचि

(3) अग्नि की वृद्धि (4) पक्वाशय आदि आशयों में लघुता

(5) रोग का शमन (6) रोगी का स्वस्थ होना (प्रकृतिस्थता)

(7) बल की वृद्धि होना (ये चरकानुसार है।) (8) क्रमशः मल-पित्त-कफ-वायु का विसर्ग ✓

(9) शरीर में हल्कापन (ये सुश्रुतानुसार है)

अयोग्य लक्षण (Symptoms of inadequate Nirhu Basti)-

स्याद्गुग्शिरोहृद गुदबस्ति लिंगे शोफः प्रतिश्याय विकर्तिके च।

हल्लासिका मारुत मूत्रसंगः श्वासो न सम्यग् च निरूहिते स्युः।। (च. सि. 1/42)

यस्यस्याद्दुस्तिरल्पोल्पवेगोहीन मलानिलः।

दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचि जाड्यवान्।। (सु. चि. 38/8)

(1) शिर-हृदय-गुद- बस्ति-मेढ्र में वेदना

(2) शोथ

(3) प्रतिश्याय का होना

(4) विकर्तिका- गुदा में कैची से काटने समान पीडा

(5) हृल्लास (जी मचलाना)

(6) अधोवायु तथा मूत्र की रुकावट - (ये चरकानुसार है।)

(7) श्वासकृच्छ्रता

(8) वेग कम आते है।

(9) बस्ति द्रव्य का अल्प मात्रा में निकलना

(10) मलविसर्जन अल्प मात्रा में होना

(11) शरीर में जडता होना

(12) भोजन में अरुचि

चिकित्सा- बस्ति प्रत्यागमकारक चिकित्सा करनी चाहिए।

अतियोग लक्षण (Symptoms of excessive Nirhu Basti)-

लिंगं यदेवाति विरेचितस्य भवेत्तदेवाति निरूहितस्य। (च. सि. 1/43)

विरेचन के अतियोग के लक्षण और निरुह अतियोग के लक्षण समान है। (चरकानुसार)

1. कफक्षयज विकार	2. रक्तक्षयज विकार
3. वातक्षयज विकार	4. सुप्ति (शरीर में शून्यता)
5. अंगमर्द	6. क्लम
7. वेपथु (कम्प)	8. निद्रा नाश
9. बलाभाव	10. तमःप्रवेश (आँखों के सामने अंधेरा छाना)
11. उन्माद	12. हिक्का (1 से 12 तक चरकानुसार है)

चिकित्सा- दीपन, पाचन, ग्राही चिकित्सा करनी चाहिए।

3. पश्चात् कर्म (Paschat karma) -

बस्ति देने के बाद बस्ति के लौटने और रोगी को पथ्य देने एवं अपथ्य से परहेज करना ये सभी पश्चात् कर्म में आते हैं-

(i) बस्ति देने के बाद तत्काल कर्त्तव्य

(ii) पथ्य आहार व विहार

(i) बस्ति देने के बाद तत्काल कर्त्तव्य-

(1) रोगी का जैविक मापन (Vital recording) तापक्रम, श्वासगति, रक्तचाप आदि को सूचीबद्ध करके पहले से तुलना करते हैं।

(2) बस्ति देकर उसके प्रत्यागम का निरीक्षण करते हैं।

(3) यदि केवल बस्तिद्रव्य ही निकले तो दूसरी निरुह बस्ति उसी समय दी जा सकती है। या अधिकतम चार बस्ति या सम्यक् निरूह लक्षण तक दे सकते हैं परन्तु अधिक निरूह से पक्वाशय क्षोभ की सम्भावना के कारण अनुवासन देकर फिर निरूह प्रयोग करना चाहिए।

(ii) पथ्य आहार एवं विहार-

(1) बस्ति का सम्यक् योग होने पर विश्राम कराकर उसके बाद सुखोष्ण जल से स्नान कराना चाहिए।

प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम्।

नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो नात्याशितः स्यादनुवासनीयः।। (च. सि. 1/21-22)

सुनिरूढ़ ततो जंतु स्नातवंतं तु भोजयेत्।

पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीर यूषरसैः क्रमात्।।

सर्व वा जांगलरसैर्भोजदविकारिभिः।। सु. चि. 38/11-12)

(2) निरुह से आमाशय या पक्वाशय में क्षोभ नहीं होता अतः इसमें संसर्जन क्रम आवश्यक नहीं होता। रोगी को जाङ्गल पक्षु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन देना चाहिए अथवा रोगी में दोष व बल को ध्यान में रखते हुए जो आहार उसके लिए उचित हो वह खाने के लिए देना चाहिए।

(3) (a) पित्त प्रधान दोष हो तो दूध।

(b) कफ प्रधान दोष हो तो यूष

(c) वात प्रधान ही तो मांसरस युक्त भोजन देना चाहिए।

परिहार काल-

कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावास्तावान् भवेद्धि परिहारकालः

अत्यासनस्थान वचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्।

शीतोपचारातप शोक रोषां त्यजेदकालाहित भोजनं च।। (च. सि. 1/54-55)

जितने दिन बस्ति दी जाए उससे दुगने दिनों तक संयम-नियम का पालन करना चाहिए। निम्न का परित्याग करना चाहिए :-

1. देर तक बैठना या खडे रहना	2. अधिक बोलना
3. यान आदि की सवारी करना।	4. दिन में सोना
5. मैथुन करना	6. वेगों को रोकना
7. शीतल आहार-विहार का सेवन करना	8. धूप में बैठना
9. शोक या क्रोध करना	
10. अकाल में व अहितकर भोजन करना।	

अनुवासन बस्ति (Anuvasana Basti)

दोषानुसार अनुवासन प्रयोग :-

एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे पित्तात्मके पंच तु समवापि।

वाते नवैकादश वा पुनर्वा बस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात्।। (च. सि. 1/25)

कफज विकारों में 1 से 3 स्नेह बस्ति

पित्तज विकारों में 5 से 7 स्नेह बस्ति

वातज विकारों में 9 से 11 स्नेह बस्ति देनी चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने (सु. चि. 37/71-76) पर, स्नेह बस्ति की कार्मुकता निम्न प्रकार बताई है:-

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेत्वस्ति वंक्षणौ। सम्यक् दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्यमनिलं जयेत्। जनयेत्बलवर्णौ च तृतीयस्तु प्रयोजितः। रसं चतुर्थो रक्तं तु पंचमः स्नेहयेत्तथा। षष्ठस्तु स्नेहयेत्मांसं मेदः सप्तम एव च। अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम्। एवं शुक्र गतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत्। अष्टादशाष्टदशकान् बस्तीनां यो निषेवते। यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण च। सकुंजर बलोऽश्वस्य जवैस्तुल्योऽमर प्रभः।। (सु. चि. 37/71 से 76)

1st - वक्षण को स्निग्ध करती है। 2nd - शिरोगतवात जीतती है।

3rd - बल व वर्ण जनन है। 4th - रस को स्निग्ध करती है।

5th - रक्त को स्निग्ध करती है। 6th - मांस को स्निग्ध करती है।

7th - मेद को स्निग्ध करती है। 8th - अस्थि को स्निग्ध करती है।

9th - मज्जा को स्निग्ध करती है।

इस तरह 9 बस्तियाँ देकर इसी क्रम में पुनः परिहार क्रम में 9 बस्तियाँ - इस प्रकार 18 बस्ति देने को कहा हैं जिसके सेवन पश्चात् व्यक्ति हाथी समान शक्तिशाली तथा घोड़े के समान वेगवान हो जाता है।

अनुवासन प्रयोग हेतु सामान्य नियम :-

न चैव गुद कंठाभ्यां दद्यास्नेहमनन्तरम्।

उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत्।। (च. सि. 4/49)

एक साथ दो मार्ग अर्थात् मुख व गुद मार्ग से स्नेहन करने से वात व अग्नि दुष्ट होती है इसलिए जब स्नेहपान प्रयोग कर रहे हो तो अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

स्नेहबस्ति निरूहं वा नैकमेवाति शीलयेत्। उत्क्लेशाग्निवधौस्नेहा-

न्निरूहात् पवनाद् भयं। तस्मान्निरूढः संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासितः।।

(च. सि. 4/50-51 तथा सु चि. 37/77-78 तथा अ. ह. सू. 19/65-66 (किंचित पाठभेद))

केवल निरूह या केवल अनुवासन अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि केवल अधिक अनुवासन से अग्निमांद्य तथा निरूह अधिक प्रयोग से वात प्रकोप होता है।

परन्तु यदि अत्यंत रूक्ष शरीर, तीक्ष्ण अग्नि, नित्य व्यायाम शील, वक्षंण-श्रोणि में वात आधिक्य, उदावर्त हो तो प्रतिदिन अनुवासन दी जा सकती है। इस प्रकार के आतुरों में स्नेह का पाचन ठीक उसी प्रकार होता है। जैसा बालुका पर जल शोषित हो जाता है।

अनुवासन प्रयोग काल

शीते वसंते च दिवानुवास्यो रात्रौ शरद ग्रीष्म घनागमेषु।।

च. पा.- **शीत शब्देन शिशिरहेमंतयोरपि ग्रहणम्।।** (च. सि. 1/22)

शिशिर, हेमन्त और वसंत ऋतु में दिन में तथा ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतु में रात्रि में अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा।। (च. सि. 1/20)

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जात बलाय वै।

कृतान्वायानुवास्याय सम्यग् देयोऽनुवासनः।। (सु. चि. 37/3)

वमन आदि पूर्वक जब बस्ति का प्रयोग करना हो तो विरेचन के बाद 9 वें दिन अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए। तथा आचार्य सुश्रुत ने विरेचन के बाद 7 वे दिन, बल की उत्पत्ति तथा संसर्जन क्रम पूर्ण कर प्रकृत भोजन पर आने के बाद देने को कहा है।

न चाभुक्तवतः स्नेह प्रणिधेयः कथञ्चन। शुद्धत्वात् शून्य कोष्ठस्य

स्नेह-उर्ध्व समुत्पतेत्। सदानुवासयेच्चापि भोजयित्वार्द्रपाणिनम्।। (सु. चि. 37/53-54)

अनुवासन बस्ति भोजन के बाद ही देनी चाहिए। अर्थात् आर्द्रपाणि- भोजन कर हाथ धोये हुए/गीले (आर्द्र) हाथ हो तब देनी चाहिए।

गुण - बलवर्णप्रद, मनःप्रसादन, पुष्टिकर, वीर्यवर्धक, वात की रूक्षता, लघुता और शैत्य विनाशक और वातज रोगों की अनुवासन बस्ति श्रेष्ठ चिकित्सा है।

अनुवासन विधि-

अनुवासन की सम्पूर्ण प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी होती है-

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म (Poorva karma)

जिस व्यक्ति को अनुवासन बस्ति देनी हो उसे भोजन के तुरंत बाद ही बस्ति देनी चाहिए (आर्द्र पाणि अवस्था) और भोजन के बाद अधिक विलम्ब न करें। भोजनोत्तर 100 या 200 कदम टहलने के बाद बस्ति देनी चाहिए।

भोजन की मात्रा तीन चौथाई ही देनी चाहिए। तथा भोजन न अधिक स्निग्ध, न अति रुक्ष होना चाहिए।

पूर्वकर्म के अन्य सभी कर्म निरुह बस्ति में वर्णित पूर्वकर्म समान हैं।

स तु सैंधव चूर्णेन शताह्वेन च योजितः। (सु. चि. 37/63)

अनुवासन बस्ति की कल्पना रोगानुसार करनी चाहिए तथा प्रयुक्त स्नेह के साथ 3-4 ग्राम सैंधव व 1-2 ग्राम बारीक पिसा हुआ सौंफ डालकर हल्का गर्म करके प्रयोग करना चाहिए।

यदि प्रमादवश (उष्ण, तीक्ष्ण, सवात, गुरु, अधिक वायु दाब, अधिक मात्रा में) तुंरत वापस आती है तो पहले से कम प्रमाण में तथा प्रमाद को दूर कर पुनः अनुवासन देनी चाहिए।

कफज विकारों में 1 से 3 स्नेह बस्ति

पित्तज विकारों में 5 से 7 स्नेह बस्ति

वातज विकारों में 9 से 11 स्नेह बस्ति देनी चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने (सु. चि. 37/71-76) पर, स्नेह बस्ति की कार्मुकता निम्न प्रकार बताई है:-

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेत्वस्ति वंक्षणौ। सम्यक् दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्यमनिलं जयेत्। जनयेत्बलवर्णौ च तृतीयस्तु प्रयोजितः। रसं चतुर्थो रक्तं तु पंचमः स्नेहयेत्तथा। षष्ठस्तु स्नेहयेत्मांसं मेदः सप्तम एव च। अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम्। एवं शुक्र गतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत्। अष्टादशाष्टदशकान् बस्तीनां यो निषेवते। यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण च। सकुंजर बलोऽश्वस्य जवैस्तुल्योऽमर प्रभः।। (सु. चि. 37/71 से 76)

1st - वक्षण को स्निग्ध करती है। 2nd - शिरोगतवात जीतती है।

3rd - बल व वर्ण जनन है। 4th - रस को स्निग्ध करती है।

5th - रक्त को स्निग्ध करती है। 6th - मांस को स्निग्ध करती है।

7th - मेद को स्निग्ध करती है। 8th - अस्थि को स्निग्ध करती है।

9th - मज्जा को स्निग्ध करती है।

इस तरह 9 बस्तियाँ देकर इसी क्रम में पुनः परिहार क्रम में 9 बस्तियाँ - इस प्रकार 18 बस्ति देने को कहा हैं जिसके सेवन पश्चात् व्यक्ति हाथी समान शक्तिशाली तथा घोड़े के समान वेगवान हो जाता है।

अनुवासन प्रयोग हेतु सामान्य नियम :-

न चैव गुद कंठाभ्यां दद्यास्नेहमनन्तरम्।

उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत्।। (च. सि. 4/49)

एक साथ दो मार्ग अर्थात् मुख व गुद मार्ग से स्नेहन करने से वात व अग्नि दुष्ट होती है इसलिए जब स्नेहपान प्रयोग कर रहे हो तो अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

स्नेहबस्ति निरूहं वा नैकमेवाति शीलयेत्। उत्क्लेशाग्निवधौस्नेहा-

न्निरूहात् पवनाद् भयं। तस्मान्निरूढः संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासितः।।

(च. सि. 4/50-51 तथा सु चि. 37/77-78 तथा अ. हृ. सू. 19/65-66 (किंचित पाठभेद))

केवल निरूह या केवल अनुवासन अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि केवल अधिक अनुवासन से अग्निमांद्य तथा निरूह अधिक प्रयोग से वात प्रकोप होता है।

परन्तु यदि अत्यंत रूक्ष शरीर, तीक्ष्ण अग्नि, नित्य व्यायाम शील, वक्षंण-श्रोणि में वात आधिक्य, उदावर्त हो तो प्रतिदिन अनुवासन दी जा सकती है। इस प्रकार के आतुरों में स्नेह का पाचन ठीक उसी प्रकार होता है। जैसा बालुका पर जल शोषित हो जाता है।

अनुवासन प्रयोग काल

शीते वसंते च दिवानुवास्यो रात्रौ शरद ग्रीष्म घनागमेषु।।

च. पा.- **शीत शब्देन शिशिरहेमंतयोरपि ग्रहणम्।।** (च. सि. 1/22)

शिशिर, हेमन्त और वसंत ऋतु में दिन में तथा ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतु में रात्रि में अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा।। (च. सि. 1/20)

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जात बलाय वै।

कृतान्वायानुवास्याय सम्यग् देयोऽनुवासनः।। (सु. चि. 37/3)

वमन आदि पूर्वक जब बस्ति का प्रयोग करना हो तो विरेचन के बाद 9 वें दिन अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए। तथा आचार्य सुश्रुत ने विरेचन के बाद 7 वे दिन, बल की उत्पत्ति तथा संसर्जन क्रम पूर्ण कर प्रकृत भोजन पर आने के बाद देने को कहा है।

न चाभुक्तवतः स्नेह प्रणिधेयः कथञ्चन। शुद्धत्वात् शून्य कोष्ठस्य

स्नेह-उर्ध्व समुत्पतेत्। सदानुवासयेच्चापि भोजयित्वार्द्रपाणिनम्।। (सु. चि. 37/53-54)

अनुवासन बस्ति भोजन के बाद ही देनी चाहिए। अर्थात् आर्द्रपाणि- भोजन कर हाथ धोये हुए/गीले (आर्द्र) हाथ हो तब देनी चाहिए।

गुण - बलवर्णप्रद, मनःप्रसादन, पुष्टिकर, वीर्यवर्धक, वात की रूक्षता, लघुता और शैत्य विनाशक और वातज रोगों की अनुवासन बस्ति श्रेष्ठ चिकित्सा है।

अनुवासन विधि-

अनुवासन की सम्पूर्ण प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी होती है-

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म (Poorva karma)

जिस व्यक्ति को अनुवासन बस्ति देनी हो उसे भोजन के तुरंत बाद ही बस्ति देनी चाहिए (आर्द्र पाणि अवस्था) और भोजन के बाद अधिक विलम्ब न करें। भोजनोत्तर 100 या 200 कदम टहलने के बाद बस्ति देनी चाहिए।

भोजन की मात्रा तीन चौथाई ही देनी चाहिए। तथा भोजन न अधिक स्निग्ध, न अति रुक्ष होना चाहिए।

पूर्वकर्म के अन्य सभी कर्म निरुह बस्ति में वर्णित पूर्वकर्म समान हैं।

स तु सैंधव चूर्णेन शताह्वेन च योजितः। (सु. चि. 37/63)

अनुवासन बस्ति की कल्पना रोगानुसार करनी चाहिए तथा प्रयुक्त स्नेह के साथ 3-4 ग्राम सैंधव व 1-2 ग्राम बारीक पिसा हुआ सौंफ डालकर हल्का गर्म करके प्रयोग करना चाहिए।

यदि प्रमादवश (उष्ण, तीक्ष्ण, सवात, गुरु, अधिक वायु दाब, अधिक मात्रा में) तुरंत वापस आती है तो पहले से कम प्रमाण में तथा प्रमाद को दूर कर पुनः अनुवासन देनी चाहिए।

2. प्रधान कर्म (Pradhana Karma)

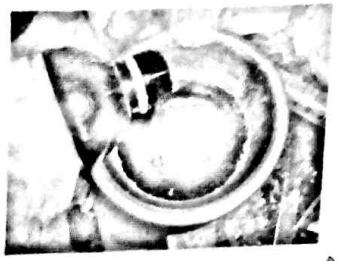

पात्र में तैल लेते हुए

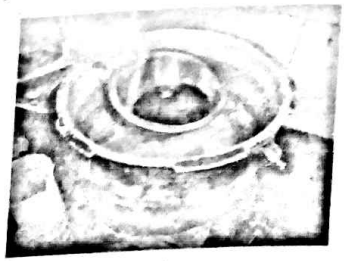

तैल को सीधा अग्नि पर गर्म न कर उष्ण जल द्वारा गर्म करना

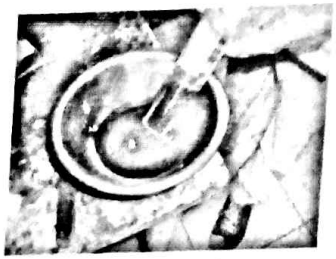

सिरिंज में तैल भरते हुए

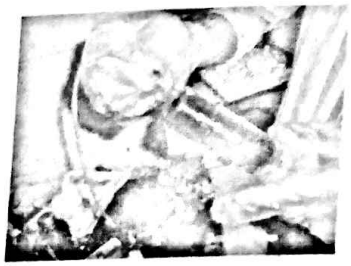

कैथेटर-सिरिञ्ज में लगाते हुए

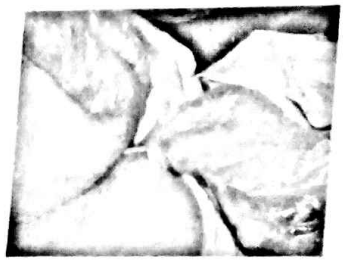

कैथेटर को गुद में प्रवेश करते हुए

अनुवासन बस्ति कैथेटर द्वारा देते हुए

आर्द्रपाणि अवस्था में रोगी को वामपार्श्व लिटाना चाहिए तथा उसका बांया पैर सीधा तथा दाहिना पैर वंक्षण तथा जानु संधि से मोडकर बाएँ पैर पर रखा होना चाहिए। रोगी को अपने हाथ का सिराहना लगाने को कहें। फिर बस्तिनेत्र तथा गुदा को स्निग्ध करके अनुपृष्ठवंश दिशा में बस्ति नेत्र प्रविष्ट करना चाहिए।

बस्ति देने के बाद सौ अंक गिनने तक रोगी को सीधा लिटा कर रखना चाहिए तथा पैर के तलवें, श्रोणि मण्डल पर मृदु अभ्यंग कर थपथपी लगानी चाहिए।

सम्यक् अनुवासन लक्षण–

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु।

ओष चोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः।। (सु. चि. 37/67)

वात और पुरीष के साथ बिना दाह के उचित काल में यदि स्नेह लौट आए तो इसे सम्यक् अनुवासन हुआ है ऐसा जानना चाहिए।

प्रधान कर्म के अन्य सभी कर्म निरुह बस्ति में वर्णित प्रधान कर्म समान ही है।

3. पश्चात् कर्म (Paschat Karma)

1. बस्ति प्रत्यागम 2. पथ्य आहार एवं विहार

1. बस्ति प्रत्यागम–

यस्येह यामानुवर्तते त्रीन् स्नेहो नरः स्यात् स विशुद्ध देहः।
आश्वागते अन्यस्तु पुनर्विधेयः स्नेहो न संस्नेहयति ह्यतिष्ठन्।। (च. सि. 1/46)

स्नेह बस्ति देने के बाद यदि 3 याम (9 घण्टे) तक भीतर रुकी रहे तो उसका कार्य समुचित हुआ ऐसा जानना चाहिए।

बस्ति को शीघ्र बाहर आने पर दूसरी अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

निवृत्ति कालः परमःस्त्रयो यामास्ततः परम्।
अहोरात्रमुपेक्षेत परतः फलवर्तिर्भिः।।
तीक्ष्णर्वा बस्तिभिः कुर्यात् यत्नं स्नेह निवृत्तये।। (अ. ह. सू. 19/32-33)

24 घण्टे तक स्नेह बस्ति के वापस आने की प्रतीक्षा करनी चाहिए यदि वह फिर भी वापस बाहर न आए और कोई कष्ट न हो तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कष्ट होने पर तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

2. पथ्य आहार एवं विहार– बस्ति के वापस आने के बाद एक भोजन काल उपवास कराकर दूसरे दिन मध्याह्न में हलका मनोनुकूल भोजन देना चाहिए।

वमन, विरेचन बस्ति पश्चात् गरम जल पीना हितकारक होता है।

पश्चात् कर्म के अन्य सभी कर्म निरुह बस्ति के पश्चात् कर्म समान ही है।

(3) स्नेहबस्ति के उपद्रव और उनका प्रतिकार–

स्नेहबस्ति देने में असावधानी के कारण छः प्रकार के उपद्रव होते हैं।

वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृत्तस्य च।
अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहबस्तेः षडापदः।। (च. सि. 4/25)

1. स्नेह का वात से आवृत होना।
2. स्नेह का पित्त से आवृत होना।
3. स्नेह का कफ से आवृत्त होना।
4. स्नेह का अन्न से आवृत होना।
5. स्नेह का मल से आवृत होना।
6. अभुक्तदत्त स्नेहबस्ति उपद्रव।

(1) वातावृत्त स्नेह– वातरोग में अल्प एवं शीत स्नेहबस्ति कुपित वात से आवृत्त हो जाती है और उसका प्रत्यागमन यथाकाल नहीं हो पाता हैं जिसके कारण मुख में कषायता, जृम्भा, वातज रुजा, कम्पन तथा विषमज्वर आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

चिकित्सा– सस्नेह, अम्ल-लवणयुक्त रास्नादि निरूहबस्ति देनी चाहिए या रास्नादि तैल, पंचमूल क्वाथ और गोमूत्र तथा अम्ल द्रव्य की बस्ति देनी चाहिए। निरूह से शोधन हो जाने पर सायंकाल भोजन के पश्चात् रास्नादि तैल की अनुवासनबस्ति देनी चाहिए।

(2) पित्तावृत स्नेह– पित्त प्रधानता में अत्युष्ण स्नेहबस्ति कुपित पित्त से आवृत्त हो जाती है, जिससे मुख में कटुरसता, दाह, तृषा, ज्वर, नेत्र-मूत्र-अंगों में पीलापन आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा– इसमें मधुर स्कन्ध तथा तिक्त स्कन्ध की औषधों से सिद्ध निरूहबस्ति देनी चाहिए।

(3) कफावृत्त स्नेह– कफदोष की प्रधानता में अति मृदु द्रव्यसंयुक्त बस्ति कुपित कफ से आवृत हो जाती है, जिससे तन्द्रा, शीतज्वर, आलस्य, अरुचि, मुख-माधुर्य आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा– कटु स्कन्ध एवं कषाय स्कन्ध के द्रव्यों के क्वाथ में उष्ण, तीक्ष्णक्षार, गोमूत्र एवं सुरा मिलाकर निरूह बस्ति देनी चाहिए।

(4) अन्नावृत स्नेह– अत्यधिक भोजन के बाद बस्ति देने पर वह अन्न से आवृत होने के कारण लौटती नहीं है, जिससे छर्दि, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्रा, अंगमर्द तथा आम के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा– त्रिकटु चूर्ण, सैन्धव लवण, हिंग्वष्टक चूर्ण या चित्रकादि वटी देनी चाहिए तथा त्रिवृत् चूर्ण या अविपत्तिकर चूर्ण देकर विरेचन करना चाहिए।

(5) पुरीषावृत स्नेह– बस्ति देने के पहले यदि मूत्र-पुरीष के वेगों से निवृत्त नहीं की गई हो तो स्नेह पुरीष से आवृत्त हो जाता है। इसके कारण मल-मूत्र-अधोवायु की रुकावट, पक्वाशय में भारीपन, आध्मान, हृद्ग्रह, श्वास और शूल होता हैं।

चिकित्सा– स्नेहन-स्वेदन करना चाहिए। गुदा में फलवर्ति का प्रयोग करना चाहिए। श्यामात्रिवृत बिल्वादि-सिद्ध निरूहबस्ति देकर पुनः अनुवासन देनी चाहिए दीपन-पाचन चूर्णो का प्रयोग करना चाहिए। (च. सि. 4/37)

(6) अभुक्त बस्तिदान– बिना भोजन कराये बस्ति देने से गुदा से पक्वाशय तक का मार्ग रिक्त होने से, दिया हुआ स्नेह वेगपूर्वक कण्ठ में आकर बाहर आ सकता है। इसमें अंगग्रह, अवसाद, मुख में स्नेहगन्ध, कास-श्वास और अरुचि- ये लक्षण उत्पन्न होते है।

चिकित्सा– श्यामात्रिवृत्त आदि बस्ति में यव, कोल, कुलत्थ मिलाकर निरूहबस्ति देनी चाहिए। गले को हाथ से मृदु सहलायें, विरेचन दें तथा छर्दिनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। (च. सि. 4/40)

मात्राबस्ति (Matra Basti)

परिचय (Introduction)

ह्रस्वायाः स्नेहमात्रायाः मात्राबस्ति समोभवेत्।। (च. सि. 4/53)

यह स्नेह बस्ति का ही एक प्रकार है इसमें स्नेह की ह्रस्व मात्रा दी जाती है। मात्राबस्ति का प्रमाण 1½ पल (72 ग्राम) बतलाया है। इसकी शेष सम्पूर्ण विधि अनुवासन बस्ति समान है।

विशेषता– यह सदा प्रयोग योग्य है। इसकी मात्रा कम होने से निराहार है इसके साथ निरूह बस्ति देने की आवश्यकता नहीं होती है।

रोगानुसार तेल या घृत में अल्प लवण मिलाकर मात्रा बस्ति देते हैं। भोजनोपरान्त ही मात्रा बस्ति देनी चाहिए।

मात्रा बस्ति के योग्य व्यक्ति–

कर्मण्यायाम भाराध्व यान स्त्री कर्षितेषु च।
दुर्बले वातभग्ने च मात्राबस्तिः सदा मतः।
यथेष्टाहार चेष्टस्य सर्वकालं निरत्ययः।। (च. सि. 4/52-53)

कार्य करने, व्यायाम करने, भार ढोने वाले या चलने से थके हुए, मद्यपान करने वाले, अतिमैथुन वाले, क्षीण, दुर्बल, वातरोग से पीडित व्यक्ति को मात्रा बस्ति देनी चाहिए।

इसके प्रयोग में कोई पथ्यपरिहार की पाबंदी नहीं है यह बस्ति बाल, वृद्ध, गर्भा, सूक्ष्मार्ग के लिए प्रशस्त है।

स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत्।। (च. सि. 4/54)

यह बृंहण करती है और वातरोगों का शमन करती है।

उत्तर बस्ति (Uttar Basti)

स्त्रियों में अपत्यपथ से गर्भाशय में और पुरुषों में मूत्रमार्ग से मूत्राशय में दी जाने वाली बस्ति को उत्तर बस्ति कहते हैं।

उत्तर बस्ति को उत्तर संज्ञा–

उत्तरबस्ति संज्ञा उत्तरमार्ग दीयमानतया किंवा श्रेष्ठ गुणतया उत्तरबस्तिः। (च. सि. 9/50 पर चक्रपाणी)

1. उत्तर मार्ग से दी जाने के कारण,
2. उत्तर अर्थात् श्रेष्ठ गुण सम्पत्त होने के कारण दी गई है।

उत्तर बस्ति नेत्र प्रमाण–

आचार्य चरक ने 12 अंगुल दीर्घ तथा उत्तर बस्ति नेत्र को पुष्प नेत्र की भी संज्ञा है।

डल्हण– तंत्रांतरेप्युक्तं "तत् सौवर्ण राजत वा श्लक्ष्णं गोपुच्छ वत्समम्।
अश्मध्न कुंद सुमनः पुष्प वृंताग्र मंडलम्।
सिद्धार्थक प्रवेशाग्रं मूले मध्ये सुकर्णिकाम्।
चतुर्दशांगुलं नेत्रं तत्र कार्य विजानता।"

आचार्य सुश्रुत ने इसका प्रमाण 14 अंगुल बताया है। यह नेत्र स्वर्ण या चांदी का बनाने के लिए आचार्यों ने निर्देश दिया है। यह कनेर पुष्प के मूल समान, गोपुच्छ के समान मूल में चौड़ा और अग्रभाग में सिकुड़ा होता है। इसका छिद्र का प्रमाण सरसो के दाने जितना प्रवेश योग्य होना चाहिए।

निविष्ट- कर्णिकं मध्ये नारीणां चतुरंगुले। मूत्रस्रोतः परिणाहं मुद्गवाही-

दशांगुलम्। मेढ्रायाम समं केचिदिच्छंति खलु तद्विदः

तसामपत्य मार्गे तु निदध्याच्च चतुरङ्गुलम्।

द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमंगुलम्।। (सु. चि. 37/103-105)

2 कर्णिकाएँ होती हैं एक मूलभाग में बस्ति को बांधने हेतु तथा दूसरी मध्य में होती है। नेत्र को मध्य कर्णिका तक (6-7 अंगुल) प्रवेश करवाया जाता है।

स्त्रियों के लिए नेत्र 10 अंगुल लम्बा तथा स्थूलता मूत्रवह छिद्रानुसार होनी चाहिए।

अपत्यय मार्ग में नेत्र का प्रवेश 4 अंगुल तक तथा मूत्रमार्ग में 2 अंगुल तक करना चाहिए।

बालिकाओं में नेत्र एक अंगुल तक ही प्रवेश करना चाहिए तथा उनके अपत्य मार्ग में उत्तरबस्ति नहीं देनी चाहिए। उत्तर बस्ति हेतु नेत्र रबर कैथेटर का प्रयोग सुगम एवं सुरक्षित होता है। वर्त्तमान में स्त्री हेतु 6 व 8 नं. तथा पुरुष हेतु 6, 7, 8 न. रबर कैथेटर का प्रयोग करते हैं। Rubin Test canula जो बन्ध्यत्व परीक्षा (फैलोपियन नली परीक्षण) हेतु तथा Utreine canula का प्रयोग अपत्य मार्ग हेतु प्रयोग में लेते हैं।

उत्तर बस्ति की मात्रा-

तेनाज बस्ति युग्मेन स्नेहस्यार्ध पलं नयेत्।। (च. सि. 9/52)

स्नेह प्रमाणं परमं प्रकुंचाश्चास्त्र कीर्तितः।

पंचविंशादधो मात्रां विदध्यात् बुद्धिं कल्पिताम्।। (सु. चि. 37/102)

स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुली मूल संमितम्।।

देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम्।। (सु. चि. 37/106)

गर्भाशय विशुद्ध्यर्थ स्नेहेन द्विगुणेन तु।।

क्वाथ प्रमाणं प्रसृतं स्त्रिया द्वि प्रसृतं भवेत्।

कन्येतरस्याः कन्यायाः तद्वत् बस्ति प्रमाणकम्।। (सु. चि. 37/116-117)

आचार्य सुश्रुतानुसार

	स्नेह बस्ति	निरुह बस्ति
पुरुष	1 प्रकुंच	1 प्रसृति (अपने हाथ से)
स्त्री	1 प्रसृत	2 प्रसृति (गर्भास्य शोधन हेतु)
(गर्भास्य शोधन हेतु)	2 प्रसृत	1 प्रसृति (कन्या हेतु)

12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं में एक प्रसृति की मूत्राशय बस्ति देनी चाहिए।

उत्तरबस्ति योग्य रोग (Indication of Uttar Basti)

आचार्य चरक मूत्रौकसाद आदि सभी मूत्र रोगे में उत्तर बस्ति का निर्देश दिया है।

त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषा,

बस्तिमुत्तर बस्ति च सर्वेषामेव दापयेत्।। (च. सि. 9/49)

शुक्रं दुष्ट शोणितं चांगनानां पुष्पोद्रेकं तस्य नाशंच कष्टं।

मूत्राघातान् मूत्र दोषान् प्रवृद्धान योनि व्याधि संस्थितिं चापराणां।।

शुक्रोत्सेकं शर्करामश्मरीच शूलं बस्तौ वंक्षणे मेहने च।

घोरान्यन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान् हित्वा रोगानुत्तरो हंति बस्ति।। (सु. चि. 37/125-126)

1. मूत्रौकसाद 2. मूत्रजठर 3. मूत्रकृच्छ्र 4. मूत्रातंग 5. मूत्रक्षय
6. बस्तिशूल 7. अष्ठीला 8. वातबस्ति 9. ऊष्णवात 10. वातकुण्डिलिका
11. ग्रंथि 12. शर्करा 13. बस्तिकुण्डल 14. क्लैब्य 15. शुक्रदोष
16. वंक्षणशूल 17. मूत्रातीत 18. विड्विघात 19. अश्मरी 20. मेहनशूल
21. ध्वजभङ्ग

(1 से 13 सभी बस्ति रोगों में)

गर्भाशयिक उत्तरबस्ति योग्य रोग-

1. योनिभ्रंश 2. योनिशूल 3. रजोवरोध 4. रजोदोष
5. योनिदोष 6. असृग्दर 7. बन्ध्यत्व 8. अकालरजःप्रवृत्ति
9. अपरा द्वारा गर्भ-निरोध 10. तीव्र योनि व्यापद्

तथा 20 प्रकार के योनि व्यापद्

विधि- इसे तीन भागों में विभक्त किया है-

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म (Poorva karma)-

उत्तरबस्ति दो प्रकार की होती है- (अ) निरुह (ब) अनुवासन

रोगी की परीक्षा करके कौनसी बस्ति उपयोगी है उसका निश्चय करते हैं।

स्त्रियों में ऋतुकाल में ही उत्तरबस्ति देनी चाहिए तथा रजोदर्शन के 4 दिन पश्चात् गर्भाशयगत बस्ति देनी चाहिए क्योंकि उस समय गर्भाशय मुख का विकास होने सुगमता पूर्वक बस्ति दी जा सकती है। (च. सि. 9/62-63)

आहार- रोगी को बस्ति देने से पहले यवागु, दूध व घी के साथ लिखना चाहिए या मांस रस युक्त भोजन देना चाहिए।

रोगी के नितम्ब, कटि, पार्श्व और वंक्षण प्रदेश का अभ्यंग कराकर स्वेदन करते हैं।

पूर्वकर्म के शेष सभी कर्म पूर्व में वर्णित बस्ति अनुसार है।

तापक्रमादि मापन (Vital recording) पूर्व बस्ति कर्म की भांति करनी चाहिए।

विशेष रूप से उत्तर बस्ति कक्ष एवं सभी आवश्यक उपकरण विसंक्रमित (Sterlized) होने चाहिए। जैसे सिरिञ्ज (50 ml) केथेटर, मूत्राशलाका और गर्भाशय शलाका आदि

2. प्रधान कर्म (Pradhana karma)– यह दो भागों में वर्णित है–

(अ) बस्तिदान (ब) निरीक्षण

(अ) बस्तिदान –

पुरुषों में :–

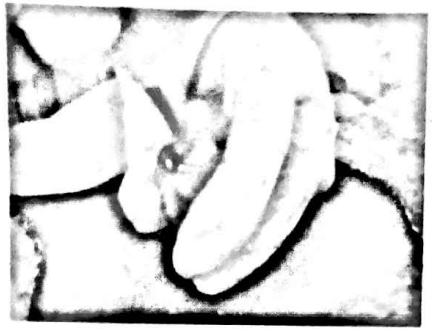

उत्तर बस्ति नेत्र लगाते हुए (पुरुष में)

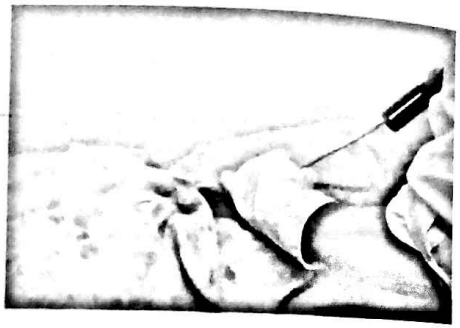

पुरुष में उत्तर बस्ति देते हुए

पुरुषों में अभ्यंग किए हुए व्यक्ति टेबल पर लिटा देते हैं। तत्पश्चात् उपस्थ को प्रहष्ट कर, स्निग्ध कर शलाका द्वारा बस्ति पर्यन्त मार्ग की परीक्षा करते है। तदन्तर बस्तिनेत्र को स्निग्ध कर सेवनी के समानान्तर धीरे–धीरे प्रविष्ट कराते हैं। इस कार्य के लिए रबर का कैथेटर का प्रयोग करना उत्तम है। फिर धीरे–धीरे औषध को भीतर प्रविष्ट करना चाहिये। औषध सुखोष्ण और निरापद होनी चाहिए। तत्पश्चात् नेत्र को सावधानी से धीरे–धीरे निकाल लेते हैं।

स्त्रीयों में – अभ्यंग करने के पश्चात् स्त्री को टेबल पर उत्तान लिटा कर जानु पर से पैर मोड दें और ऊरु को फैलाकर रखा जाता है। यदि मूत्राशय में बस्ति देनी हो तो शलाका द्वारा मार्ग की परीक्षा करते हैं, यदि गर्भाशय में देनी हो तो गर्भाशय का कैन्युला (Uterine canula) गर्भाशय में प्रविष्ट कराकर पीछे का भाग औषधयुक्त सिरिञ्ज से जोड देते है और औषध को धीरे–धीरे अंदर प्रविष्ट कराते हैं। फिर उसे सावधानी से बाहर निकाल लेते हैं।

नर्सिंग ट्रे

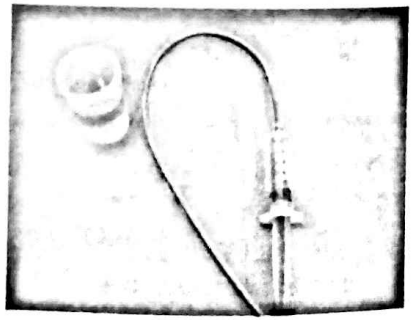

रबर कैथेटर एवं घृत सहित सिरिञ्ज

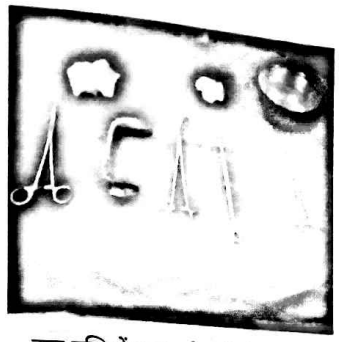

उत्तर बस्ति में काम आने वाले यंत्र/उपकरण

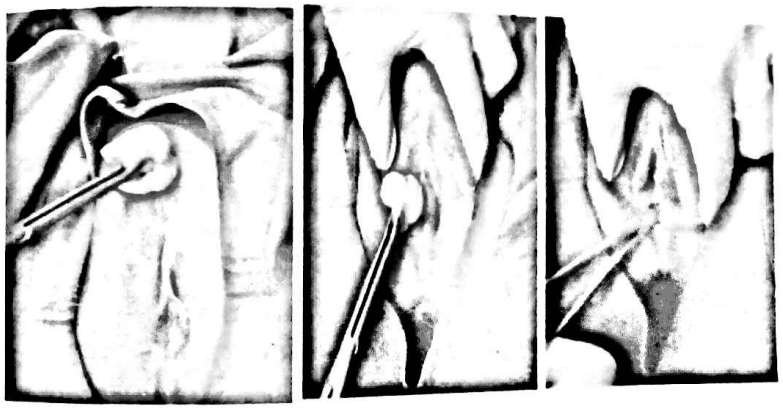

योनि मार्ग का प्रक्षालन करते हुए

सिम स्केपुलम डालते हुए

सर्विक्स के अग्र ओष्ठ को पकडते हुए

रबर कैथेटर डालते हुए

उत्तर बस्ति देते हुए

गोस प्लग लगाते हुए

निरीक्षण– यदि क्वाथ की उत्तर बस्ति दी गई हो तो वह जल्द ही वापस आती है परन्तु स्नेह बस्ति कुछ समय रह कर कार्य करती है।

अवधि:–

द्वित्रिचतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत्। बस्तौ, बस्तौ प्रणीते च वर्तिः पीनतरा भवेत्।।

त्रिरात्रं कर्म कुर्वीतु स्नेहमात्रां विवर्धयेत्। अनेनैव विधानेन कर्म कुर्यात् पुनस्त्र्यहात्।।

(च. सि. 9/68-69)

उत्तर बस्ति 3-3 दिन के अन्तर से 2 या 3 बार देनी चाहिए। स्त्रीयों में रजोदर्शन बंद होने के बाद 3-4 दिन प्रतिदिन बस्ति देनी चाहिए।

3. पश्चात् कर्म (Paschat karma)–

उत्तर बस्ति के वापस न आने पर 12-14 घण्टे प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि फिर भी न आए तो उसका प्रत्यावर्तन करना चाहिए। इस हेतु पिप्पल्यादि वर्ति, आरवग्धादि वर्ति, आगार धूमादि वर्ति आदि का प्रयोग करते हैं।

बस्ति देने के बाद वेदना होने पर, वेदना निवारक औषध का प्रयोग कर सकते हैं।

बृंहण बस्ति

परिचय– जिस बस्ति द्वारा शरीर में बृंहण कार्य किया जाता है वह बृंहण बस्ति कहलाती है।

बृंहण द्वारा शरीर का पोषण होता है, भार में वृद्धि होती है तथा मांस धातु की पुष्टि होती है। अर्थात् यह धातुओं को बढाकर शरीर का संवर्धन करती हैं।

बृंहण बस्ति के अयोग्य :– जिनमें शोधन की आवश्यकता हो, जो मेदस्वी हो, कुष्ठ व प्रमेह रोग से पीडित हो। (च. सि. 1/36)

बृंहण बस्ति निर्माण– क्षीरबस्ति एक बृंहण बस्ति है।

(1) क्षीर बस्ति निर्माण–

दूध – 2 प्रसृत	मधु – 1 प्रसृत
तैल – 1 प्रसृत	घृत – 1 प्रसृत

(2) विदारिगंधादि बृंहण बस्ति

विदारी गंधादि क्वाथ – 3 पल	कोकोल्यादि गण का कल्क – 3 पल
मधु – 4 पल	घृत – 6 पल
मांसरस – 3 पल	सैंधव – 1 तौला

इन सभी को आडोलित कर बस्ति देते हैं।

विधि– पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् कर्म आदि सभी सामान्य बस्ति विधि अनुसार करते हैं।

बृंहण बस्ति हेतु आतुर को पहले शोधन बस्ति देकर मल विसर्जन करने के पश्चात् बृंहण बस्ति दी जाती है। नवीन अनुसंधाकर्त्रों ने बृंहण बस्ति हेतु विशिष्ट विधि तथा अधिक काल तक धारण कराकर प्रयोग किया है उनके अनुसार बृंहण बस्ति इस तरह दें कि उपर्युक्त मात्रा कुल 1½ से 2 घण्टे तक शरीर में रूके तथा अपना कार्य कर सकें। इसे एनिमा पौट द्वारा ड्राप विधि (जैसे– ग्लूकोज बोतल धीरे-धीरे चढते है वैसे भी देते हैं।) से भी दे सकते है।

बृंहण बस्ति मधु, घी, दुग्ध, शतावरी, अश्वगंधा, विदारीकन्द, मांसरस आदि से सिद्ध क्षीर द्वारा दी जाती है।

बृंहण बस्ति परिणामशूल को दूर करती है भार में वृद्धि करती है। कभी-कभी यह बस्ति वापस नहीं आती अर्थात् शोषित हो जाती है।

माधु तैलिक बस्तिः–

माधु तैलिक बस्ति निरुह का ही एक विकल्प है तथा यापन बस्ति, सिद्ध बस्ति तथा युक्तरथ बस्ति इसके पर्याय है।

परिभाषा:– जिस बस्ति में मधु और तैल की प्रधानता होती है उसे माधु तैलिक बस्ति कहते हैं।

माधु तैलिक बस्ति

मधु	–	120 ml ✓
तैल	–	120 ml ✓
सैंधव लवण	–	12 g ✓
सौंफ	–	24 g ✓
एरण्ड मूल क्वाथ	–	480 ml ✓

निर्माण विधि:– उपरोक्त द्रव्यों को निरुह बस्ति निर्माण क्रम विधि द्वारा निर्माण करते हैं।

बस्ति देने की विधि :– निरुह बस्ति देने के समान ही माधुतैलिक बस्ति देते हैं।

उपयोग :– उपरोक्त माधु तैलिक बस्ति रसायन है, प्रमेह, गुल्म, अर्श एवं कृमी नाशक है।

बस्ति–व्यापत्तियाँ

1. नेत्रप्रणिधानजन्य– 6 व्यापत्तियाँ होती हैं- जैसे- (1) नेत्र चालित (हिलना), (2) नेत्रविवर्त्तित (मुड जाना), (3) नेत्रपार्श्वपीडित (पार्श्व दबना), (4) नेत्रात्युत्क्षित (ऊपर उठना), (5) नेत्रवसन्न (बीचे दबना) और (6) तिर्यक्क्षिप्तनेत्र (तिरछा प्रतिसृ)

2. नेत्रदोष– 11 प्रकार के होते हैं यथा- (1) अतिस्थूल, (2) कर्कश, (3) अवनत (नीचे को झुका होना), (4) अणु, (5) भिन्न, (6) सन्निकृष्ट कर्णिका युक्त, (7) विप्रकृष्ट कर्णिका युक्त, (8) सूक्ष्म, (9) अतिच्छिद्र, (10) अतिदीर्घ और (11) अतिह्रस्वः।

3. बस्तिदोष– 5 प्रकार के होते हैं यथा- (1) बहुलता, (2) अल्पता, (3) सच्छिद्रता, (4) प्रस्तीर्णता (स्नायु जाल युक्त होना) और (5) दुर्बद्धता (ठीक न बंधने वाला)।

4. बस्तिपीडन दोष– 4 प्रकार के होते हैं यथा- (1) अतिपीडनता, (2) शिथिलपीडनता, (3) भूयोभूयोवपीडनता (बार-बार पीडन) और (4) कालातिक्रम (पीडन काल का अतिक्रमण करना)।

5. द्रव्य दोष– 11 प्रकार के होते हैं जैसे- (1) आमता, (2) हीनता, (3) अतिमात्रता, (4) अतिशीतता, (5) अतिउष्णता, (6) अतितीक्ष्णता, (7) अतिमृदुता, (8) अतिस्निग्धता, (9) अतिरूक्षता, (10) अतिसान्द्रता तथा (11) अतिद्रवता।

शय्या दोष– 7 प्रकार के होते हैं जैसे- (1) अवाक्शीर्ष (शिर नीचे रखना), (2) उच्छीर्ष (सिर ऊँचा रखना), (3) न्युब्जशीर्ष (पेट के बल लेटना) (4) उत्तानशीर्ष (पीठ के बल लेटना), (5) संकुचित (शरीर सिकोड कर रखना), (6) देहस्थितता (बैठे रहना) तथा (7) दक्षिणपार्श्वशायी।

ये उपर्युक्त 44 व्यापत्तियाँ वैद्य की असावधानी से होती हैं। इनके अतिरिक्त रोगी के कारण भी 15 व्यापत्तियाँ होती हैं जो इस प्रकार है- (1) क्रोध, (2) आयास, (3) शोक, (4) मैथुन, (5) दिवास्वप्न, (6) उच्चसम्भाषण, (7) यानायान, (8) चिरासन (9) अतिचंक्रमण, (10) शीतोदकसेवन, (11) चिरस्थान, (12) वातातप सेवन, (13) विरुद्धाध्यशन, (14) असात्म्यभोजन और (15) अप्रमाण भोजन।

इसी प्रकार बस्तिप्रयुक्त स्नेह निम्नलिखित आठ दोषों से बाहर निकल आते हैं जैसे- (1) तीनों दोषों के विकारवश, (2) अशनाभिभूत होने से (भोजन द्वारा दबाये जाने पर) (3) मलव्यामिश्र होने से, (4) दूरानुप्रविष्ट होने से, (5) अस्विन्न होने से (6) अनुष्ण होने से, (7) अल्पभोजन से तथा (8) अल्पस्नेह से।

इनके अतिरिक्त वैद्य की असावधानी से 9 व्यापत्तियाँ और होती हैं जैसे- (1) अयोग, (2) आध्मान, (3) परिकर्त्तिका, (4) परिस्राव, (5) प्रवाहिका, (6) हृदयोपसरण, (7) अङ्गग्रह, (8) अतियोग और (9) जीवादान।

इस प्रकार कुल मिलाकर 76 व्यापत्तियाँ होती हैं जिनमें 44+9 =53 व्यापत्तियाँ वैद्य की असावधानी के कारण, 15 व्यापत्तियाँ रोगी की असावधानी से तथा 8 व्यापत्तियाँ आहार-विहार तथा दोषों के कारण होती हैं। अतः चिकित्सक प्रमादरहित हो बस्ति, बस्तिनेत्र, बस्तिद्रव्य, शय्या आदि की परीक्षा कर सावधानी पूर्वक बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

साथ ही प्रयोगकाल में बस्तिप्रणिधान बस्तिपीडन में भी सतर्क रहना चाहिए जिससे उक्त दोष होने की सम्भावना शेष नहीं रहे। जिस पुरुष को बस्ति देनी हो उसे भली भाँति समझा देना चाहिए और उक्त दोषों के लिये सावधान कर देना चाहिए। (सु. चि. 33-33)

बस्ति व्यापद् (Complications of Basti)

परिचारक अथवा चिकित्सक द्वारा नियमानुसार बस्ति देने में असावधानी करने से निम्न 12 प्रकार के उपद्रव होते हैं- (बस्तिदान प्रमाद से व्यापद्)

नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरुर्ध्वता।
प्रवाहिका शिरोगार्ति परिकर्तः परिस्रवः
द्वादंश व्यापदो बस्तेरसम्यग् योग संभवाः।। (च. सि. 7/5-6)

1. अयोग	2. अतियोग	3. क्लम	4. आध्मान	5. हिक्का
6. हृत्प्राप्ति	7. ऊर्ध्वप्राप्ति	8. प्रवाहिका	9. शिरोऽर्ति	10. अंगार्ति
11. परिकत्तिका	12. परिस्राव			

1. अयोग– इसमें मल, मूत्र-अधोवायु संग, नाभि, बस्ति में पीडा, दाह, हृदय के ऊपर कुछ लेप किया हो ऐसा प्रतीत होना, गुद में शोथ, कण्डु, विवर्णता, अरुचि, अग्नि की मन्दता- ये लक्षण होते हैं।

उपचार– स्वेदन, फलवर्ति, विरेचन करना चाहिए। दीपन, प्रमथ्या (पाचन क्वाथ) पिलाना चाहिए।

2. अतियोग– विरेचन के अतियोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपचार – अतिसार समान करनी चाहिए।

3. क्लम– विदाह, शरीर में भारीपन, अग्निमांद्य आदि लक्षण होते हैं।

उपचार – आमपाचन, विरुक्षण, स्वेदन करना चाहिए। दशमूल क्वाथ आधा लीटर में 100 ml गोमूत्र मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

4. आध्मान– वायु का मार्गावरोध होने से गुदा में वेदना, विदाह, वृषण-वंक्षण और हृदय में शूल होता है।

उपचार– फलवर्ति लगानी चाहिए। बिल्वादि बस्ति के पश्चात् देवदारु सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

5. हिक्का– अल्पबल रोगी, जिसका कोष्ठ मृदु हो उसे तीक्ष्ण बस्ति देने से, अधिक शोधन होकर हिक्का की उत्पत्ति होती है।

उपचार– हिक्का शामक औषध देनी चाहिए अनुवासन बस्ति, धूमपान देनी चाहिए।

6. हृत्प्राप्ति– वातल या अतितीक्ष्ण औषध सिद्ध बस्ति देने से हृदय प्रदेश में जकडन हो जाती है।

उपचार– अम्लस्कन्ध व लवणस्कन्ध से सिद्ध बस्ति देनी चाहिए। अथवा दशमूल तैल का अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

7. उर्ध्वप्राप्ति– बस्ति दान के पश्चात् मलमूत्र तथा अधोवायु के अवरोध के कारण बस्तिद्रव्य का प्रभाव ऊपर की ओर होकर मूर्च्छा आदि विकार होते हैं।

उपचार– मूर्च्छा होने पर तीक्ष्ण नस्य देना चाहिए। तथा शीतोपचार तथा वायु अनुलोमन हेतु औषध देनी चाहिए।

8. प्रवाहिका– इसमें गुदा में शोथ, जंघा और ऊरु में शिथिलता होती है अपान वायु का अवरोध होता है तथा प्रवाहिका के वेग को बार-बार निकालती है।

उपचार– अभ्यंग स्वेदन कराकर निरुहबस्ति देनी चाहिए या विरेचन औषध देनी चाहिए।

9. शिरोऽर्ति (शिरः शूल)– दुर्बल, क्रूर कोष्ठ एवं अधिक दोष वाले व्यक्ति को पतली, मृदु शीतल अथवा अल्प मात्रा में बस्ति देने से दोषों द्वारा आवृत्त होकर वह वायु को प्रतिलोम कर देती है ग्रीवा, मन्या में जकड़ाहट, कर्णनाद, कर्णबाधिर्य आदि की उत्पत्ति हो जाती है।

उपचार– लवणयुक्त तैल से अभ्यंग करना चाहिए। प्रधमन नस्य देना चाहिए। विरेचन या अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

10. अङ्गार्ति– अविधि बस्ति प्रयोग से अतियोग के लक्षण हो जाते हैं दोषों का अतिशय निकलना, उदावर्त, तोद, भेद, जम्भाई ये लक्षण होते हैं अंगों में जकडन और वेदना होती है।

उपचार – लवण तैल का अभ्यंग तथा स्वेदन करना चाहिए। बिल्वादि तैल में लवण मिलाकर निरुह देते है तत्पश्चात् अवगाहन स्वेदन पश्चात् बिल्वतैल से अनुवासन बस्ति देते हैं।

11. परिकर्तिका– मृदु कोष्ठ वाले अल्पदोष वाले व्यक्ति को रुक्ष, तीक्ष्ण तथा अतिमात्रा में बस्ति देने से दोष निकल जाने पर गुदा में काटने जैसी पीड़ा होती है जिसे परिकर्तिका कहा जाता है। इसमें त्रिक, बस्ति, वंक्षण और नाभि में शूल होता है।

उपचार– मधुर और शीत औषध का प्रयोग करना चाहिए। लवण, अम्लयुक्त अल्प भोजन दिया जाता है तथा गन्ने का रस एवं गरम दूध का पान कराते है। मधुयष्टि सिद्ध अनुवासन बस्ति दी जाती है।

12. परिस्राव– पित्तज रोग में ऊष्ण, तीक्ष्ण, लवण अम्लसंयुक्त बस्ति देने से गुदा में दाह होता है अनेक वर्णयुक्त पित्त और रक्त का स्राव होता है मूर्च्छा बार-बार होती है।

उपचार– गुदा पर जात्यादि तैल लगायें। शीत और मधुर द्रव्यों से सिद्ध जल का परिषेक करना चाहिए।

मधुर, शीत एवं रक्तपित्तघ्न समस्त चिकित्सा करनी चाहिए।

उपरोक्त 12 व्यापदों में अयोग व अतियोग में कारण 6-6 उपद्रव होते।

1. अयोग :- अयोग, क्लम, आध्मान, प्रवाहिका, शिरः शूल।

2. अतियोग जन्य :- अतियोग, हिक्का, हृत्प्राप्ति, अंगार्ति परिकर्तिका, परिस्त्राव।

बस्ति प्रणेताजन्य उपद्रव एवं उपचार

बस्ति देने में प्रमाद से निम्नलिखित उपद्रव होते हैं-

सवातातिद्रुतोत्क्षिप्त तिर्यगुलुप्त कंपिताः।
अति बाह्यग मंदातिवेग दोषाः प्रणेतृतः।। (च. सि. 5/8)

1. गुदा में वायुप्रवेश– असावधानी से बस्ति देने के कारण बस्ति-द्रव्य के साथ वायु भी गुदा में प्रविष्ट होकर शूल और सूई चुभाने जैसी पीड़ा उत्पन्न करता है।

चिकित्सा– गुदा का मृदु स्नेहन स्वेदन करना चाहिए।

2. बस्तिनेत्र का शीघ्र प्रवेश या निष्कासन– बस्तिनेत्र के शीघ्रता से प्रविष्ट करने या निष्कासन से गुदा, वंक्षण, जंघा, ऊरु और कटि में वेदना, मूत्राघात आदि उपद्रव होते हैं।

चिकित्सा– वातघ्न अन्नपान, उष्ण, स्निग्ध, मधुर आहार, अभ्यंग, स्वेदन एवं अनुवासन या पिच्छा बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

3. तिर्यक प्रवेश– बस्तिनेत्र के तिरछा प्रवेश करने से गुद की वलियों द्वारा उसका द्वार बन्द हो जाने से बस्ति भीतर प्रविष्ट नहीं होती है।

चिकित्सा– बस्ति नेत्र को बाहर निकालकर पुनः सीधा प्रविष्ट करना चाहिए।

4. सकम्प बस्ति प्रवेश– बस्तिनेत्र को गुदा में प्रविष्ट करते समय प्रणेता के हाथ में कम्पन होने से गुदा में शोथ और दाह होता है।

चिकित्सा– इसमें लोध्र, त्रिफला, मोचरस, धातकीपुष्प, खदिरत्वक् आदि से सिद्ध क्वाथ आदि की बस्ति देनी चाहिए तथा उनके ही क्वाथ से गुदा का परिषेक भी करना चाहिए।

5. अतिमात्र प्रवेश– बस्तिनेत्र को अधिक अंदर तक प्रविष्ट करने से गुदवलियों में व्रण होता है जिससे गुदा में वेदना, दाह और गुदभ्रंश हो सकता है।

चिकित्सा– इसमें पिच्छाबस्ति या क्षीरबस्ति देते हैं गुदा में व्रण रोपण औषध जैसे जात्यादि घृत या तैल का पिचु धारण करना चाहिए।

6. अतिबाह्य या अतिमंद बस्ति– बस्तिनेत्र अधिक बाहर रखने से बस्ति-द्रव्य शीघ्र लौट आता है और बहुत धीरे-धीरे बस्ति देने से वह पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाती है।

चिकित्सा– इसमें तुरन्त दूसरी बस्ति देनी चाहिए।

7. अतिवेग से बस्तिदान– बहुत वेग से बस्ति देने पर बस्तिद्रव्य आन्त्र में क्षोभ हो जाता है, जिससे आमाशय में भी क्षोभ होकर छर्दि की सम्भावना होती है।

चिकित्सा– इसमें गले पर मृदु अभ्यंग करना चाहिए विरेचन-औषध देते है, रुचिकर एवं पाचन औषध देनी चाहिए।

यापन बस्ति के उपद्रव– पंचकर्म चिकित्सा के समय आतुर को उच्चैर्भाष्यादि आठ महादोषकर अपथ्यों का त्याग करना चाहिये। यदि इन परिहार्यों का ठीक तरह से पालन न किया जाये तो अनेक व्यापद उत्पन्न होते हैं। मैथुन वह पंचकर्म चिकित्सा में ऐसा ही परिहार्य महादोषकर विषय है। यदि परिहार काल में मैथुन किया जाए तो बलनाशादि विकार उत्पन्न होते हैं। इन विकारों की चिकित्सा यापन बस्ति से की जाती है। यापन बस्ति अधिक देने से भी उपद्रव उत्पन्न होते हैं। यापून बस्ति में भी व्यायाम, मैथुन, मद्य, मधु, शीत जल, शीत भोजन, रथक्षोभ इनका त्याग करना चाहिये। (च. सि. 12/23) यापन बस्ति के उपद्रव निम्नोक्त हैं।

1. शोथ 2. अग्निनाश 3. पाण्डु 4. शूल
5. अर्श 6. परिकर्तिका 7. ज्वर 8. अतिसार (च. सि. 12/30)

चिकित्सा– 1. दीपन पाचन औषधि का सेवन करावे। 2. अरिष्ट योग, क्षीरपान सीधु का सेवन करावे।

यापन बस्ति का उचित काल में प्रत्यावर्तन न होना यह भी एक व्यापद है। यदि बहुत मृदु औषधि से सिद्ध यापन बस्ति दी जाये तो वह शीघ्र ही वापिस नहीं आती। बस्ति को प्रत्यावर्तित कराने हेतु गोमूत्र, क्षार, तीक्ष्णौषधि संयुक्त तीक्ष्ण निरुह देना चाहिये। (च. सि. 12/31)

बस्ति की कार्मुकता–

सम्यक् प्रकार से दी हुई वस्ति पक्वाशय, श्रोणि तथा नाभि के अधोभाग में स्थित रहती है, और बस्ति द्रव्यों का वीर्य स्रोतसों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में प्रसृत होता है और वीर्य से शमनादि कर्म करती है।

इस प्रकार बस्ति कही शमन, कही पर दोष हरण का कार्य करती है।

जो बस्ति निकल जाती है उसका कार्य कैसे होता है उसका विवेचन डल्हण ने निम्न प्रकार से किया है-

वह बस्ति तो केवल द्रव्यतः या मलादि के साथ अपानादि वायु के कार्य से वापिस निकल जाती है लेकिन वीर्य द्वारा पाँव से लेकर सिर तक के सभी दोषों को खींच कर उनका भी शोधन करती है। जिस प्रकार सूर्य आकाश में करोड़ों कोश दूर है लेकिन अपने प्रभाव से पृथ्वी (वनस्पति के) रसों का अपकर्षण करता है- उसी प्रकार पक्वाशय में बस्ति रहकर-पृष्ठ, कटि, कोष्ठ इन सभी स्थानों के संचित दोषों को वीर्य द्वारा आलोडन कर शरीर के बाहर निकाल देती है।

दोषों के प्रकोप में वायु ही प्रधान हैं और वायु ही कफ-पित्त के प्रकोप-प्रशम में भी प्रभुत्व रखता है। उस वायु के वेग को सहन करने के लिये बस्ति के अतिरिक्त अन्य दूसरी कोई चिकित्सा सक्षम नहीं है। जिस तरह वायु के द्वारा समुद्र में आया हुआ तूफान केवल बेला (समुद्र को लहरें) ही सहन कर सकती हैं- उसी तरह बस्ति ही वायु प्रकोप को सहन कर उसकी चिकित्सा करती है।

शरीरोपचयं वर्ण बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिंच बस्तिः सम्यगुपासितः।। (सु. चि. 35/31)

इस तरह सम्यक् प्रकार से दी हुई बस्ति शरीर का उपचय करती हैं, बल बढ़ाती है, वर्ण को उज्ज्वल करती है, और आयुष्य को बढ़ाती है।

पंचकर्म में बस्ति का विशिष्ट स्थान है। इसका कार्य केवल पक्वाशय में और केवल मल शोधन तक ही सीमित नहीं है, अपितु सार्वदैहिक कार्य है। वात का शरीर के प्राकृत कार्यों में तथा विकृति निर्माण में बहुत महत्त्व है। वात का नियमन समझाते हुए चरक कहते हैं कि - आस्थापन और अनुवासन वात के लिए प्रधानतम उपक्रम है। सर्वप्रथम यह पक्वाशय में प्रवेश कर वहाँ के सम्पूर्ण विकृत वात का मूलतः छेदन करता है और पक्वाशय में वात को जीत लेने पर सभी वातविकार प्रशमित होते हैं। जिस प्रकार- वनस्पति के मूल का छेदन करने पर स्कन्ध, शाखा, प्ररोह, पुष्प और फल स्वयं नष्ट हो जाते है उसी तरह पक्वाशय वात का मूल होने से वहाँ पर छेदन करने से अर्थात् शोधन करने से सभी वात विकार नष्ट हो जाते हैं।

अनुवासन की कार्मुकता बताते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि जिस तरह वृक्ष के मूल में जल सिंचन करने से उसका पोषण होकर वह हरा भरा हो जाता है, कोमल पत्र आ जाते है और यथाकाल फूल और फल लगते हैं, उसी तरह अनुवासन से मूल स्थान में (गुद में) सिंचन द्वारा सभी सिराओं का तर्पण होकर आतुर का पोषण होता है, और शुक्रादि धातु वृद्धि से अपत्य लाभादि कार्य भी सम्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त का सारांश यह है कि बस्ति द्रव्यों का अंशतः पक्वाशय के आगे तक विक्षेपण होता है, और बस्ति के वीर्य अग्नि के द्वारा शोषित होते है और रसरक्त के साथ परिभ्रमण कर यथा स्थान शमन, बृंहण एवं दोषहरणादि कार्य करते हैं।

Action of Basti Dravya

(1) Saindhava (Salt)- Saindhava lavana is considered best all the lavana described in Ayurveda because of its-

- **Sukshma Guna-** It reaches up to the microchannels of the body
- **Tikshna Guna-** It breaks down the morbid mala and dosha sanghata. By liquifies the dosha, saindhava play an important role to initiate the absorption of Basti.

(2) Madhu (Honey)- Main role of madhu is to increase the retention time of Basti by counteract the irritative property of saindhava. The retention time of irritative substance in rectum may be favoured by making solution as nearly isotonic as possible by using colloidal fluid.

(3) Sneha (Oil)- Sneha dravya soften body microchannels (Srotas), destroy the compact mala and removes the obstruction in the channels. By using sneha the fat soluble portion of the drug easly absorbed from the colon. Lipids and lipid soluble substance can easily enter the cell because of call wall is made of lipids wo by the sneha properties basti dravya can reach at cellular level and also protects the mucous membrane from the untoward effect of irritating drugs in the Basti dravya.

(4) Kalka (Powder)- It gives required thickness to the Basti, fresh drug and drug containing volatile property (to enhance potency) can be utilized in the form of kalka.

(5) Kwatha (Decoction)- It is use to get water soluble part of kwatha dravya. Instead of kwatha, ksheera, gomutra, amalkanji, mamsarasa etc. are also used or for the preparation of kwatha it self.

Kalka & kwatha serve the function of utkleshana or doshaharana or shamana depending upon their contents and selected accordingly.

(6) Avapa Dravya- They are used some time in order to make the Basti either tikshana or mridu and to affect the particular dosha. Avapa dravya is also used for elimination of particular Dosha.

Absorption of Basti

First sodium ion in saindhava actively absorb from colon. High concentration of sodium ion facilitates sugar influx. Increase sodium ion in mucosal membrane generate osmotic gradient.

Water follows this osmotic gradients thus passive absorption of water take place. Free fatty acid is easily absorbed by passive diffusion in the colon.

The absorption of drug through the rectum is taken away in the superior, middle or inferior haemorrhoidal veins and then into portal vein, inferior vena cava and systemic circulation. When this drugs are absorbed through villi of large intestine, it is carried away in right, left of middle coelic vein to the portal circulation and to inferior vena cava.

The drug giving through anal route, resulting avoid of drug's metabolism which occurs in stomach or upper gastrointestinal tract. this is the way to enhance drug's effect.

The concept of Enteric nervous system (ENS)

Enteric Nervous system is immensely complex and having 108 million neurons (more than that in the spinal cord). The system is responsible for all the fairly complex behaviour of the bowel, propulsive peristaltic movement and various movements that result in mixing. The ENS also regulates the intestinal blood supply and mucosal epithelial water and electrolyte transport. There is also probably complex interplay between the ENS and the immune system.

Structure, function and development of Enteric nervous system (ENS)

The autonomic nervous system consists of three unequally sized divisions: sympathetic, parasympathetic and enteric nervous system. ENS is defined as the system of neurons and their supporting cells that is present in the wall of the gastrointestinal tract. ENS is a very extensive division of the ANS, being spread over the entire or-anal extent of gastrointestinal tract. ENS has a number of different functional types of neurons and their connectivity is very complex. Different types of enteric neurons utilize different types of neurotransmitters and innervate different types of target cells in the gut. Most of the substances that act as neurotransmitters in the central nervous system are also found in the ENS. The ENS mediates motility of reflexes and plays a major role in controlling water and electrolyte balance by the mucous epithelium and also regulates intestinal blood supply. Despite its interactions with other parts of the ANS, it can be regarded as a neural body of its own.

Probable mode of action of Basti

Based on the physiological and pharmacological actions the effects of Basti may be explained in three aspects.

1. Local effects 2. Systemic effects 3. Effects through the neuronal pathways

1. Local effects

The Basti dravya introduced into the rectum may act by stimulating peristalsis either because of their large volume or they cause osmotic retention of water in the bowel. Therefore Basti expels toxins from the body and cleanses colon. The colon is richly endowed with elements of mucosal immune system. So immune system can be stimulated by cleansing the colon.

2. Systemic effects

The colonic mucosa transports ions, small molecules and water back and forth between the lumen and plasma. Colon maintains fluid and electrolyte balance. The colon differs from the small intestine in the 'tightness' and ion selectivity of the mucosa. The tightness allows transport of ions against large concentration gradient and the development of higher electrical

potential between the lumen and plasma. Because of these features almost all the sodium can be removed from the colonic contents.

3. Effects through neuronal pathways

The ENS modulates a variety of local reflexes by integrating signals generated by:

1) The chemical nature of luminal contents

2) The mechanical effects of colonic distension, mucosal immune function, circulating hormones and extrinsic nerves.

The myenteric plexus exerts control primarily over digestive tract mobility. The principal role of submucosal plexus is sensing the environment within the lumen, regulating gastro-intestinal blood flow and controlling epithelial cell functions.

Basti administered Per Rectum
(500-1000 ml)
↓
Irritation of Gut mucosa, excessive distension of Gut
↓
Parasympathetic system stimulates
↓
Secretion of a neurotransmitter Acetyle choline by enteric neurons
↓
Excites Gastro-intestinal activity
↓
Secretion of peptide hormones - Cholecystokinin
- Vasoactive intestinal peptide
- Gastrin

Secretion of two kinins - Kallidin
- Bradykinin

Enhanced absorption of
Fatty substance (Sneha) in Basti Drava
↓
Jejunum mucosa secretes cholecystokinin
↓
Contractility of Gall Bladder ↑↑
↓
Expels bile into small intestine.
↓
This bile emulsify fatty substances and helps in its absorption

As rectum has a rich blood supply, the Basti drugs probably cross the rectal mucosa like other lipid membranes.

The portion absorbed from the upper rectal mucosa is carried by the superior haemorrhoidal vein into the portal circulation,

Where as that absorbed from the lower rectum enters directly into the systemic circulation via the middle and inferior haemorrhoidal vein.

विशिष्ठ बस्तियाँ एवं उनका संगठन

1. पिच्छा बस्ति (च. चि. 14/225-228)

सामग्री :-

1. घृत

2. मधु

3. चीनी

4. क्वाथ द्रव्य :- यवास मूल, कुश मूल, काश मूल -
प्रत्येक 2 पल
शाल्मली पुष्प वट, न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ-शुङ्ग

5. गोदुग्ध - 1 प्रस्थ

6. जल- 3 प्रस्थ

7. कल्क द्रव्य :- मोचरस, मंजिष्ठा, लालचन्दन, नीलकमल, इन्द्रयव, प्रियंगु, पद्मकेशर

निर्माण विधि:-

क्वाथ द्रव्यों को उपरोक्त प्रमाण में लेकर 3 प्रस्थ जल और 1 प्रस्थ गोदुग्ध में मिलाकर पाक करते हैं और जब दुग्ध मात्र शेष रह जाये तो छान कर अलग कर लेते हैं।

मधु, घृत, चीनी और कल्क द्रव्य मिलाकर इसमें उपरोक्त क्वाथ अच्छी तरह मिला देते हैं। मधु, घृत और चीनी इतनी मात्रा में लेनी चाहिये जिससे कि क्वाथ न ज्यादा गाढ़ा, न ज्यादा पतला हो।

उपयोग :- प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव, ज्वर में।

2. क्षीर बस्ति (Ref. Dr. P. Yadiah p. no. 88)

सामग्री-

1. दुग्ध - 250 ml
2. शतावरी चूर्ण- 20 g
3. ब्राह्मी चूर्ण- 10 g
4. पिप्पली चूर्ण- 5 g
5. घृत - 15.25 g

निर्माण विधि:-

250 ml दुग्ध को समभाग जल के साथ मिलाकर इसमें शतावरी, ब्राह्मी और पिप्पली चूर्ण यथोक्त प्रमाण में लेकर पाक करते है और क्षीर शेष रहने पर इसे छान लेते हैं तथा इसमें घृत मिला देते है।

उपयोग- सभी पित्तज विकारों में, निर्जलीकरण की स्थिति में, अम्लपित्त, अनिद्रा, अरति आदि विकारों में।

3. यापना बस्ति

मुस्तादि यापना बस्ति (च. सि. 12/15(1))

सामग्री :-

1. क्वाथ द्रव्य :- मुस्ता, उशीर, बला, आरग्वध, रास्ना, मंजिष्ठा, कटुरोहिणी, त्रायमाणा, पुनर्नवा, बिभीतक, गुडूची। लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कंटकारी, गोक्षुर) प्रत्येक द्रव्य 1-1 पल
मदनफल-8

2. कल्क द्रव्य:- शतपुष्पा, मधुक, इन्द्रयव, रसाञ्जन, प्रियङ्गु

3. जल- 1 आढ़क

4. गोदुग्ध- 2 प्रस्थ

5. मांसरस- दुग्ध का चतुर्थांश

6. मधु

7. घृत मांसरस के बराबर

निर्माण विधि:-

क्वाथ द्रव्यों को 1 आढ़क (2.5 Liter लगभग) जल लेकर क्वाथ बनाते हैं। जब चतुर्थांश रह जाये तो छानकर इस क्वाथ में 2 प्रस्थ (1.25 Liter लगभग) गोदुग्ध मिलाकर पुनः पाक करते है, जब दुग्धमात्रा शेष रह जाय तो दुग्ध के चतुर्थांश प्रमाण में मांसरस और इसी प्रमाण (मांस रस समान) में मधु, घृत मिला देते है। इसके बाद इसमें कल्क द्रव्य मिलाकर मथनी से मथकर बस्ति तैयार कर लेते हैं।

उपयोग :-

* शुक्र, मांस, बल जनन
* क्षतक्षीण, कास, गुल्म, उदरशूल, विषम ज्वर, ब्रघ्नरोग,
* बस्ति कुण्डल/वातकुण्डल, उदावर्त, कुक्षिशूल, मूत्रकृच्छ्र
* रक्तविकार, रजोविकार, विसर्प, प्रवाहिका
* शिरःशूल, जानूशूल, उरुशूल, जंघाशूल, वस्तिग्रह
* अश्मरी, उन्माद, अर्श, प्रमेह, आध्मान, वातरक्त में
* पित्त एवं कफ से उत्पन्न होने वाले रोगों में
* इसके सेवन से शीघ्र ही बल और रसायन गुण की प्राप्ति होती है।

4. माधुतैलिक बस्ति (वङ्गसेन, बस्ति 171-175)

सामग्री:-

1. मधु – 4 पल **2. तैल** – 4 पल

3. एरण्ड क्वाथ– 8 पल **4. सौंफ कल्क**– 2 तोला

5. सैन्धव लवण–1 तोला **6. मदनफल**– 1 पल

7. मांसरस, दुग्ध, काञ्जी, गोमूत्र, घृत–प्रत्येक–1 पल

उपयोग :-

* अग्निवर्धक, विबन्धनाशक एवं पाचक है।
* कृमिनाशक, प्लीहा वृद्धि, गुल्म, उदावर्त में।
* इसके साथ पथ्यापथ्य की विधि का निषेध नहीं है।

5. एरण्ड मूलादि निरुह बस्ति (च. सि. 3/38-42)

सामग्री :-

क्वाथद्रव्य

1. एरण्ड मूल – 3 पल

2. पलाश– 1 पल

3. लघु पञ्चमूल, रास्ना, अश्वगंधा, अतिबला

गुडूची, पुनर्नवा, आरग्वध, देवदारु सभी– 1-1 पल

4. मदनफल– 8

5. जल– 1 आढ़क

6. कल्क द्रव्य – शताह्वा, हपुषा, प्रियंगु, पिप्पली, मधुक, बला, रसाञ्ज, वत्सक बीज, मुस्त- प्रत्येक 1-1 कर्ष

7. मधु

8. तैल

9. सैन्धव लवण

10. गौमूत्र

उपयोग :-

* दीपन और लेखन करती है।
* जंघा, उरु, पाद, त्रिक, पृष्ठ के शूल को दूर करती है।
* कफावृतवात नाशक है।

* सशूल मल, मूत्र, वात की रुकावट को दूर करती है।
* आध्मान, अश्मरी, शर्करा, आनाह, अर्श, ग्रहणी में।

6. पञ्चप्रासृतिक बस्ति (च. सि. 8/13-14)

सामग्री:-

1. गोक्षुर क्वाथ– 1 प्रसृत **2. पाषाणभेद क्वाथ**– 1 प्रसृत

3. एरण्डमूल क्वाथ– 1 प्रसृत **4. तैल** – 1 प्रसृत

5. सुरा/आसव – 1 प्रसृत **6. कल्क द्रव्य** :- मुलेठी, रेणुका, पिप्पली, सिता

उपयोग:-

आनाह और मूत्रकृच्छ्र में

7. क्षार बस्ति (चक्रदत्त- निरुहाधिकार/29-31)

सामग्री:-

1. सैन्धव लवण – 1 तोला **2. सौंफ** – 1 तोला

3. गोमूत्र – 8 पल **4. इमली** – 2 पल

5. गुड – 2 पल

उपयोग:-

शूल, विबन्ध, आनाह, दारुण मूत्रकृच्छ्र, कृमि, उदावर्त और वातादि रोगों को शीघ्र ही नष्ट करती है।

8. वैतरण बस्ति (चक्रदत्त- निरूहाधिकार/32)

सामग्री :-

1. इमली– 4 तोला **2. सैन्धव लवण** – 1तोला

3. गोमूत्र – 32 तोला **4. तिल तैल**– 1 पल

* वैतरण बस्ति तथा क्षार बस्ति का प्रयोग भोजन के पश्चात् करना चाहिए।

उपयोग:-

* शूल, आनाह, आमवात रोग में।
* कटि, उरु, पृष्ठशोथ, जीर्णउरुस्तम्भ रोग, गृध्रसी, जानुसंकोच, विषमज्वर तथा नपुंसकता में।

9. कृमिघ्न बस्ति

सामग्री:-

1. क्वाथ द्रव्य – वायविडङ्ग, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, शिग्रु, मदनफल, मुस्ता, मूषाकर्णी- समभाग

2. कल्क द्रव्य – वायविडङ्ग, पिप्पली- 1 प्रसृत

4. **माधुतैलिक बस्ति** (वङ्गसेन, बस्ति 171-175)

सामग्री:-

1. मधु – 4 पल **2. तैल** – 4 पल

3. एरण्ड क्वाथ– 8 पल **4. सौंफ कल्क**– 2 तोला

5. सैन्धव लवण–1 तोला **6. मदनफल**– 1 पल

7. मांसरस, दुग्ध, काञ्जी, गोमूत्र, घृत–प्रत्येक–1 पल

उपयोग :-

* अग्निवर्धक, विबन्धनाशक एवं पाचक है।
* कृमिनाशक, प्लीहा वृद्धि, गुल्म, उदावर्त में।
* इसके साथ पथ्यापथ्य की विधि का निषेध नहीं है।

5. **एरण्ड मूलादि निरुह बस्ति** (च. सि. 3/38-42)

सामग्री :-

क्वाथद्रव्य

1. एरण्ड मूल – 3 पल

2. पलाश– 1 पल

3. लघु पञ्चमूल, रास्ना, अश्वगंधा, अतिबला

गुडूची, पुनर्नवा, आरग्वध, देवदारु सभी– 1-1 पल

4. मदनफल– 8

5. जल– 1 आढ़क

6. कल्क द्रव्य – शताह्वा, हपुषा, प्रियंगु, पिप्पली, मधुक, बला, रसाञ्ज, वत्सक बीज, मुस्त- प्रत्येक 1-1 कर्ष

7. मधु

8. तैल

9. सैन्धव लवण

10. गौमूत्र

उपयोग :-

* दीपन और लेखन करती है।
* जंघा, उरु, पाद, त्रिक, पृष्ठ के शूल को दूर करती है।
* कफावृतवात नाशक है।

* सशूल मल, मूत्र, वात की रुकावट को दूर करती है।
* आध्मान, अश्मरी, शर्करा, आनाह, अर्श, ग्रहणी में।

6. **पञ्चप्रासृतिक बस्ति** (च. सि. 8/13-14)

सामग्री:-

1. गोक्षुर क्वाथ– 1 प्रसृत **2. पाषाणभेद क्वाथ**– 1 प्रसृत

3. एरण्डमूल क्वाथ– 1 प्रसृत **4. तैल** – 1 प्रसृत

5. सुरा/आसव – 1 प्रसृत **6. कल्क द्रव्य :-** मुलेठी, रेणुका, पिप्पली, सिता

उपयोग:-

आनाह और मूत्रकृच्छ्र में

7. **क्षार बस्ति** (चक्रदत्त- निरुहाधिकार/29-31)

सामग्री:-

1. सैन्धव लवण – 1 तोला **2. सौंफ** – 1 तोला

3. गोमूत्र – 8 पल **4. इमली** – 2 पल

5. गुड – 2 पल

उपयोग:-

शूल, विबन्ध, आनाह, दारुण मूत्रकृच्छ्र, कृमि, उदावर्त और वातादि रोगों को शीघ्र ही नष्ट करती है।

8. **वैतरण बस्ति** (चक्रदत्त- निरूहाधिकार/32)

सामग्री :-

1. इमली– 4 तोला **2. सैन्धव लवण** – 1तोला

3. गोमूत्र – 32 तोला **4. तिल तैल**– 1 पल

* वैतरण बस्ति तथा क्षार बस्ति का प्रयोग भोजन के पश्चात् करना चाहिए।

उपयोग:-

* शूल, आनाह, आमवात रोग में।
* कटि, उरु, पृष्ठशोथ, जीर्णउरुस्तम्भ रोग, गृध्रसी, जानुसंकोच, विषमज्वर तथा नपुंसकता में।

9. **कृमिघ्न बस्ति**

सामग्री:-

1. क्वाथ द्रव्य – वायविडङ्ग, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, शिग्रु, मदनफल, मुस्ता, मूषाकर्णी- समभाग

2. कल्क द्रव्य – वायविडङ्ग, पिप्पली- 1 प्रसृत

3. तैल – 5 प्रसृत

उपयोग – क्रिमी नाशन हेतु

10. लेखन बस्ति (Dr. P. Yadiah page No. 83)

सामग्री:–

	औषध	प्रवर	मध्यम	मात्रा अवर
1.	त्रिफला क्वाथ ✓	200ml	150ml	100ml
2.	मधु ✓	200ml	150ml	100ml
3.	गोमूत्र	200ml	150ml	100ml
4.	यवक्षार	5g	5g	3g
5.	शिलाजतु	3g	3g	2g
6.	हिंगु	3g	3g	2g
7.	कासीस	6g	6g	4g
8.	तुत्थ	3g	3g	2g
9.	सैन्धव	3g	3g	2g

उपयोग:–

* स्थौल्य में
* सभी प्रकार की मेदोवृद्धि में।

11. बृंहण बस्ति (सु. चि. 38/83)

सामग्री:–

1. क्वाथ द्रव्य– विदारीगंधादि बृंहण द्रव्यों का क्वाथ

(विदारीगन्धा, विदारी, विश्वदेवा, सहदेवा, गोक्षुर, पृथक्पर्णी, शतावरी, अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, बृहती, कण्टकारी, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपादी, वृश्चिका, ऋषभी)

2. कल्क द्रव्य – मधुरगण (काकोल्यादि गण)

(काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषापर्णी, मेदा, महामेदा, गिलोय, कर्कटशृंगी, वंशलोचन, पद्मकाष्ठ, प्रपौण्डरीक, ऋद्धि, वृद्धि, द्राक्षा, जीवंती, मुलेठी)

3. मांसरस

4. घृत

उपयोग:– बृंहणार्थ

12. सर्वरोगहर निरुह बस्ति

सामग्री :–

पुनर्नवादि निरुह बस्ति (च. सि. 3/65-68)

1. क्वाथ द्रव्य :–

* पुनर्नवा, एरण्ड, वासा, पाषाणभेद, वृश्चीर, मूतीक, बला, पलाश, दोनों पंचमूल (बृहत् पंचमूल+लघु पंचमूल)- प्रत्येक 1-1 पल
* मदनफल-8
* बिल्व, यव, कोल, कुलत्थ, धनियाँ, मदनफल प्रत्येक- 1-1 प्रसृत

2. जल– 1 आढ़क

3. दुग्ध– 1 आढ़क

4. कल्क द्रव्य– वचा, सौंफ, देवदारु, कूठ, मुलेठी, सर्षप, पिप्पली

5. गुड

6. सैन्धव लवण

7. मधु, घृत, तैल– 1-1 प्रसृत

उपयोग:–

* त्रिदोषजन्य रोग
* द्वन्द्वज रोग

13. वातघ्न बस्ति (भे. सि. अ. 7/5-9)

सामग्री:–

1. क्वाथ द्रव्य – दशमूल, पंचकोल के प्रत्येक द्रव्य, जटामांसी, शुष्कमूली प्रत्येक 2-2 पल

2. जल– एक द्रोण

3. कल्क द्रव्य – जलवेतस, कट्फल, पिप्पली, सैन्धवलवण, वचा, त्रपुस, एर्वारुबीज, शतपुष्पा, यवानी, कुष्ठ, तगर, मुलेठी

4. दुग्ध

5. गोमूत्र

6. तैल

उपयोग:– वातरोग नाशक

14. पित्तघ्न बस्ति (भे. सि. अ. 7/10-13)

सामग्री:–

1. क्वाथ द्रव्य – पटोल पत्र और मूल, निम्ब, शतावरी, त्रायमाण, बला, रास्ना, बृहती, कण्टकारी, गिलोय, त्रिफला, काली निशोथ, अनन्तमूल, वंश का छिलका- प्रत्येक 2 पल

2. जल– एक द्रोण

3. कल्क द्रव्य – यष्टीमधु, वंशक फल, सौंफ, दुरालभा, माषपर्णी, शालपर्णी

4. दुग्ध

5. घृत

6. मधु

उपयोग:– पित्त रोग नाशक

15. कफघ्न बस्ति (च. सि. 3/56-57)

सामग्री :–

1. क्वाथ द्रव्य – कोषातकी फल, अमलताश, देवदारु, गुञ्जा, मूर्वा, इन्द्रयव, मदार मूलत्वक्, पाठा, कुलत्थी, बृहती–प्रत्येक 2–2 पल

2. कल्क द्रव्य– सर्षप, एला, मदनफल, कूठ– प्रत्येक– 1–1 कर्ष

3. मदनफल में विधिपूर्वक सिद्ध किया हुआ तैल– 2 पल

4. मधु – 1 प्रसृत

5. यवक्षार व सरसों का तैल– 1–1 प्रसृत

उपयोग:– कफ रोगों में, मंदाग्नि, अरुचि।

✕ ✕ ✕

अध्याय–7

नस्य कर्म
(Nasya Karma)

सामान्य परिचय एवं शब्द निष्पत्ति (Introduction & Etymology)

- अरुणदत्त ने ''नासायां भवं नस्यम्'' ऐसा कहा है।
- भावप्रकाश में ''नासाग्राह्य'' औषध को नस्य कहा है।
- नस् धातु गत्यर्थक है और व्याप्ति के अर्थ में प्रयुक्त है।

नस्– नासिकायां– नासिका के अर्थ में भी प्रयुक्त है।

नस्य का अर्थ – जो नासिका के लिए हितकर है।

नस्तः यह शब्द नस् धातु से संज्ञा वाचक हो जाता है जिसका अर्थ भी नस्य कर्म है।

नस्य–परिभाषा (Definition) –

औषधम् औषध सिद्धं स्नेहो वा नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम्। (सु. चि. 40/21)

औषधि अथवा औषध सिद्ध स्नेहों को नासामार्ग से दिया जाना नस्य कहलाता है।

जो औषध–द्रव्य, सूक्ष्मचूर्ण अथवा द्रव के रूप में नासिका के रन्ध्रों में सुंघाया या टपकाया जाता है उसे नस्य कहते हैं।

उर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।

नासा ही शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्। (अ. ह. सू. 20/1)

- नासा सिर का द्वार है इस द्वार से दी गयी औषध नासारन्ध्रों में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शिर में व्याप्त हो जाती है तथा उर्ध्वजत्रुगत रोगों में विशेष रूप से लाभदायक होता है।

आचार्य चरकानुसार नस्य के प्रयोग से शिरःस्थ विकृत कफ–द्रव जब नासामार्ग से स्रवित हो जाता है तो शिरोगौरव, शिरःशूल, (पीनस) दुष्ट प्रतिश्याय, अर्द्धावभेदक, अपस्मार, मूर्च्छा में सद्यः लाभ होता है।

पर्याय– शिरोविरेचन, मूर्धविरेचन, नस्तः कर्म, शिरोविरेक, नावन, नस्य।

प्रयोजन एवं महत्त्व (Utility and importance)–

1. बहुयामी कार्यक्षमता– नस्यकर्म स्नेहन, शोधन, विरेचन, स्तम्भन, तर्पण, शमन, कर्षण, बृंहण, संज्ञाप्रबोधन आदि कार्य करता है।

2. प्राणवहस्त्रोवरोध को दूर करना– नस्य के द्वारा अवरुद्ध कफ द्रवित होकर नासाद्वार से बाहर निकल जाता है और जिससे अवरोध दूर हो जाता है एवं शिर का रक्तसंवहन तेज हो जाता है प्राणवस्त्रोतोवरोध दूर हो जाता है।

3. कफ मल आदि के निष्कासन में उपयोगी– नस्य देने से नासागत संकोच दूर हो जाता है और श्वास नलिका के संकोच पर भी विस्फारक प्रभाव पडता है जिससे कफ निष्कासित होकर श्वासावरोध दूर हो जाता है।

4. जत्रुउर्ध्वगत रोगों में उपयोगी– जत्रु के ऊपर होने वाले शिर के विकारों में नस्य की विशेष उपयोगिता है। नस्य सेवन से नेत्र, कर्ण, नासिका के रोग, बालों का झडना या सफेद होना, पीनस, अर्द्धविभेदक, मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, हनुग्रह रोग नष्ट हो जाते हैं।

5. वातादि रोग शामक– नस्यकर्म अवबाहुक, ग्रीवास्तम्भ आदि वातव्याधि, कफज रोगों में लाभदायक हैं तथा बृंहण, शमन या शोधन इन तीनों कार्यों को करने में सक्षम है।

6. इन्द्रियों को बल प्रदान करने में– नस्य कर्म से स्वर स्निग्ध, स्थिर और गम्भीर ध्वनियुक्त होता है ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है मुखमण्डल प्रसन्न तथा वृद्धावस्था देर से आती है।

7. उत्तमाङ्गी व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने हेतु– नासिका को शिर का द्वार माना है इस द्वार से प्रविष्ट नस्य सम्पूर्ण शिर में व्याप्त होकर शिर के विकारों को नष्ट कर उत्तमाङ्ग की व्यवस्था को व्यवस्थत कर सम्पूर्ण दैहिक क्रियाओं को सुव्यवस्थित करने में योगदान करता है।

नस्यकर्म के अयोग्य रोग एवं रोगी (Contraindication of Nasya Karma)–

अशिरोविरेचनार्हास्तु अजीर्णि भुक्त भक्त पीत स्नेह मद्यतोय पातु कामाः

स्नातशिराः स्नातुकामः क्षुत्तृष्णाश्रमार्त मत्तमूर्च्छित शस्त्रदंड–हत व्यवाय व्यायाम पानक्लान्त नवज्वर शोकाभितप्त विरिक्तानुवासित गर्भिणी नव प्रतिश्यायार्ताः अनृतौ दुर्दिने चेति।। (च. सि. 2/20)

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थतरुणप्रतिश्यायीगर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णि दत्तबस्तिः क्रूद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिधूतः श्रांतो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरः स्नातुकामश्चेति। अनार्तवे चाग्रे नस्य धूमौ परिहरेत्।। (सु. चि. 40/47)

1. अजीर्णी	2. भुक्तभक्त	3. गरपिडित	4. पीतमद्य/इच्छा
5. मत्त	6. मूर्च्छित	7. नवप्रतिश्याय	8. पीतस्नेह/इच्छा
9. व्यवायकलान्त	10. नवज्वरी	11. पीततोय/इच्छा	12. व्यायामक्लान्त
13. विरिक्त	14. शिरःस्नात	15. वृद्ध	16. अनुवासित
17. शिरः स्नानेच्छु	18. बाल	19. रक्तस्त्रावित	20. श्रमार्त्त
21. क्रुद्ध	22. कासग्रस्त	23. क्षुधार्त	24. गर्भिणी (अनार्तवे)
25. वेगावरोधित	26. श्वासग्रस्त	27. तृष्णार्त्त	28. शस्त्र/दण्ड कलान्त
29. शोक से पीडित	30. अकाल	31. दुर्दन	

अयोग्यों में नस्य देने से संभावित विकार –

1. अजीर्ण रोगी तथा भुक्तभक्त को नस्य देने से दोषोत्क्लेश से ऊर्ध्व स्रोतों में अवरोध होता है और कास, श्वास, छर्दि, प्रतिश्याय आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

2. स्नेहपान, जलपान या मद्यपान सेवन पश्चात् नस्य देने से नासा और गले से स्राव प्रारम्भ हो जाता है। आँखों में मल संचय होकर तिमिर और शिरोरोग उत्पन्न होते हैं।

3. सिर से जिसने स्नान किया है, उसे नस्य देने से प्रतिश्याय होता है।

4. क्षुधा से पीड़ित में नस्य देने पर वात प्रकोप का भय होता है।

5. तृष्णा से पीडित को नस्य देने से प्यास बढ़ती है और मुंह की शुष्कता में वृद्धि हो जाती है।

6. श्रम से थके हुए की नस्य देने से वेदना होती है, मदमत्त तथा मूर्च्छा से पीड़ितों में नस्य देने से संज्ञाभ्रंश होकर मानसोपघात होता है।

7. शस्त्र, दंडादि से अभिघात होने पर नस्य प्रयोग से तीव्र रुजा उत्पन्न होती है।

8. मैथुन एवं व्यायाम से थके हुए, तथा मद्यपान के अतियोग से जीर्ण हुए आतुरों को नस्य देने पर सिर, नेत्र, उरः तथा स्कन्ध में रुजा उत्पन्न होती है।

9. नवज्वर, शोकाभितप्त को नस्य देने से तिमिर उत्पन्न करता है तथा ज्वर में वृद्धि होती है।

10. विरेचन के बाद नस्य देने से वात प्रकोप होकर इंद्रियों को उपघात होता है।

11. अनुवासन बस्ति दिये हुए को नस्य देने पर कफ का प्रकोप होकर शिर में भारीपन, कंडु और कृमि उत्पन्न होते हैं।

12. गर्भिणी को नस्य देने से गर्भ का अवरोध होता है जिससे उसमें विकृति उत्पन्न होती है।

13. नवप्रतिश्याय वाले आतुर को नस्य देने से दोष स्रोतों में व्याप्त होकर प्रतिश्याय को बढ़ाता है।

14. योग्य ऋतु में योग्य प्रकार से नस्य न देने पर तथा दुर्दिन में नस्य देने पर शीतदोष, पूतिनस्य और शिरोरोग उत्पन्न होते हैं।

नस्य कर्म योग्य रोग व रोगी (Indication of Nasya Karma)

शेषास्त्वर्हाः विशेषतस्तु शिरो दंत मन्यास्तंभगलहनुग्रह पीनसगलशुंडिकाशालूक शुक्रतिमिर वर्त्मरोग व्यंगोपजिह्वकार्धावभेदक ग्रीवा स्कंधांसास्य नासिका कर्णाक्षिमूर्धकपाल शिरोरोगार्दितापतंत्रकापतानक गलगंड दंतशूलहर्षचालाक्षिराज्यर्बुद स्वरभेद वाग्ग्रह गद्गद् क्रथनाद्य ऊर्ध्वजत्रुगताश्च वातादि विकाराः परिपक्वाश्च। (च. सि. 2/22)

1. शिरो रोग	2. दंत रोग	3. गल ग्रह
4. मन्यास्तम्भ	5. हनुग्रह	6. पीनस
7. गलशुण्डिका	8. गलशालूक	9. शुक्र
10. तिमिर	11. वर्त्मरोग	12. अंसशूल
13. उपजिव्हिका	14. अर्धावभेदक	

15. ग्रीवा, कंधा, अंस, मुख, नासिका, कान, नेत्र और शिरः कपाल के रोग

16. अर्दित	17. अपतंत्रक	18. अपनातक
19. गलगण्ड	20. दन्तशूल/हर्ष/चल	21. अक्षि में राजि उत्पन्न होना
22. अर्बुद	23. स्वर भेद	24. वाग्ग्रह
25. गदगद वाक्य	26. क्रंथन	27. उर्ध्व जत्रु के वात रोग

(1-27 चरकानुसार है)

28. शिरः स्तम्भ	29. ग्रीवारोग	30. मुखरोग
31. कर्णशूल	32. व्यंग	33. नासाशूल
34. स्कन्धरोग	35. दन्तस्तम्भ शूल	

नस्य के प्रकार (Types of Nasya)

विभिन्न आचार्यों ने अपने मतानुसार अलग-अलग भेद किए हैं-

(A) आचार्य चरकानुसार – नस्य के 5 भेद होते हैं-

नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च। प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तः कर्म तु पंचधा।।
स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतं। शोधनः स्तंभनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः।।
चूर्णस्याध्मापनं तद्धि देह स्रोतोविशोधनम्। (च. सि.- 9/89-91)

1. नावन नस्य – यह (1) स्नेहन और (2) शोधन भेद से दो प्रकार का होता है।

2. अवपीड नस्य-यह (1) शोधन (2) स्तम्भन भेद से दो प्रकार का होता है।

3. ध्मापन

4. धूम नस्य- 3 प्रकार का होता है। (1) प्रायोगिक (2) वैरेचनिक (3) स्नैहिक धूम

5. प्रतिमर्श नस्य – दो प्रकार का होता है। (1) स्नेहन (2) विरेचन

(B) सुश्रुतोक्त प्रकार –

सुश्रुत ने नस्य के दो प्रकार किए हैं-

तद्द्विविधम् शिरोविरेचनं स्नेहनं च। तद् द्विविधमपि पंचधा।
तद्यथा-नस्यं शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शः अवपीडः प्रधमनं च।। (सु. चि. 40/21)

(1) शिरोविरेचन (2) स्नेहन

इन दो प्रकारों को पुनः 5 प्रकार में बांटा है-

(1) नस्य (2) शिरोविरेचन (3) प्रतिमर्श (4) अवपीड (5) प्रधमन

नस्य का विकल्प प्रतिमर्श और शिरोविरेचन का विकल्प अवपीड और प्रधमन नस्य माना है।

(C) आचार्य वाग्भट ने कर्म के अनुसार 3 प्रकार में विभक्त किया है-

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधापि तत्। (अ. ह. सू. 20/2)

(1) विरेचन नस्य (2) बृंहण नस्य (3) शमन नस्य

(D) आचार्य काश्यप अनुसार- दो प्रकार का है

बृंहणं कर्षणं चैव द्विविध नस्य कर्म तु।।
शोधनं पूरणं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते।। (का. सि. अ. 4)

(1) बृंहण (2) कर्षण

विकल्प में शोधन नस्य और पूरण नस्य ऐसे दो प्रकार किए हैं।

(E) आचार्य शाङ्गधरानुसार- 2 भेद

नस्य भेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा। रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम्।। (शा. उ. खं.8/2)

(1) रेचन (2) स्नेहन

रेचन का पर्याय कर्षण और स्नेहन का पर्याय बृंहण दिया है।

आश्रय भेद से नस्य प्रकार-7 प्रकार का होता है।

शिरोविरेचनम् सप्तविधम् फलपत्रमूलकंद पुष्प निर्यास त्वगाश्रय भेदात्। (च. वि. 8/151)

1. फल, 2. पत्र, 3. मूल, 4. कन्द, 5. पुष्प, 6. निर्यास, 7. त्वक्

इन द्रव्यों के कल्क, स्वरस, चूर्ण, धूम या इनसे सिद्ध किए हुए तैल या घृत का नस्यार्थ प्रयोग किया जाता है।

फल	पत्र	मूल	कन्द	पुष्प	निर्यास	त्वक्
अपामार्ग	तुलसी	अर्क	हरिद्रा	लोध्र	देवदारु	तेजोवती
विडंग	आरग्वध	अलर्क	सौंठ	मदन	हिंगु	गुडूची
पिप्पली	लशुन	कुष्ठ	मूली	निम्ब	अगरु	दालचीनी
मरिच	सप्तपर्ण	वच	लशुन	अर्क	सरल	इंगुदी
शिग्रु	श्रृंगवेर	भारंगी	आदि	सप्तवर्ण	शल्लकी	शोभाञ्जन
एला	तालीसपत्र	ब्राह्मी		आदि	आदि	
आदि	आदि	अतीस				
		नागदंती				
		आदि				

कार्मुकता के आधार पर- 3 प्रकार का

(1) रेचन (2) तर्पण (3) शमन

आचार्य चरकानुसार नस्य के भेदों का विवेचन-

(1) नावन नस्य- रुई के फोहे को स्नेह में डुबाकर या ड्रापर द्वारा या नस्य दान दीपक द्वारा नासिका के छिद्रों में टपकाना नावन कहा जाता है। यह सर्वदा प्रयोग योग्य नस्य है।

इसके (i) स्नेहन (ii) शोधन दो प्रकार हैं।

(i) स्नेहन नावन नस्य की मात्रा–

तस्य प्रमाणं अष्टौ बिंदवः प्रदेशिनी पर्वद्वय निसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणि शुक्तिः इत्येतास्तिस्त्रो मात्रा यथा बलं प्रयोज्याः।। (सु. चि. 40/28)

स्नेहन नस्य

उत्तम मात्रा	मध्यम मात्रा	हीन मात्रा
↓	↓	↓
32 बूंद प्रत्येक नासाछिद्र में	16 बूंद प्रत्येक नासाछिद्र में	8 बूंद प्रत्येक नासाछिद्र में

(ii) शोधन नावन नस्य :– इसमें पिप्पली, विंडग, सहिजन बीज, अपामार्ग बीज आदि से सिद्ध स्नेहन का नस्य दिया जाता है।

चत्वारो बिंदवः षड्वा तथाष्टौ वा यथा बलं।

शिरोविरेक स्नेहस्य प्रमाणमभि निर्दिशेत्।। (सु. चि. 40/36)

शोधन नावन मात्रा

उत्तम मात्रा	मध्यम मात्रा	हीन मात्रा
↓	↓	↓
8 बूंद प्रत्येक नासाछिद्र में	6 बूंद प्रत्येक नासाछिद्र में	4 बूंद प्रत्येक नासाछिद्र में

तत्रेतत् द्विविधमपि अभुक्तवतोऽन्न काले पूर्वाह्ने श्लेष्म रोगिणां,

मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्ने वातरोगिणाम्। (सु. चि. 40/24)

समय–

कफज विकारों में	पूर्वाह्न
पित्तज विकारों में	मध्याह्न
वातज विकारों में	अपराह्न

2. अवपीड नस्य–

कल्काद्यैरवपीडस्तु स तीक्ष्णैर्मूर्ध विरेचनः। (अ. ह. सू. 20/7)

अवपीड्य यत्र कल्कादीनि दीयते इत्यवपीड।। (च. सि. 9/90 पर)

जब किसी औषध के कल्क को निचोडकर उसका रस नासिका में डाला जाता है तो वह अवपीड नस्य कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है– (1) शोधन (2) स्तम्भन

मात्रा–

उत्तम	8 बूंद,
मध्यम	6 बूंद,
हीन	4 बूंद है।

शोधन अवपीड प्रयोग–

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यण्ण सर्पदंष्ट विसंज्ञेभ्यो दद्याद् शिरोविरेचन द्रव्याणामन्यतमवपिष्यावपीड्य च शर्करेक्षु रस क्षीरघृत मांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणित पित्ते च विदध्यात्।। (सु. चि. 40/44)

(1) मूर्च्छा

(2) सर्पदंश या

(3) शिर में कफ भरे रहने पर सैंधवपिप्पलादि शोधन अवपीड नस्य देना चाहिए।

स्तम्भन अवपीड प्रयोग

(1) रक्तपित्त में रक्तस्तम्भनार्थ

(2) क्षीणों में दोष शमनार्थ स्तम्भन अवपीड नस्य देना चाहिए।

इस नस्य में दुग्ध, इक्षुरस, घृत, दुर्वास्वरस, दाडिमपुष्प स्वरस आदि का प्रयोग किया जाता है।

3. ध्मापन नस्य– यह शोधन नस्य है। इसे प्रधमन नस्य भी कहते है। इसमें औषध चूर्ण को एक छः अंगुल लम्बी दोनों छोर में खुली नली में रखकर नासिका में फूंक दिया जाता है। इसकी मात्रा 3 मुच्युटी (चुटकी भर) है।

प्रयोग– चेतो विकार, उन्माद, अपस्मार आदि तथा विष पीडितों में किया जाता है।

अन्य प्रकार–

औषध चूर्ण को शुक्ति प्रमाण या 20–25 ग्राम लेकर उसे काफी बारीक पीस ले फिर किसी वस्त्र खण्ड में बांधकर पोटली बना लें और उसे नासिका के समीप रखकर जोर से सूंघे। बारी–बारी से एक नासाछिद्र को बंद कर दूसरे से सूंघे। (विदेहानुसार)

4. धूम नस्य– इस प्रक्रिया में औषध सिद्ध धूम को नसिका द्वारा खीचा जाता है यदि यह मुख द्वारा प्रक्रिया की जाती है तो उसे धूमपान कहते हैं धूम नस्य में नाक से धूम खींचकर मुख द्वारा बाहर निकाला जाता है। यह तीन प्रकार के 1. प्रायोगिक, 2. स्नेहिक 3.विरेचनिक होता है।

चतुर्विंशतिकं नेत्रं स्वांगुलीभिर्विरेचने, द्वात्रिंशदंगुलं स्नेहे प्रयोगेऽध्यर्थ–मिष्यते।। (च. सू. 5/49)

इस हेतु क्रमशः 35 अंगुल, 32 अंगुल तथा 24 अंगुल लम्बा नस्य नेत्र प्रयोग में लिया जाता है।

धूमवर्ति द्वारा या औषध (बडी कटेरी, बहेडा, मुलेठी आदि) को चिलम की आग में रखकर हुक्के पर चढाकर नासिका द्वारा धुँआ खींचने को धूम नस्य कहते हैं। धुएँ को नाक से खींचकर मुख से बाहर निकालना चाहिए।

दूसरा प्रकार– किसी अंगीठी में कोयला जलाकर निर्धूम ही जाने पर उसमें औषध डालकर उसके धुएँ को नासिका से खींचना। एक लम्बे वस्त्र द्वारा शिर को आच्छादित करें और अंगीठी को भी ढंक ले जिससे धुँआ बाहर न निकले और सीधा नासिका मार्ग में जाए।

प्रयोग– नासावरोध, पीनस और कण्ठ रोगों में।

5. प्रतिमर्श नस्य– स्नेह में अंगुली डुबोकर उस स्नेह की बूंद को नासिका में टपकाना और भीतर खींचना प्रतिमर्श नस्य कहलाता है।

स्नेह की मात्रा– 2 बूंद

प्रयोग– प्रातःकाल और सायंकाल लेना चाहिए। यह सभी ऋतु और सभी वय में देय है।

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।। (अ. ह. सू. 20/32)

प्रतिमर्श की आजन्मरण दिया जा सकता है।

इसमें नस्य में स्नेह की मात्रा उतनी ही होना चाहिए जितनी मात्रा देने पर वह नासास्रोत से कण्ठ में पहुंच जाएँ।

प्रतिमर्शनस्य में काल विचार– प्रतिमर्श नस्य किसी भी काल में दिया जा सकता है। आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त 14 काल प्रतिमर्श के लिये विशिष्ट रूप से निर्दिष्ट किये है। तथा वाग्भट्ट ने 15 काल दिये है–

(1) तत्पोत्थित काल (2) प्रक्षालित दंत काल (3) गृहान्निर्गच्छतः (4) व्यायामोत्तर (5) व्यवायोत्तर (6) अध्वपरिश्रांत काल (7) मूत्र एवं (8) मूल विसर्जनोत्तर (9) कवल तथा (10) अंजन पश्चात् (11) भोजनोत्तर (12) छर्दि के बाद (13) दिवा स्वप्न पश्चात् (14) सायंकाल। वाग्भट ने शिरोभ्यंग के बाद, तथा हास्य के बाद प्रतिमर्श देने के लिये कहा है। इस तरह दो अधिक पढ़े हैं, और गृहानिर्गच्छता–घर से बाहर जाते समय का काल नहीं पढ़ा है। उपर्युक्त काल में प्रतिमर्श लेने पर निम्न लिखित लाभ होते हैं– (सु. चि. 40/51, अ. ह. सू. 20/27-28)

(1) तत्पोत्थित काल में– नींद से जग जाने पर प्रातः काल में नस्य लेने से रात में नासास्रोत में लिप्त कफ निकालता है और मन प्रसन्न होता है।

(2) प्रक्षालित दंत– दातून के पश्चात् प्रतिमर्श लिए जाने से दांतों को दृढ़ बनाता है, और मुख को सुगंधित रखता है।

(3) गृहान्निर्गच्छत– बाहर जाने से पूर्व प्रतिमर्श नस्य लेने से नासा स्रोत में तैल के कारण क्लिन्न रहती है और धूलि आदि से नासा को बाधा नहीं होती है।

(4) व्यायामोत्तर– व्यायाम से थके हुये की प्रतिमर्श देने पर श्रम दूर होता है।

(5) व्यवायोत्तर– व्यवाय के बाद दिया हुआ प्रतिमर्श मैथुनजन्य परिश्रम को दूर करता है।

(6) अध्वपरिश्रांत– अत्यधिक गमन उपरान्त (खूब चल कर थके हुए को) दिया हुआ नस्य श्रम को दूर करता है।

(7–8) मल और मूत्रत्याग के बाद प्रतिमर्श देने से आँखों को दृष्टि गुरुता कम करता है।

(9–10) कवल तथा अंजन के बाद– कवल धारण तथा नेत्रांजन के बाद प्रतिमर्श नस्य लेने पर दृष्टि का प्रसादन होता है।

(11) भोजनोत्तर– नस्य लेने से स्रोतस शुद्धि और शरीर में लघुता उत्पन्न होती है।

(12) छर्दि के बाद– छर्दि के पश्चात् प्रतिमर्श नस्य लेने पर स्रोतों में (कंठ) लगे हुए कफ को निकालकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है।

(13) दिवा स्वप्न पश्चात् – नस्य लेने पर शेष नींद एवं शरीर की जड़ता को दूर करता है तथा मलों का नाश कर मन को एकाग्र बनाता है।

(14) सायंकाल में प्रतिमर्श नस्य लेने से जल्दी नींद आती है और प्रातः जल्दी से जागृति आती है। वाग्भटोक्त हास्य के बाद नस्य करने पर वायु की शांति होती है। शेष गुण समान है। (सु. चि. 40/51)

मर्श नस्य–

तर्जनी अंगुली को दो पर्व तक स्नेहन में डुबोकर जितनी बूंद स्नेह गिरता है उसे मर्श कहते है।

प्रदेशिन्यंगुली पर्व द्वयान्मग्न समुद्धृतात्। यावत्पतति असौ बिंदुर्दशाष्टौ षट्क्रमेण ते।

मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात्। बिंदुद्वयोनाः कल्कादेः।।.. . योज्येन्न तु नावनम्।।

(अ. ह. सू. 27/9, 10, 28)

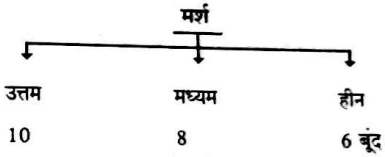

10 बूंद उत्तम मर्श, 8 बूंद की मध्यम मर्श, 6 बूंद को हीन मर्श कहा गया है।

मर्श और प्रतिमर्श में केवल मात्रा का ही अन्तर है दोनों के गुण समान हैं। परन्तु मर्श में व्यापद की संभावना होती है। जबकि प्रतिमर्श निरापद है। मर्श-प्रतिमर्श हेतु घृत की अपेक्षा तैल प्रयोग श्रेष्ठ है क्योंकि शिरः कफ का स्थान है।

नस्य प्रयोग विधि (Procedure of Nasya Karma)– इसे तीन चरणों में बांटा गया है–

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म (Poorva karma)– इसमें निम्न अंग है–

(i) संभार संग्रह (Collection of necessary facilities)– नस्य हेतु अलग भवन या कक्ष होना चाहिए जिसमें पर्याप्त प्रकाश हो, खुली हवा का प्रवेश हो परन्तु जो शरीर में सीधे और वेगयुक्त न लगे। जो धूल, धुआँ से सुरक्षित हो तथा जो कक्ष न तो अधिक शीत हो और न ही ऊष्ण हो।

(a) उपकरण– नस्य दान दीपक, धूमवर्ति यंत्र, ड्रापर या ध्मापन हेतु नली का नेत्र 6 अंगुल लम्बा और नासिका में प्रवेश योग्य मोटाई का होना चाहिए। रोगी व औषध के बलाबलानुसार यह कम या अधिक लम्बी ली जा सकती है।

स्वच्छ व विसंक्रमित रुई, ष्ठीवन हेतु पात्र, अभ्यंग हेतु तैल, अंगीठी, तापस्वेद हेतु साधन, ड्रापर, भगोनी, गिलास, तौलिया आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

(b) औषध व्यवस्था– नस्य औषध जो देनी हो जैसे चूर्ण, क्वाथ, दुग्ध, तैलादि अभीष्ट हो उसे तैयार रखें। प्रायः प्रयोज्य औषधों में कटफल चूर्ण, श्वास कुठार रस, अपामार्ग बीजादि, षड्बिन्दु तैल, अणु तैल, कुंकुमादि घृत, नृपबल्लभ तैल आदि मुख्य हैं।

(ii) नस्य आसन– रोगी को बैठाने हेतु 1½-2 फुट ऊँची कुर्सी हो जिसमें पीछे की ओर पीठ तक पट्टी हो और गर्दन के पास का भाग पीछे से छुका हो जिसके सहारे रोगी का मुखमण्डल उर्ध्वमुख कर नस्य का प्रयोग किया जा सके। इसे नस्य पीठ कहते हैं। तथा इसी प्रकार व्यवस्था हो जिसमें रोगी को सुखपूर्वक लिटाया जा सके तथा नस्य देने में सुविधा हो, का प्रयोग किया जाता है।

(iii) रोगी परीक्षण (Examination of patient)– सर्वप्रथम यह विचार करें कि रोगी नस्य योग्य है या नहीं।

(1) 7 वर्ष से कम और 80 वर्ष से अधिक आयु वालों को नस्य नहीं देना चाहिए।

(2) प्रतिमर्श नस्य जन्म से मृत्यु तक देय है।

(3) धूम नस्य 12 वर्ष के ऊपर के वय में देय है।

(4) प्रावृट, शरद और वसंत इन तीनों ऋतुओं में नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

(5) यदि व्यक्ति स्वस्थ हो तो ग्रीष्म में पूर्वाह्न में, शीत ऋतु में मध्याह्न में और वर्षा ऋतु में दुर्दिन न हो तब नस्य देना चाहिए।

तापक्रमादि मापन (Vital recording)- रोगी के तापक्रम, श्वसन गति, नाडी गति, रक्त चाप, वजन आदि ज्ञात कर नस्य प्रारूप पत्रक पर अंकित करते हैं।

रोगी द्वारा सहमति घोषणा पत्र (Consent form) :- अन्य कर्म की भांति रोगी को नस्य कर्म की सम्पूर्ण जानकारी, सम्भावित व्यापद बताकर रोगी से लिखित में सहमति लेते हैं।

नस्य मात्रा

	नस्य प्रकार	उत्तम	मध्य	हीन
1.	शमन (प्रति नासा पुट में)	64 बिंदु 8-8 बिंदु (प्रति नासा पुट में)	32 बिंदु 16-16 बिंदु प्रति नासा पुट में	16 बिंदु 32-32 बिंदु प्रति नासा पुट में
2.	शोधन	16 8-8 (प्रति नासा पुट में)	12 6-6 (प्रतिनासा पुट में)	8 बिन्दु 4-4 बिन्दु (प्रति नासा पुट में)
3.	मर्श	10	8	6
4.	प्रतिमर्श	2	2	2
5.	कल्क (अवपीड)	8	6	4 बिन्दु

(iv) रोगी की नस्यार्थ तैयारी– रोगी को मलमूत्र के वेग से निवृत्त कराकर लघु भोजन करायें। घण्टे भर बाद नस्य आसन पर बैठाकर नस्य का प्रयोग करें।

2. प्रधान कर्म (Pradhan Karma)–

नस्य देने से लेकर उपद्रवों के शमन तक की क्रिया प्रधान कर्म में समाहित है यह निम्न भागों में विभक्त है-

(i) नस्यदान विधि

(ii) नस्योत्तर निरीक्षण एवं निर्देश

(iii) व्यापत्-प्रतीकार

(i) नस्य प्रयोग विधि (Administration of Nasya)

ललाट तथा मुख पर अभ्यंग करते हुए वाष्प स्वेद देते हुए

वाष्प स्वेद देते हुए तैल को नस्य दान पात्र में डालते हुए नासा में तैल डालते हुए

दूसरी नासिका में तैल डालते हुए धूम नस्य (नसिका से देते हुए)

(1) नस्य कुर्सी पर बैठे हुए या नस्य शय्या पर सुख पूर्वक शयन करते है।

(2) आतुर का सर्वप्रथम शिर आदि का स्नेहन व स्वेदन किया जाता है। सामान्यतया नस्य प्रदान करने पर शिर को थोडा छुकाकर, ग्रीवा स्कंध आदि का अभ्यंग-स्वेदन कराते है।

(3) वस्त्र/रुई आदि द्वारा नेत्र को ढकते हैं।

(4) रोगी के शिर को पीछे की ओर थोड़ा झुकाकर चिकित्सक अपने बाएँ हाथ के अंगुष्ठ- तर्जनी से रोगी के नासाग्र को उठाकर ड्रापर में औषध-भरकर मन्दोष्ण स्नेहबिन्दु धीरे-धीरे नासारन्ध्रों में डालते है।

(5) इसी प्रकार दुग्ध, स्वरस, क्वाथ, मांसरस आदि का प्रयोग करते हैं।

(6) यदि चूर्ण का नस्य देना हो तो उसे नली में रखकर पीछे से फूँके जिससे वह भीतरी नासारन्ध्र में चला जाए।

(7) धूम नस्य लेना हो तो नस्य द्रव्य सिगरेट या चिलम या हुक्का में भरकर नासिका से धूमपान लेना चाहिए और मुख से धुएँ को बाहर निकालना चाहिए। इस हेतु धूमवर्ति या धूमयंत्र का उपयोग भी करते हैं। इस प्रकार 3-4 कश अथवा कोयले की आग पर नस्य द्रव्य रखकर शिर और मुख को आच्छादित कर नासा द्वारा धूम ग्रहण करना चाहिए। अथवा नस्य द्रव्य को जल में उबालकर उसका वाष्प तौलिए से आच्छादित कर ग्रहण करना चाहिए।

(ii) नस्योत्तर निरीक्षण एवं निर्देश –

(1) नस्य देने के बाद रोगी हिले डुले नहीं, हंसना, भाषण आदि को नहीं करना चाहिए।

(2) नस्य औषध को निगलना नहीं चाहिए उसे थूक देना चाहिए।

(3) नस्य कर्म में निकले हुए कफादि की मात्रा को नस्य प्रारूप पत्रक पर अंकित करते हैं। तथा नस्य के सम्यक्, हीन, अतियोग लक्षणों का निरीक्षण करते हैं।

नस्य के सम्यक् योग के लक्षण (Symptoms of adequate Nasya)–

लाघवः शिरसो योगे सुख स्वप्न प्रबोधनं।

विकारोपशमः शुद्धिरिंद्रियाणां मनः सुखम्।। (सु. चि. 40/33)

(1) शरीर में हल्कापन का होना (2) नींद ठीक से आना व समय पर खुलना

(3) इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता (4) शिर में हल्कापन

(5) स्त्रोतों की शुद्धि

अयोग के लक्षण (Symptoms of inadequate Nasya)–

अयोगे वातवैगुण्यमिंद्रियाणां च रुक्षता।

रोगाशांतिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत्।। (सु. चि. 40/35)

(1) वातज विकार का होना (2) जिस रोग निवारण हेतु नस्य दिया हो उस रोग का निवारण नहीं होना।

(3) कण्डू का होना (4) अंगों में भारीपन

(5) नासा व मुख से कफ स्त्राव (6) लालास्त्राव, अश्रुस्त्राव का होना।

अतियोग लक्षण (Symptoms of excessive Nasya)

कफः प्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रिय विभ्रमः।

लक्षणं मूर्ध्न्यति स्निग्धे रुक्षं तत्रावचारयेत्।। (सु. चि. 40/34)

(1) कफ का स्त्राव (2) शिर में भारीपन

(3) इन्द्रियों में विभ्रम (4) शिरःशून्यता का होना

(iii) नस्य व्यापद और प्रतिकार– नस्य व्यापद दो तरह के होते हैं-

(a) दोषों का उत्क्लेश होने पर शोधन, शमन चिकित्सा

(b) दोषों का क्षय होने पर बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए।

3. पश्चात्कर्म (Paschat karma)

नस्य देने के बाद किए जाने वाले कर्म निम्नलिखित है-

(i) नस्यदान में तत्कालकरणीय कर्म (ii) धूमपान

(iii) कवल-गण्डूष (iv) भोजनादि व्यवस्था

(v) परिहार

(i) तत्कालकरणीय कर्म– रोगी को नस्य देने के बाद 100 अंक गिनने तक या 2 मिनट तक उत्तान लिटाया जाता है। पाद तल व मन्या का मृदु मर्दन करके रोगी के गले, कपोल और ललाट पर ताप स्वेदन करते है। तत्पश्चात् सुखोष्ण जल से मुख का प्रक्षालन करवाते है।

(ii) धूमपान– कण्ठ, नासिका, व शिरःस्थ कफ के विलयनार्थ धूमपान करना चाहिए। प्रायोगिक धूमपान हेतु एलादि गण के द्रव्यों में कूठ व तगर को छोड़कर शेष सभी द्रव्यों से धूमवर्ति बनाएँ और उस वर्तिका को घी से आर्द्र कर धूमवर्ति यंत्र या सिगरेट होल्डर में रखकर पान करायें।

(iii) कवल/गण्डूष– नस्य बाद शोधन प्रकार का कवल धारण कराना चाहिए। इस हेतु ऊष्ण, रुक्ष, कटु, अम्ल तथा लवण रस युक्त द्रव्यों का प्रयोग करते है। कफ के छेदन हेतु सुखोष्ण जल में यवक्षार, अपामार्ग क्षार, सज्जीक्षार, टंकण (बालसुधा) डालकर घोल बनाकर कवल या गण्डूष धारण करवाया जाता है।

(iv) आहार व्यवस्था– आहार में लघु आहार, यवागु, पेया, रोटी, मूंग की दाल, परवर आदि दी जाती है।

(v) परिहार – दही, शीतल व गुरु द्रव्यों को तथा अति स्निग्ध द्रव्यों का सेवन निषिद्ध है। ऊष्ण जल का सेवन तथा ऊष्ण निवास में रहना चाहिए। धूल, धूएँ युक्त वातावरण एवं मद्य, धूप, सिर से स्नान, क्रोध व शोक का परित्याग करना चाहिए।

एकांतरं द्व्यंतरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः। एकविंशति रात्रं या यावद्वा साधु मन्यते।।

मारुते नाभि भूतस्य वाऽत्यन्तं यस्य देहिनः। द्विकालंचापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता।।

(सु. चि. 40/42-43)

मन्यास्तंभे स्वरभ्रंशे सायं प्रातर्दिने दिने। एकाहांतरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत्।। (अ. ह. सू. 20/16)

सुश्रुत के अनुसार 1 दिन के या 2 दिन के अंतर से 21 दिन तक या सम्यक् फल प्राप्ती तक नस्य प्रयोग कर सकते है परन्तु वाग्भट्ट ने 7 दिन ही नस्य लेने का निर्देश किया हैं यदि आवश्यक हो (मन्यास्तम्भ, स्वर भेद) में दिन में 2 बार नस्य प्रयोग कर सकते हैं।

बृंहण एवं शोधन नस्य कर्म का परिचय–

आचार्य वाग्भट्ट ने विरेचन, बृंहण एवं शमन नस्य प्रकार का वर्णन किया है।

(i) बृंहण नस्य – बृंहण नस्य के अन्तर्गत औषध सिद्ध स्नेह, स्नेहन/बृंहण गुण युक्त द्रव्यों से नस्य कर्म किया जाता है इसके द्वारा शिरःस्थ नाडीमण्डल का बृंहण, तर्पण तथा शमन करता है। यह उर्ध्वजत्रुगत भाग का पोषण करता है। अर्थात् समस्त शिरः प्रदेश में स्थित अवयवों को पुष्ट करता है। दूध, शर्करा का पानी, मांसरस आदि को बृंहण द्रव्यों से सिद्ध कर स्नेह के रूप में प्रयोग करते हैं। जिससे यह तर्पण, बृंहण आदि का कार्य करता है।

बृंहणार्थ नस्य योग– नारायण तैल, अणुतैल, माषादि तैल, नृपवल्लभ तैल, क्षीर बला, बला तैल आदि इनके नस्य का तथा इनके योग में उक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का नस्य बृंहण कर्म करता है। अर्थात् शिरःस्त धातु का बृंहण करता है।

(ii) शोधन नस्य – प्रधमन नस्य शोधन प्रकार का नस्य है। यह चूर्ण के रूप में प्रयुक्त होता है। प्रधमन नस्य अपने ऊष्ण, तीक्ष्ण, कटु गुणों के कारण गन्धवह स्त्रोत की उत्तेजित कर कफ का स्त्राव कराता है जिससे शोधन हो जाने से जत्रु के उर्ध्वभाग में होने वाले विकारों का शमन हो जाता है।

नासा ही शिर का द्वार है अतः इस द्वार से प्रविष्ट नस्य सम्पूर्ण शिर में व्याप्त होकर शिर के विकारों को नष्ट करता है तथा उत्तमाङ्ग की व्यवस्था को सुचारू बनाकर सम्पूर्ण दैहिक क्रियाओं को सुव्यवस्थित बनाता है। शोधन नस्य के प्रयोग करने से नासान्तर्गत श्लैष्मिक कला में क्षोभ उत्पन्न होकर, अवरुद्ध कफ निकल जाता है परिणामस्वरूप विकार का शमन होता है।

नस्य कार्मुकता

नासा का मुख्य कर्म गंधग्रहण है। नासा के मूल में गंधवह धमनियाँ होती है जो गंधज्ञान को शिर में पहुँचाती है। इन मूल स्थानों में गंधद्रव्यों के द्वारा उत्तेजना का कार्य होता है। यह उत्तेजना पहुँचने पर सम्पूर्ण गंधवह स्रोत में प्रक्षोभ होता है। और जब क्षवथु की प्रवृत्ति होती है तो शिरस्थ विलयित कफ के साथ दोष निर्हरण सम्भव होता है। नस्य द्रव्य में उपयुक्त चूर्ण द्रव्य प्रायः गंध प्रधान होते है। जैसे- शुण्ठी, लशुन, हिंगु, वचा आदि तथा अन्य द्रव्य कटु, उष्ण, तीक्ष्ण होते हैं। ये दोनों गुण आयुर्वेद मतानुसार विष्यन्दन, द्रवीकरण, छेदन करने का कार्य करते है। मधुर औषधियाँ बृंहण, शमन, तर्पण का कार्य करती हैं और कषाय रस युक्त औषधियाँ स्तम्भन करती है।

तद्धयुत्तमाङ्गमनुप्रविश्य मुञ्जादीषिकामिवासक्तां केवलं
विकारकरं दोषमपकर्षति।। (च. सि. 2/22)

आचार्य चरकानुसार– शिरोविरेचन औषध उत्तमाङ्ग में पहुँचकर सम्पूर्ण विकृत दोष को वहाँ चिपकने नहीं देते हुए उसे बाहर निकाल देता है जैसे मुंजादि में रहे हुए सरकण्डे को बिना संलग्न हुए खींचकर निकाला जा सकता है।

वाग्भट्ट मतानुसार–

नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्। (अ. ह. सू. 20/1)

उपर्युक्त श्लोक की टीका में हेमाद्रि लिखते हैं कि –

नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्र निषेचितमौषधं स्रोतः शृङ्गाटकं प्राप्य, व्याप्य च मूर्द्धानं नेत्र स्रोतकण्ठादि-शिरामुखानि च, मुञ्जादिषीकामिवासक्तामूर्द्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषामाशु दोषसंहतिमुत्तमाङ्गादपकर्षति।

अर्थात् नासा को सिर का द्वार कहा गया है, अतएव नासिकाछिद्र द्वारा भीतर प्रवेश करायी गयी औषधि शृंगाटक नामक मर्म में पहुँचकर और वहाँ अपना प्रभाव दिखाकर सिर, नेत्र, श्रोत, कण्ठ आदि की सिराओं से दोषों को शीघ्र निकालती है।

आचार्य सुश्रुतानुसार श्रृंगाटक एक सिरा मर्म है जो घ्राण, श्रोत्र, अक्षि और जिह्वा–इनका सन्तर्पण करने वाली शिराओं के बीच शिराओं का समुदायात्मक है।

Modern View of Nasya Karma

Mechanism of drug Absorption given through nasal route :-

Passage of drug through the mucus is the first step in the absorption from the nasal cavity. Uncharged as well as small particles easily pass through mucus while charged as well as large particles are more difficult to cross it. The following two mechanisms may be considered as :-

1. The first mechanism of drug absorption involves an aqueous route of transport (paracellular route). Paracellular route is slow and passive.

2. The second mechanism includes transport of drug through a lipoidal route (trans cellular process). Trans cellular route is responsible for the transport of lipophilicity.

Nose-to-Brain drug delivery :-

There are three likely mechanisms underlying the direct nose-to-brain drug delivery; there could be at least one intracellular transoport mediated route and two extracellular transport mediated routes-

1. Intracellular Transport- The intra cellular transport based route is a relatively slow process, taking hours for intranasally administred substances to reach the olfactory bulb. The olfactory neuron in the olfactory epithelium could uptake the molecules by such processess as endocytosis, which could reach the olfactory bulb by axonal transport.

2. Extracellular Transport :- The two likely extracellular transport based routes could underlies the rapid entrance of drug into the brain, which can occure within minutes of intranasal drug administation.

In the first extracellular transport based route intransally administred substance could first cross the gap between the olfactory neurons in the olfactory epithelium which are subsequently transported into the olfactory bulb.

In the second extracellular transport based route, intranasally administred substances may be transported along the trigeminal nerve to bypass blood brain barrier. After reaching the olfactory bulb or trigeminal region the substance may enter into other brain region by diffusion which may also facilitated by "Perivascular pump" that is driven by arterial pulsation. In addition intranasally administered drug may also partially enter into the CNS after the drugs enter into the systemic blood circulation.

Effct on Neurovascular function

The lowering of the head, elevation of lower extremities and fomentation of face, seem to have an impact on blood circulation of the head and face. As the efferent vasodilator nerves are spread out on the superficial surface of the face, receive stimulation by fomentation and it may engender the increased blood flow to the brain, i.e. momentary hyperemia. It is also possible that the fall of arterial pressure due to vasodilatation may encounter with Cushing's reaction. When the ratio between the CSF pressure and arterial pressure has reduced, the increased CSF pressure tends to compress the arteries in brain causing a transient ischaemia in the brain. By this, the aroused 'ischaemic response' will subsequently raise the arterial pressure (Cushing). This act convinces us more of "Slush" created in intracranial space; probably this may be the explanation for the Benzyl penicillin like drugs, which do

not attain a therapeutic level in the brain in normal condition found to be effective during the inflammatory conditions of meninges.

On the basis of above facts, Nasya Karma has a definite impact on Central neurovascular system and likely lowers the blood brain barrier to enable certain drug absorption in the brain tissue.

Effect at Neuro Endocrinal Level

The peripheral olfactory nerves are chemoreceptor in nature. This olfactory nerve differs from other cranial nerves, excepting optic nerve, in its nature.

However, it is known that these nerves are connected with limbic system of the brain including hypothalamus. This limbic system and hypothalamus are having control over endocrine secretions. Moreover, hypothalamus is considered to be responsible for integrating the function of the endocrine system and the nervous system. It is known to have direct nervous connections with the posterior part of pituitary. In addition, hypothalamus is indirectly having connections with Anterior lobe of pituitary through portal vessels which supplies blood to the gland, having previously ramified in the Corpora mammilaria of the hypothalamus in animals is capable of inducing secretion in the anterior pituitary, and it is believed that the products of such hypothalamic are drained by the portal vessels into the anterior lobe. The experimental stimulation of olfactory nerves caused stimulation in certain cells of hypothalamus and amygdaloid complex, but the nature of the effects is not properly understood. It is understood that just like primitive mammals, man also responds to the language of smell in the environments.

Abraham and colleagues (1979) on their experimental studies have noticed that a more exposure to the smell of the Jasmine flower reduces the activity of mammary gland. If the fragrance could have the effect, it may be acting through impulses traveling via the olfactory pathways influencing hypothalamus which in turn, causes the inhibitory effect through the pituitary. Olfaction of certain chemical pheromones is also observed to have an impact on menstrual cycle (Russel 1977).

Similarlly the drugs used for Pumsavana may be acting through the olfacto hypothalamo pituitary pathway.

Effect on Neuro-Psychological Levels

The adjacent nerves called terminal nerves that run along the olfactory are connected with limbic system of the brain including hypothalamus. It is believed that the certain drugs administered through nose may have an impact on immediate psychological functions by acting on limbic system through olfactory nerves.

These evidences ceratinly support the recommendation of Nasya for mental disorders like Apasmara and Unmada.

Effect on Drug Absorption and Transportation

Keeping the head in lower position and retention of medicine in nasopharynx helps in providing sufficient time for local drug absorption. Any liquid soluble substance has

greater chance for passive absorption directly through the cell of lining membrane. On other hand, Abhyanga (massage) and Swedan (local fomentation) also enhances the drug absorption. The later course of drug transfusion can occur in two ways.

1. By Systemic circulation. 2. Direct pooling into the intracranial region.

This direct transportation can be assumed again two paths viz.

a. By Vascular Path. b. By Lymphatic Path.

(a) Vascular Path

Vascular path transportation is possible through the pooling of nasal venous blood to the facial vein, which naturally occurs just of the opposite entrance the inferior ophthalmic veins also pool into the facial vein.

Interestingly, both facial and ophthalmic veins have no valves in between. So that, blood may drain on either side, that is to say the blood from facial vein can enter cavernous venous sinus of the brain in reverse direction. Thus, such a pooling of blood from nasal veins to venous sinuses of the brain is more likely in the head lowered position due to gravity. On this line, the absorption of drug materials into meninges and related parts of intracranial organs is worth considering point. Moreover, the modern scholars have noted that the infective thrombosis of the facial vein may lead to infection of the meninges easily through this path.

Pooling of blood from paranasal sinuses also possible in the same manner, Vaghbhata's notation of Shringataka Srotas (anterior cranial fossa) seems to relation with the above explanation.

(b) Lymphatic Path-

Drug transportaion by lymphatic path, can reach direct into the C.S.F. It is known that the archanoid matter sleeve is extended to the submucosal area of the nose alongwith olfactory nerve. Experiments have shown that the dye injected to arachnoid matter has caused colouration of nasal mucosa within seconds and vice versa also (Hamilton 1971). Preliminary studies reported from AIMS Laboratories, clearly showed that steroids enter the C.S.F. rapidly following their administration as a nasal spray. Surprisingly their levels in the C.S.F was found to be much higher as compared with systemic injections (Kumar et al 1979) therefore Acharya Sushruta also give caution for excessive administration of Virechana Nasya (eliminative errhine) may cause oozing of Mastulunga (C.S.F.) into the nose.

✕ ✕ ✕

अध्याय–8

रक्तमोक्षण
(Rakta Mokshana)

रक्तमोक्षण परिचय (Introduction)

पंचकर्म चिकित्सा के अब तक वर्णन किए गए कर्म–वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य थे, इनमें दोषों का शोधन यह प्रधान उद्देश्य रहा है। यहाँ रक्तमोक्षण कर्म में दोष की अपेक्षा धातु (रक्त) का निर्हरण यह प्रधान विषय है।

रक्त शरीर की अत्यंत महत्त्वपूर्ण धातु है इसके दुष्ट होने पर अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है।

शब्द निष्पत्ति (Etymology)– रक्तमोक्षण दो शब्दों से मिलकर बना है।

रक्त+मोक्षण

रक्त के लिए तथा मोक्षण के लिए जो पर्याय भाषा में उपयुक्त हैं वे सब इस कर्म के लिए भी पर्यायवाची शब्द हैं। उदाहरण– असृविस्रुति, शोणितमोक्षण, रक्तर्निहरण, रक्तहरण इत्यादि है। रक्त के लिए– शोणित, लोहित, असृ का पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है।

रक्तमोक्षण परिभाषा (Definition)

शरीर शोधनार्थ एवं व्याधिनाशार्थ हेतु रक्त को शरीर से मुक्त करना या निर्हरण करना या निकाल देना या बहा देना यह क्रिया रक्तमोक्षण कहलाती है।

प्रयोजन एवं महत्व (Aims & Importance)

रक्त का श्रेष्ठ कार्य जीवन है। अर्थात् प्राण का धारण है। रक्त ही शरीर का मूल है।

रक्त मांस का पोषण, धातु पुष्टि, वर्णप्रसादन, बल उत्पत्ति, प्राणियों के प्राणों का संयोजन, इन्द्रियों के द्वारा अपने–अपने ज्ञान ग्रहण में शुद्धता बनाए रखता है एवं जठराग्नि को दिप्त एवं सम अवस्था में रखता है।

रक्तमोक्षण करने से त्वचा के रोग, ग्रंथियाँ, शोफ एवं रक्तजन्य विकार नहीं होते हैं।

रक्तदुष्टि हेतु

ऊष्ण, तीक्ष्ण, अतिमद्य का सेवन, अति लवण, क्षार, अम्ल, कटु द्रव्यों का अत्यधिक मात्रा में सेवन करने से, कुलत्थी, माष, निष्पाव, तिल का अधिक सेवन करने से, विरुद्धाहार, क्लिन्न आहार जैसे दही, मस्तु, अम्ल, कांजी का अधिक सेवन से द्रव्य, स्निग्ध, अति गुरु आहार सेवन से दिवास्वप्न से, वायु, आतप का अति सेवन करने, अभिघात से, अधिक श्रम करने से, अत्यंत क्रोध करने से शोक से, अत्यधिक भयभीत होने से, अजीर्ण से, शरद ऋतु में रक्तमोक्षण न करने से रक्त की दुष्टि होती है जिससे रक्तजन्य विकार की उत्पत्ति होती है।

वातादि दोष से दूषित रक्त लक्षण

वातदुष्ट रक्त के लक्षण– अरुणाभ, झागयुक्त, विशद, पतला, कृष्णवर्णता, जल्दी न जमने वाला ये वातदुष्ट रक्त के लक्षण हैं।

पित्त दुष्ट रक्त– पित्त दोष से रक्त की दुष्टि होने पर रक्त का वर्ण पीत, नील, हरित, श्यामवर्णता तथा अस्कंदी, विस्त्रता ये लक्षण होते हैं।

कफदुष्ट रक्त– कफ दोष से रक्त की दुष्टि होने पर रक्त तंतुयुक्त होकर, ईषत पाण्डु और घन हो जाता है। सुश्रुत ने गैरिक जल के समान वर्ण, स्निग्ध, शीत, बहल, पिच्छिल, तथा देर तक स्त्रवित होना, मांसपेशी समान वर्ण का बताया है।

सन्निपातज रक्त दुष्टि लक्षण– इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। त्रिदोष दुष्टि में कांजी वर्ण के समान तथा दुर्गन्धयुक्त होना ये लक्षण बताए हैं।

रक्तमोक्षण के योग्य/अयोग्य रोग एवं रोगी

रक्तमोक्षण के योग्य रोग व रोगी (Indication of Raktamokshan)

ततः शोणितजा रोगाः प्रजायंते पृथग्विधाः। मुखपाको अक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगंधिता।।
गुल्मोपकुश वीसर्प रक्तपित्त प्रमीलकाः। विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम्।।
वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरुगात्रता। संतापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्।।
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः। क्रोध प्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता।।
स्वेदः शरीर दौर्गंध्यं मदः कंपः स्वरक्षयः। तंद्रानिद्राति योगश्च तमसश्चातिदर्शनम्।।
कण्डूरुः कोठपिडका कुष्ठ चर्मदलादयः।। (च. सू. 24/11 से 16)

कुष्ठ	निलीका	अरुचि	विसर्प	कामला
गुरुगात्रता	पिडिका	व्यंग	अतिदौर्बल्य	रक्तपित्त
तिलकालक	क्लम	असृग्दर	दद्रु	अम्लउद्गार
मेढ्र पाक	चर्मदल	कटुउद्गार	गुदपाक	पामा
अर्श	मुखपाक	रक्तमेह	इन्द्रलुप्त	प्लीहादोष/वृद्धि
वातरक्त	अर्बुद	गुल्म	अग्निमांद्य	अक्षि रोग
विद्रधि	पिपासा	कंडु	श्वित्र	

रक्तमोक्षण के अयोग्य रोग व रोगी (Contraindication of Raktamokshana)–

अविस्राव्याः सर्वांग शोफः क्षीणस्य चाम्लभोजन निमित्तः।
पांडुरोग्यर्शसोदरि शोथि गर्भिणीनां च श्वयथवः। (सु. सू. 14/24)

(1) जिनके सम्पूर्ण शरीर में शोथ हो (2) जो रोग के कारण अत्यंत दुर्बल हो

(3) अम्लाति सेवन से उत्पन्न पाण्डु (4) अर्श

(5) उदर (6) शोथ

(7) गर्भिणी

(8) सिराव्यध के लिए जो अयोग्य बताएं है वो सभी रक्तमोक्षण के अयोग्य होते हैं।

रक्तमोक्षण प्रकार (Types of Raktamokshana)

तत्रशस्त्रविस्रावणं द्विविधम्। प्रच्छानं सिराव्यधनं च।। (सु. सू. 14/25)

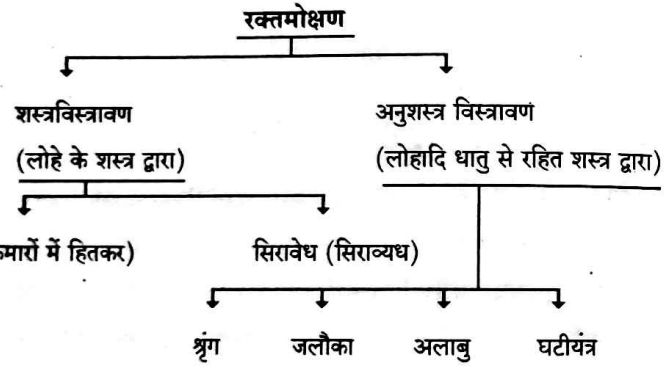

रक्तमोक्षण की प्रयोग भेद तालिका

भिषग् वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिहरेत्।

पित्तान्वितं जलौकाभिः कफान्वितमलाबुभिः।

यथासन्नं विकारस्य व्यधयेयाशु वा सिराम्। (च. चि. 21/69-70)

प्रच्छाननैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेत् शृंगादिभिः सुप्तं असृग्व्यापि शिराव्यधैः।

प्रच्छानं पिंडिते वा स्यात् अवगाढे जलौकसः। त्वक्स्थेऽलाबु घटी शृंगं शिरैव व्यापकेऽसृजि।।

(अ. ह. सु. 26/53-54)

	प्रयोग भेद	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
1.	श्रृंग	वातदुष्टि में	वातदुष्टि में अवगाढतम रक्त में तथा त्वचा में दुष्टि हो तब सुकुमारों में	वातपित्त दुष्टि में त्वचागत दुष्टि में
2.	जलौका	पित्तदुष्टि में	1. पित्त दुष्टि में 2. अवगाढ ग्रथित रक्त में 3. अति सुकुमारों में	पित्त दुष्टि में सुखी लोगों में

3.	अलाबु	कफ दुष्टि में	कफ दुष्टि में अवगाढतर रक्त में त्वचागत दुष्टि में सुकुमारों में	वातकफ दुष्टि में त्वचागत रक्त दुष्टि में
4.	सिराव्यध	विकार के नजदीक की सिरा से रक्त स्त्रावण। संचार्यमाण रक्त में	सर्वांगत दोष हो तब	सर्व शरीर में व्याप्त दोष में
5.	प्रच्छान	संचार्यमाण रक्त में	उत्तान रक्त में	एक देशास्थित पिंडित रक्त में
6.	घटीयंत्र	बद्धमूल गुल्म के शस्त्रकर्म में	-	कफ और वात से दुष्ट रक्त में

रक्तमोक्षण योग्य काल

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु शीतले।

हेमन्त काले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः।। (सु. शा. 8/10)

सामान्यतः शरद ऋतु रक्त प्रकोप का काल माना गया है। अतएव शरद ऋतु में रक्तमोक्षण करना उत्तम है।

जिस दिन अधिक ठण्डी हवा न चलती हो, अधिक गर्मी न हो, दुर्दिन न हो, उस दिन रक्तमोक्षण करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में बादल न हो तब। ग्रीष्म ऋतु में शीत समय में (प्रातः सायं) तथा हेमंत ऋतु में मध्याह्न काल में रक्तमोक्षण करना चाहिए।

रक्तमोक्षण हेतु अनुशस्त्र का सामान्य परिचय-

1. जलौका (Leech)- जलौका का लौकिक नाम जौक है। जल में रहने के कारण ही जलौका कहते हैं यह जल से इसी में ही इसका पोषण होता है। ये प्रायः कीचड में, जल में, आनूप देश में प्राप्त होती हैं।

यह सर्वश्रेष्ठ अनुशस्त्र माना गया है।

आधुनिक मत के अनुसार जलौका का हैं जिनका हिरुडिनीया वर्ग में समावेश होता है। अंग्रेजी में इन्हें (Leech) लिच कहते हैं। इनके मुख में लालास्त्राव में एक विशिष्ट पदार्थ पैदा होता है जो रक्त को जमने नहीं देता है। यह एक हस्त प्रमाण तक दूषित रक्त निकाल देती है।

प्रकार (Types) - दो प्रकार की होती हैं-

(1) सविष जलौका

(2) निर्विष जलौका

ता द्वादशस्तांसा, सविषाः षट् तावत्य एव निर्विषाः।। (सु. सू. 13/10)

विभिन्न प्रकार की जलौकाएँ

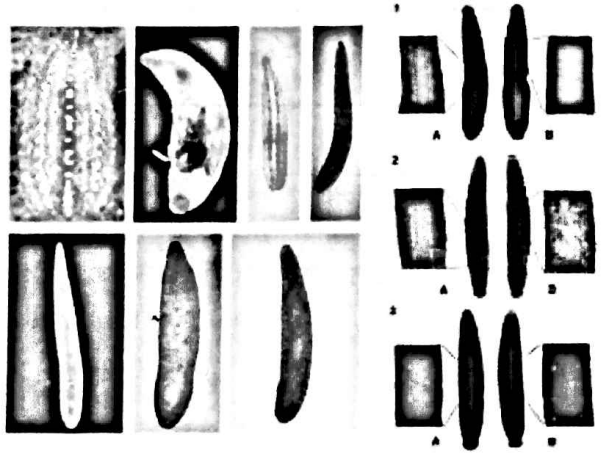

विभिन्न प्रकार की जलौका

(1) सविष जलौका–

इनका प्रयोग चिकित्सा में नहीं किया जाता है। इनकी उत्पत्ति विषैले मत्स्य, कीडे, मेंढक के सडे हुए गले हुए मल मूत्र से युक्त दुष्ट जल से होती है।

इनके दंश से शोथ, भयंकर कंडू, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, छर्दि, मद, अंगसाद आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

सविष जलौका 6 प्रकार की होती हैं–

तत्र सविषाः कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इंद्रायुधा सामुद्रिका गोचंदना चेति। तासु अंजनचूर्ण वर्णा पृथुशिराः कृष्णा, वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नत कुक्षिः कर्बुरा रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा। इंद्रायुधावदूर्ध्व राजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा, ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पकृतिचित्रा सामुद्रिका। गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचंदना चेति।। (सु. सू. 13/11)

(i) कृष्णा जलौका– यह कृष्ण वर्ण की तथा चौडे शिर वाली होती है।

(ii) कर्बुदा जलौका– यह जलौका मत्स्य (मछली) के आकार की होती है 'कुक्षि' से ऊपर उठी हुई होती है।

(iii) अलगर्दा जलौका– इनका मुख काला तथा दोनों पार्श्व फूले हुए तथा शरीर पर रेखाएँ होती हैं तथा रोम युक्त होती है।

(iv) इन्द्रायुध जलौका– इन्द्रधनुष के समान वर्ण वाली होती है।

(v) सामुद्रिका जलौका– ये किंचिद् काले या पीले रंग की होती हैं और कई रंग के बिन्दु युक्त फूलों के समान चित्रित होती हैं।

(vi) गोचन्दना जलौका– इनके नीचे का भाग बैल के वृषण के समान दो भागों में विभक्त रहता है।

2. निर्विष जलौका–

इनका चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। ये निर्मल व सुगंधित जल में रहती हैं इनकी उत्पत्ति कमल, शैवाल इनके सडने से होती है। ये दंश स्थान में शोथ, कंडू आदि उपद्रव नहीं करती हैं। ये 6 प्रकार की होती हैं–

कपिला पिंगला शंकुमुखी मूषिका पुंडरीकमुखी सावरिका चेति।। (निर्विषाः) तत्र–मनः शिलारंजिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिंगाशुगा च पिंगला यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी च शंकुमुखी, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका मुद्गवर्णा पुंडरीकतुल्यवक्त्रा, पुंडरीकमुखी। स्निग्धापद्मपत्रवर्णाष्टादशांगुलप्रमाणा सावरिका सा च पश्वर्थे। इत्येता अविषा व्याख्याताः।। (सु. सू. 13/12)

(i) कपिला जलौका– इनका वर्ण पार्श्व से मनःशिला समान तथा पीठ मूंग के वर्ण के समान होती है।

(ii) पिंगला जलौका– ये लाल पिंगल वर्ण की गोल आकार की शीघ्र चलने वाली होती हैं।

(iii) शंकुमुखी जलौका– यकृत खंड के समान वर्ण वाली, जल्दी से रक्त चूसने वाली तथा मुख शंकु समान होता है।

(iv) मूषिका जलौका– मूषक समान आकृति व वर्ण वाली तथा अप्रिय गंध (अनिष्ट) वाली होती है।

(v) पुंडरीकमुखी जलौका– मूंग के समान वर्ण वाली, श्वेत कमल समान विस्तृत मुख वाली होती हैं।

(vi) सावरिका जलौका– यह स्निग्ध कमल पत्र समान तथा 18 अंगुल लम्बी होती है।

जलौका संग्रहण एवं पोषण– तालाब में, झरनों में, शैवाल, पंकज युक्त क्षेत्रो से गीले चमडे द्वारा पकडा जाता है। पकड कर शुद्ध जल युक्त कांच पात्र या घडे में रखा जाता है।

जलौका का ग्रहण काल शरद काल बताया है। इस प्रकार पकडी हुई जलौका को बडे आकार के नये मटके में या कांच पात्र में तालाब का अच्छा पानी तथा कीचड डालकर उसमें रख दिया जाता है। इनको खाने के लिए शैवल, सूखा मांस, छोटे-छोटे कंदों का चूर्ण दिया जाता है। तथा जल में उगने वाली घास तथा पत्तियों को पोषण हेतु देते हैं।

दो-तीन दिन बाद घडे में पानी डालते है तथा 7 दिन पश्चात् घडे का पानी बदल देते हैं अथवा सात दिन बाद घडा बदल देते हैं।

जलौका साध्य रोग–

गुल्मार्शो विद्रधीन् कुष्ठ वातरक्त गलामयान्।
नेत्ररुग् विषवीसर्पान् शमयंति जलौकसः।। (अ. ह. सू. 26/35)

विभिन्न प्रकार की जलौकाएँ

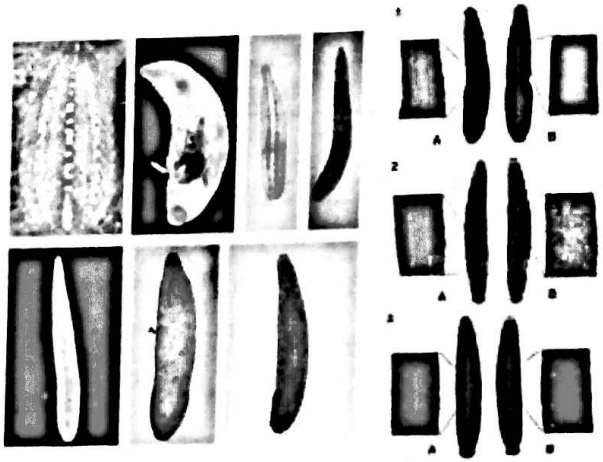

विभिन्न प्रकार की जलौका

(1) सविष जलौका–

इनका प्रयोग चिकित्सा में नहीं किया जाता है। इनकी उत्पत्ति विषैले मत्स्य, कीडे, मेंढक के सडे हुए गले हुए मल मूत्र से युक्त दुष्ट जल से होती है।

इनके दंश से शोथ, भयंकर दाह, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, छर्दि, मद, अंगसाद आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

सविष जलौका 6 प्रकार की होती हैं–

तत्र सविषाः कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इंद्रायुधा सामुद्रिका गोचंदना चेति। तासु अंजनचूर्ण वर्णा पृथुशिराः कृष्णा, वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नत कुक्षिः कर्बुरा रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा। इंद्रायुधावदूर्ध्व राजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा, ईषदमितपीतिका विचित्रपुष्पकृतिचित्रा सामुद्रिका। गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचंदना चेति।। (सु. सू. 13/11)

(i) कृष्णा जलौका– यह कृष्ण वर्ण की तथा चौडे शिर वाली होती है।

(ii) कर्बुदा जलौका– यह जलौका मत्स्य (मछली) के आकार की होती है 'कुक्षि' से ऊपर उठी हुई होती है।

(iii) अलगर्दा जलौका– इनका मुख काला तथा दोनों पार्श्व फूले हुए तथा शरीर पर रेखाएँ होती हैं तथा रोम युक्त होती है।

(iv) इन्द्रायुध जलौका– इन्द्रधनुष के समान वर्ण वाली होती है।

(v) सामुद्रिका जलौका– ये किंचिद् काले या पीले रंग की होती हैं और कई रंग के बिन्दु युक्त फूलों के समान चित्रित होती हैं।

(vi) गोचन्दना जलौका– इनके नीचे का भाग बैल के वृषण के समान दो भागों में विभक्त रहता है।

2. निर्विष जलौका–

इनका चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। ये निर्मल व सुगंधित जल में रहती हैं इनकी उत्पत्ति कमल, शैवाल इनके सडने से होती है। ये दंश स्थान में शोथ, कंडू आदि उपद्रव नहीं करती हैं। ये 6 प्रकार की होती हैं–

कपिला पिंगला शंकुमुखी मूषिका पुंडरीकमुखी सावरिका चेति।। (निर्विषाः) तत्र–मनः शिलारंजिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिंगाशुगा च पिंगला यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी च शंकुमुखी, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका मुद्गवर्णा पुंडरीकतुल्यवक्त्रा, पुंडरीकमुखी। स्निग्धापद्मपत्रवर्णाष्टादशांगुलप्रमाणा सावरिका सा च पश्वर्थे। इत्येता अविषा व्याख्याताः।। (सु. सू. 13/12)

(i) कपिला जलौका– इनका वर्ण पार्श्व से मनःशिला समान तथा पीठ मूंग के वर्ण के समान होती है।

(ii) पिंगला जलौका– ये लाल पिंगल वर्ण की गोल आकार की शीघ्र चलने वाली होती हैं।

(iii) शंकुमुखी जलौका– यकृत खंड के समान वर्ण वाली, जल्दी से रक्त चूसने वाली तथा मुख शंकु समान होता है।

(iv) मूषिका जलौका– मूषक समान आकृति व वर्ण वाली तथा अप्रिय गंध (अनिष्ट) वाली होती है।

(v) पुंडरीकमुखी जलौका– मूंग के समान वर्ण वाली, श्वेत कमल समान विस्तृत मुख वाली होती हैं।

(vi) सावरिका जलौका– यह स्निग्ध कमल पत्र समान तथा 18 अंगुल लम्बी होती है।

जलौका संग्रहण एवं पोषण– तालाब में, झरनों में, शैवाल, पंकज युक्त क्षेत्रो से गीले चमडे द्वारा पकडा जाता है। पकड कर शुद्ध जल युक्त कांच पात्र या घडे में रखा जाता है।

जलौका का ग्रहण काल शरद काल बताया है। इस प्रकार पकडी हुई जलौका को बडे आकार के नये मटके में या कांच पात्र में तालाब का अच्छा पानी तथा कीचड डालकर उसमें रख दिया जाता है। इनको खाने के लिए शैवल, सूखा मांस, छोटे-छोटे कंदों का चूर्ण दिया जाता है। तथा जल में उगने वाली घास तथा पत्तियों को पोषण हेतु देते हैं।

दो-तीन दिन बाद घडे में पानी डालते है तथा 7 दिन पश्चात् घडे का पानी बदल देते हैं अथवा सात दिन बाद घडा बदल देते हैं।

जलौका साध्य रोग–

गुल्मार्शो विद्रधीन् कुष्ठ वातरक्त गलामयान्।
नेत्ररुग् विषवीसर्पान् शमयंति जलौकसः।। (अ. ह. सू. 26/35)

जलौकावचारण से साध्य रोगों में गुल्म, अर्श, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, कंठरोग, नेत्ररोग, विषदष्ट, विसर्प आदि मुख्य हैं।

2. श्रृंग सामान्य परिचय– यह गाय का सींग है यह अवकाशयुक्त होने से इसका उपयोग चूषण विधि द्वारा कर रक्त निर्हरण में प्रयोग किया जाता है। श्रृंग ऊष्ण, मधुर तथा स्निग्ध होने से वात द्वारा दुष्ट रक्त के निर्हरण में प्रशस्त है।

श्रृंग 10 अंगुल तक रक्त का निर्हरण करता है।

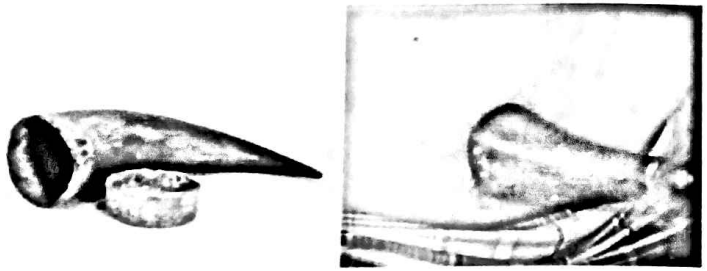

गौ श्रृंग

गौ श्रृंग लगाते हुए

श्रृंग चक्राकार और 7 अंगुल लम्बा होना चाहिए। इसके मूल भाग के छिद्र की प्रमाण अंगुष्ठ आकार का तथा अग्र भाग में छिद्र मूंग के प्रवेश योग्य होना चाहिए।

इसके मुख भाग में पिचु रखकर इसका प्रयोग करना चाहिए।

3. अलाबु सामान्य परिचय– अलाबु को लौकिक भाषा में लौकी/कद्दू कहा जाता है। यह लता का फल है। अलाबु का तुम्बी भी पर्याय होता है।

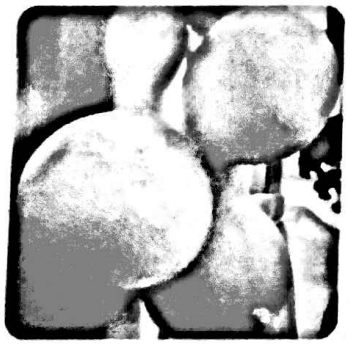

अलाबु

अलाबु कटु, रुक्ष, तीक्ष्ण होने के कारण कफदुष्ट रक्त के निर्हरण में प्रयोज्य है।

अलाबु 12 अंगुल तक दुष्ट रक्त का निर्हरण कर सकता है।

अलाबु दो प्रकार का होता है एक मधुर रस युक्त जिसका भोजन के रूप में (सब्जी बनाने में) प्रयोग होता है दूसरा तिक्तरस युक्त कडवा होता है इसका प्रयोग रक्तनिर्हरण हेतु किया जाता है।

4. घटी यंत्र सामान्य परिचय– घटिका या घटी यंत्र का कपिंग ग्लास के सदृश (Couping glass) प्रयोग है।

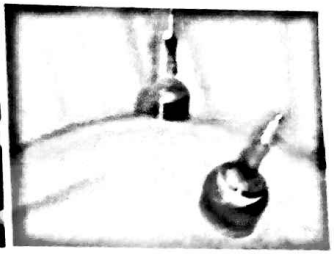

कपिंग ग्लास (रुक्ष) कपिंग ग्लास (रक्त)

यह घटीयंत्र या घटिका छोटे आकार का घडा होता है इस घडे में तृण, कुश आदि जलाकर निर्वात उत्पन्न कर प्रयोग किया जाता है।

आचार्य चरक ने इसका प्रयोग गुल्म प्रकरण में किया है। कठिन गुल्म का स्नेहन स्वेदन कर शिथिल होने पर उसका शस्त्रकर्म करने हेतु उसे सम्पूर्ण रूप से पकडने के लिए मूल में संलग्न स्तर को (Addherent surface) दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

अनुशस्त्र द्वार रक्तमोक्षण विधि– अनुशस्त्र वो है जो लोहादि धातु से बने हुए नहीं होते हैं। इनसे रक्तमोक्षण करना सुकुमारों के लिए हितकर होता है।

अनुशस्त्र द्वारा रक्तमोक्षण विधि को 3 चरणों में बांटा गया है–

1. पूर्वकर्म 2. प्रधान कर्म 3. पश्चात् कर्म

1. पूर्वकर्म (Poorva Karma)– इसमें निम्नलिखित कर्म होते हैं–

(i) रोगी परीक्षा– सर्वप्रथम यह निश्चय किया जाता है कि रोगी रक्तमोक्षण के योग्य है या नहीं। यदि योग्य है तो देश, काल, बल, शरीर, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति आदि का परीक्षण कर रक्तमोक्षण कर्म का निर्धारण करना चाहिए।

(ii) रोगी की तैयारी– रक्तमोक्षण से पूर्व रोगी का स्नेहन स्वेदन किया जाता है। रक्तमोक्षण का प्रयोग रोग की अवस्थानुसार या शरद काल में किया जाता है। रक्तमोक्षण से पूर्व मल मूत्रादि से निवृत्त कराकर रक्तमोक्षण स्थान का अभ्यंग स्वेदन करते हैं।

(iii) आतुर आहार व वेशभूषा– जिस रोगी का रक्तमोक्षण करना ही उसे लघु आहार दिया जाता है तथा रोगी वेशभूषा आराम दायक होनी चाहिए न अधिक तंग व न अधिक ढीली वेशभूषा होनी चाहिए।

(iv) रोगी का चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र एवं तापक्रमादि मापन : (Consent form and vital recording)– रोगी का रक्तमोक्षण कर्म करने से पूर्व रक्तमोक्षण में होने वाले उपद्रवों सहित सम्पूर्ण जानकारी रोगी को दे देनी चाहिए तथा रोगी की लिखित सहमति ले लेनी चाहिए। तथा जैविक मापन जैसे- तापक्रम, नाडी, श्वसन गति, वजन, रक्तमाप आदि ज्ञात कर अंकित कर लेते हैं तथा Hb%, CT, BT, HbsAg, HIV I, II आदि ज्ञात कर ही रक्तमोक्षण करते हैं।

(v) आवश्यक उपकरण एवं परिचारक– द्रोणी, भगोनी, तौलिया, औषध द्रव्य, गिलास, रस्सी, Bandage, ऊष्ण जल, एप्रेन, नेपकीन, नेत्रबंधन पट्टिका, रुई, दस्ताने, अभ्यंग हेतु स्नेह, नाडी स्वेदन यंत्र, स्वच्छ पात्र, दूसरा खाली पात्र, सुई, दस्ताने आदि का प्रबंध होना चाहिए। रक्तमोक्षण के लिए दो परिचारकों की आवश्यकता होती है।

(vi) औषध योग का निर्धारण– रक्तमोक्षण के रोगी व रोग प्रकृति के अनुसार तथा रक्तमोक्षण के समय आने वाली आपातकालीन स्थिति के निराकरण के लिए पूर्व में ही औषध योगों का चयन करते हैं।

2. प्रधान कर्म (Pradhan Karma)–

रक्तमोक्षण कर्म विधि से लेकर उपद्रव शमन तक की क्रिया प्रधान कर्म में आती है–

(i) रक्तमोक्षण विधि

(ii) रक्तमोक्षण के सम्यक् योग, अयोग, अतियोग विश्लेषण

(iii) उपद्रव शमन

(i) रक्तमोक्षण विधि (Method of Rakta mokshana) -- इसमें विभिन्न रक्तमोक्षण करने की विधि का उल्लेख किया जाता है जो निम्नलिखित हैं–

(अ) जलौकावचारण विधि (Method of leech application)– जलौकावचारण से पूर्व रोगी का स्नेहन स्वेदन किया जाता है। तत्पश्चात् प्रयोग के समय आतुर के रक्तमोक्षणार्ह अंग का विरुक्षण करना चाहिए, विरुक्षण हेतु गोमय चूर्ण या शुद्ध मृत्तिका का प्रयोग चाहिए जिससे जलौका त्वचा पर बैठकर ठीक प्रकार से रक्तपान कर पाती है। रोगी को उचित आसन में बैठा दिया जाता है।

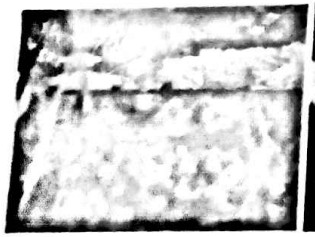

जलौका संग्रह पात्र

जलौका लेते हुए

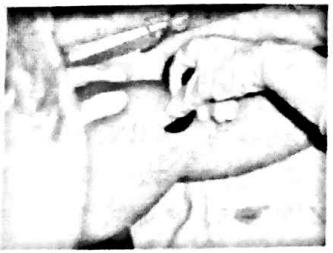

जलौका लगाते हुए

घोडे के खुर समान रक्त ग्रहण

रक्तपान करती जलौका

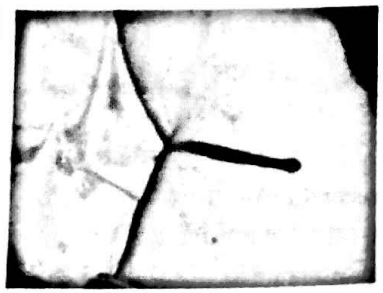

रक्तपान करती जलौका

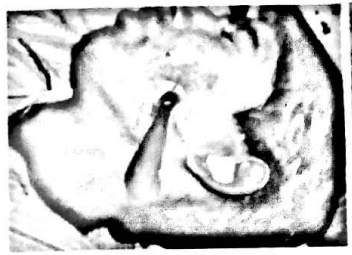

मुख पर जलौका प्रयोग

जलौका को आर्द्र रूई से ढकना

रक्तमोक्षण पूर्व जलौका शोधन:– प्रयोग पूर्व जलौका शोधन आवश्यक है इस हेतु प्रयोग योग्य जलौका को हल्दी और सरसों के कल्क से लिप्त करके जल के पात्र में रख देते हैं फिर उसे विगतग्लानि जान कर रोगी के दूषित स्थान पर रक्त चूषण के लिए लगा देना चाहिए।

उसके पश्चात् अर्थात् रक्तपान प्रारम्भ पश्चात् चिकने पतले और गीले सफेद पिचु या कपडे से ढक देनी चाहिए किन्तु उसके मुख को नहीं ढकना चाहिए।

.....श्लक्ष्ण शुक्ल आर्द पिचुप्लोतावच्छनां कृत्वा मुखमपावृणुयात्। अगृहणंत्यै क्षीरबिंदु शोणितबिंदुवा दद्याद्, शस्त्रपदानि वा कुर्वीत। यद्येवमपि न गृहणीयात् तदन्यां ग्राहयेत्।। (सु. सू. 13/19)

यदि जलौका रक्त को नहीं खींचती हो या उस स्थान पर नहीं चिपकती हो तो उस स्थान पर दुग्ध या रक्त की कुछ बूंदे डाल देनी चाहिए। या उस स्थान पर शस्त्र से पाछ लगा देना चाहिए। यदि ऐसा करने पर भी उस स्थान पर जलौका नहीं लगे तो दूसरी जलौका का प्रयोग करना चाहिए।

यदा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कंधं तथा जानीयात् गृह्णातीति, गृह्णातीं च आर्द्रंवस्त्रावच्छनां धारयेत् सेचयेच्च।। (सु. सू. 13/20)

जलौका का उस स्थान पर लगने पर यदि वह घोडे के खुर के समान मुख को करके या स्कन्ध को ऊँचा उठाकर रक्तपान करे तब यह जान लेना चाहिए कि वह रक्त ग्रहण कर रही है तब उसे गीला कपडा या पिचु से ढक देना चाहिए तथा उस पर कुछ पानी डाल देना चाहिए ताकि पिचु आर्द्र बना रहे।

यदि जोंक के दंशस्थान पर सुई चुभाने समान पीडा, खुजली हो तो यह जानना चाहिए कि वह शुद्ध रक्त का पान कर रही है तब वहाँ से उसे हटा देना चाहिए। यदि जलौका वहाँ से नहीं हटती है तो उस स्थान पर सैंधव लवण का चूर्ण छिडक देना चाहिए। जिससे वह हट जाती है।

अथ पतितां तंडुल कंडन प्रदिग्ध गात्रीं तैल लवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्तांगुष्ठांगुलीभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्तांगुष्ठांगुलीभ्यां शनैः शनैः अनुलोममनु मार्जयेदामुखात्, वाम–येत्तावद् सम्यग्वांत लिंगानि इति। सम्यग्वांता सलिल सरकन्यस्ता भोक्तुकामा सती चरेत्। सा सीदति, न चेष्टते, सा दुर्वान्ता, तां पुनः सम्यग्वामयेत्। दुर्वातांया व्याधिरसाध्य इंद्रमदो नाम भवति। अथ सुवातां पूर्ववद् सन्निदध्याद्।। (सु. सू. 13/22)

जलौका के हटने पर उसके शरीर पर चावलों की किणकी तथा मुख पर सैंधव लवण या सैंधव तैल मिश्रण मसल कर वाम हस्त के अङ्गुष्ठ और अंगुली से उसकी पूँछ पकड कर दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ और अंगुली से धीरे–धीरे पूंछ से

मुख तक अनुलोम (सीधे) रूप से दबाव देते हैं इस प्रकार सम्यक्वान्त के लक्षण प्रकट होने तक उसको वमन करवाते रहते हैं। जिससे उसके द्वारा पीया हुआ अशुद्ध रक्त सम्पूर्ण रूप से निकल जाता है।

ठीक प्रकार से वमन करायी हुई जलौका को जल के पात्र में रखने पर वह कुछ खाने की इच्छा से पानी में इधर-उधर विचरण करती हैं। यदि जलौका इधर-उधर विचरण न करें और जलपात्र में बैठ जाए तो उसे दुर्वान्त समझना चाहिए। फिर उसे पुनः ठीक प्रकार से वमन करवाना चाहिए। दुर्वान्ता जौंक को इन्द्रमद नाम की असाध्य व्याधि हो जाती है।

यदि पुनः उसी जलौका को प्रयोग में लाना हो तो उसे एक सप्ताह पश्चात् ही प्रयोग करना चाहिए।

दंश स्थान पर शतधौत घृत का प्रयोग करते हैं।

(ब) श्रृंग अवचारण विधि (Method of Shring application)– श्रृंगावचारण से पूर्व रुग्णांग पर प्रच्छान लगाकर क्षत करते हैं और कुछ रक्त को बहा देते हैं फिर श्रृंग के मुख पर पतला कपडा रस्सी से बांधकर वह मुख क्षत स्थान में लगाकर ऊपर वाले मुख से आचूषण कर रक्त का निर्हरण कराते है।

श्रृंग के मुख पर कपडा लगाने का हेतु यह है कि रोगी की त्वचा ओर सींग के किनारे इनके बीच वायु का प्रवेश नहीं हो पाता है जिससे चूषण हेतु निर्वात की स्थिति बन जाती है।

श्रृंग में अधिक निर्वात की स्थिति बनने से यह अवगाढतम स्तर से भी रक्त का निर्हरण कर देता है।

(स) अलाबु अवचारण विधि (Method of Alabu application)– अलाबु द्वारा अवगाढतर दूषित रक्त का निर्हरण होता है। स्नेहन स्वेदन किए गए रोगी के रुग्णांग पर सर्वप्रथम प्रच्छान कर क्षत करते हैं अथवा कूर्चादि से या शस्त्र से थोडा खुरचकर क्षत करते हैं फिर अलाबु को लगाते हैं।

अलाबु के अवकाश युक्त भाग में एक दीपक रख कर अलाबु को मुख की ओर से क्षत स्थान पर इस प्रकार रखें कि अलाबु के किनारे और रुग्णांग की त्वचा द्वारा हवा जाने का जरा सा भी स्थान न हो, इस प्रकार निर्वात स्थिति बन जाती है जिससे बाहर के वातावरण का दबाव अन्दर के वातावरण का दबाव इनके बीच विषमता उत्पन्न हो जाती है परिणामस्वरूप अलाबु के अन्दर इस दबाव को समान करने के लिए वह आचूषण करने लगता है। इस विधि द्वारा स्तरीय दूषित रक्त ही बाहर निकलता है।

साधारणतयाः 10 से 15 मिनट तक अलाबु को रुग्णांग पर रखकर उसे जोर से खींच निकाल लिया जाता है। उसके पश्चात् जात्यादि तैल, पद्मकादि तैल या व्रणोपचार औषधियों से व्रणोपचार किया जाता है।

4. घटी यंत्र अवचारण विधि (Method of Ghati yantra application)– घटिका या घटी यंत्र यह भी उपर्युक्त कपिंग ग्लास (Couping Glass) सदृश प्रयोग है। यह एक छोटे आकार का घडा होता है इस कुंभी या घडे में तृण अथवा कुशों से दीपक जलाकर इस कुम्भी को कपडे से वेष्टन कर गुल्म स्थान पर रख देते हैं थोडी देर में गुल्म मूल से चलायमान होकर घटी की ओर खींच जाता है फिर घटी निकालकर शस्त्र द्वारा गुल्म का भेदन कर दिया जाता है।

यद्यपि यह विधि गुल्म को मूल से अलग करने के लिए, खींचने के लिए निर्दिष्ट की गयी है तथापि इसका मुख्य उद्देश्य रक्त तथा गुल्म को खींचने के कारण रक्त निर्हरण करने के लिए इसका प्रयोग समझना चाहिए।

वर्तमान में रुग्णांग पर पांछना इत्यादि से क्षत करके और उस पर ताम्रपत्र रखकर उस पर कपूर की टिकी जलाकर, एक गिलास उल्टा रख देते हैं थोडी देर बाद इसको खींचकर निकाल लिया जाता है इसमें स्तरीय रक्त का निर्हरण होता है।

(ii) सम्यक् योग, अयोग, अतियोग विश्लेषण– रक्तमोक्षण होने के पश्चात् रोगी के उत्पन्न लक्षणों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करते हैं। हीन योग के लक्षण होने पर रक्तमोक्षण पुनः करते हैं अतियोग के लक्षण उत्पन्न होने पर रक्तमोक्षण की क्रिया को रोक कर स्तम्भन आदि रक्त रोधक क्रिया कर रोगी को विश्राम कराते हैं तथा सम्यक् योग के लक्षण होने पर आगे की प्रक्रिया करते हैं।

रक्त मोक्षण के सम्यक् योग लक्षण (Features of adequate Raktamokshana)

लाघवं वेदना शांतिर्व्याधिर्वेग परिक्षयः। सम्यग् विस्रावित लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा।। (सु. सू. 14/ 33)

- शरीर का हल्कापन।
- वेदना का शमन।
- व्याधि लक्षणों का शमन।
- मन की प्रसन्नता।

अयोग लक्षण (Features of inadequate Raktamokshana)–

तद्दुष्टशोणितम् अनिर्हीयमाणं कण्डू शोफ दाह राग पाकवेदना जनयेत्।। (सु. सू. 14/29)

- शरीर में दाह होना।
- शोथ की उत्पत्ति होना।
- पाक, राग का होना।
- शरीर में भारीपन का उत्पन्न होना।
- मन की अप्रसन्नता होना।
- व्याधि के लक्षणों का शमन न होना।

अतियोग के लक्षण (Features of excessive Raktamokshana)

तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमांध्यमधिमंथं तिमिर प्रादुर्भावं धातु क्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकांगविकारं तृष्णा दाहौ हिक्कां कासं श्वासं पांडुरोगं मरणंचापादयति।। (सु. सू. 14/30)

- शिर में दाह या पीडा होना।
- आध्मंता का होना।
- अधिमंथ का होना।
- तिमिर का होना।
- धातुक्षय का होना।
- आक्षेपक का होना।
- दाह का होना।
- पक्षाघात का होना।
- एकांगरोग का होना।
- हिक्का का होना।
- श्वास का होना।
- कास का होना।
- पाण्डु का होना।
- मरण भी संभव है।

(iii) उपद्रव शमन (Management of complications)– रक्तमोक्षण में आपात स्थिति होने पर उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा निम्नलिखित औषध योगों से की जाती है-

अल्प रक्तस्राव होने की स्थिति में– (सु. सु. 14/35)

एला, कर्पूर, तगर, देवदारु, वायविडंग, आगार धूम्र, हल्दी, अर्ककुंर, बड़ा करंज इनमें से जो भी प्राप्त हो वो सभी या तीन-चार औषधियों का चूर्ण करके सैंधव लवण व तिल तैल में अच्छी तरह मिलाकर व्रण के मुख पर इनको रगडे जिससे अप्रवृत्त रक्त स्रवित होता है।

उपर्युक्त द्रव्य प्रायः ऊष्ण, विष्यंदी, विलयन और प्रसारण करने वाले होते हैं इनका उपयोग रक्त वाहिनी के मुख का विस्तार करने के लिए किया जाता है।

रक्त की अतिप्रवृत्ति होने पर– (सु. सु. 14/36-37)

लौध्र, यष्टिमधु, प्रियंगु, पतंग, गैरिक, सर्जरस, रसांजन, शाल्मली पुष्प, शंख, शुक्ति, गेहूँ इनके चूर्ण को व्रणमुख पर लगाकर अंगुली से दबा देना चाहिए।

काकोल्यादि गण के क्वाथ को मधु और शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिए।

शीतल भोजन, शीतल आच्छादन, शीत परिषेक, शीत ग्रह, शीत प्रदेहों का उपयोग करना चाहिए।

मूर्च्छा होने पर– कायफल चूर्ण, पिप्पली, विडंग, सहिजन बीज, अपामार्ग बीज आदि का चूर्ण तीक्ष्ण नस्य रूप में प्रयोग करें।

3. पश्चात् कर्म (Paschat karma)– यह निम्न चरणों में होता है-

(i) आहार एवं विहार व्यवस्था *(ii) परिहार्य विषय*

(i) आहार एवं विहार व्यवस्था– रक्तमोक्षण के पश्चात् रोगी को दो मिनट तक उत्तान लिटाया जाता है फिर ग्रीवा, ललाट, पादतल आदि पर सुखोष्ण मर्दन किया जाता है। तथा व्रणबंधन कर दिया जाता है। आहार लघु जैसे यवागु, पेया आदि तथा अग्निदीप्त वर्धन आहार का सेवन करवाया जाता है। इस प्रकार का आहार धातु क्षय में प्रकुपित वात के लिए प्रशस्त होता है। रक्त वर्द्धक आहार का सेवन करना चाहिए।

अधिक ठण्डा व अधिक गरम आहार का सेवन नहीं करना चाहिए।

(ii) परिहार्य विषय– क्रोध, आयास, मैथुन, दिवास्वप्न, व्यायाम, वाहन की सवारी, बहुत अधिक अध्ययन, अधिक देर तक एक ही आसन में बैठे रहना, अति भ्रमण, अति शीत सेवन, अति आताप सेवन, विरुद्ध असात्म्य भोजन, अजीर्ण में भोजन इन सभी का एक महीने तक त्याग करना चाहिए।

वातप्रकोप के लिए घृत परिषेक करना चाहिए अथवा शीतल जल का परिषेक करना चाहिए तथा अग्नि की विशेषत: रक्षा करनी चाहिए।

रक्तमोक्षण द्वारा रक्त की मात्रा का ज्ञान

उक्तम्..... ***रक्तप्रस्थशैकैकस्यां सिरायां मोक्षणीय:, तदपि द्वाभ्यां दिवसाभ्यां, प्रस्थश्चात्र उत्तममात्रा।***

मध्यम मात्रा अर्धप्रस्थ:– अर्धप्रस्थश्चात्र कर्षाधिक षट्पलानि, एतदपि द्वाभ्यां अहोभ्यां स्रावणीयम्।

अधम मात्रा कुडवम्–अष्टमाषाधिकानि त्रीणि पलानि।। (सु. सू. 13/20 पर)

रक्तमोक्षण द्वारा साध्य रक्त का अधिक से अधिक प्रमाण 1 प्रस्थ होता है इससे अधिक रक्त नहीं निकालना चाहिए।

उत्तम मात्रा	1 प्रस्थ
मध्यम मात्रा	½ प्रस्थ (6 पल + 1 कर्ष)
हीन मात्रा	1 कुडव (3 पल 8 माष = 13 तौला)

रक्तमोक्षण हेतु 1 प्रस्थ 13 ½ पल = 54 तौला का होता है।

यह मात्रा दो दिन में रक्त स्राव में लेनी चाहिए ऐसा कहा है न कि एक दिन में उसी समय लेनी चाहिए।

शस्त्र विस्त्रावण विवरण

तत्रशस्त्रविस्त्रावणं द्विविधं। प्रच्छानं सिराव्यधनं च।। (सु. सु. 14/25)

शस्त्र द्वारा रक्त विस्त्रावण दो प्रकार का होता है।

(1) प्रच्छान (2) सिराव्यधन

1. प्रच्छान– पांछने को कहा जाता है इसे ही शस्त्रपद या पद भी कहा जाता है। पिण्डित रक्त में, त्वचा के स्तरीय उत्तान भाग का स्थानिक रक्तमोक्षण का उपाय प्रच्छान है।

2. सिराव्यधन (Siravedha)–

सिरा– सिरा द्वारा रसरक्त का संवहन होता है अर्थात् सरण कार्य होने से सिरा कहलाती है।

आचार्य सुश्रुत ने सिराओं की संख्या 700 बतायी हैं।

सिरा के चार प्रकार बताएँ हैं।वातवह, पित्तवह, कफवह ओर रक्तवह।

सिरा इन प्रत्येक सिरा की 175 शाखाएँ होकर कुल 700 सिरा संख्या होती हैं। ये सभी सिराएँ शरीर का पोषण करती हैं। इनका मूल हृदय होता है। सिरा में रक्त का प्रकोप होकर रक्तजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

सिराव्यधन द्वारा रक्तमोक्षण विधि (Method of Raktamokshana by Siravedha)

इसे से तीन चरणों में बांटा गया है-

(1) पूर्वकर्म (2) प्रधान कर्म (3) पश्चात् कर्म

सिराव्यधन द्वारा रक्तमोक्षण का पूर्वकर्म (Poorva karma of Siravedha)– यह निम्न प्रकार सम्पादित होता है।

सिराव्यधन के योग्य (Indication of Siravedha)–

(1) रक्त प्रदुष्ट सभी विकारों में सिरामोक्षण करना चाहिए। (2) विसर्प (3) विद्रधि

(4) प्लीहावृद्धि (5) गुल्म (6) अग्निमांद्य (7) ज्वर (8) कुष्ठ

(9) वातरक्त (10) मुखरोग (11) नेत्ररोग (12) रक्तपित्त (13) अम्लोद्गार

(14) भ्रम तथा

शीतोष्णस्निग्ध रुक्षाद्यैरुपक्रांताश्च ये गदा:।

सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति। रक्तजांस्तान् विभावयेत्।। (च. सू. 24/17)

(15) जो रोग शीत, ऊष्ण, स्निग्ध, रुक्षादि चिकित्सा करने पर भी शांत नहीं होते उनको रक्तज विकार समझकर रक्तमोक्षण करना चाहिए।

सिराव्यधन हेतु अयोग्य (Contra-indication of Siravedha)–

बाल स्थविर रुक्ष क्षतक्षीण भीरु परिश्रांत मद्यपाध्व स्त्रीकर्शित वमितविरिक्तास्थापित अनुवासित जागरित क्लीब कृश गर्भिणीनां कासश्वास शोष प्रवृद्ध ज्वराक्षेपक पक्षाघातोपवास पिपासा मूर्च्छा प्रपीडितानां च न सिरां विध्येत्। याश्चाव्यध्या:, व्यध्याश्चादृष्टा:, दृष्टाश्चायंत्रिता:, यंत्रिताश्चानुत्थिता: इति।। (सु. शा. 8/3)

(1) वृद्ध	(2) अत्यंत रूक्ष शरीर वाले	(3) क्षतक्षीण	(4) डरपोक
(5) श्रांत	(6) मद्यपीत	(7) कृश	(8) परिश्रम से थके हुए
(9) रात्रि जागरण किए हुए	(10) वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन बस्ति दिए हुए		
(11) गर्भिणी	(12) कास	(13) श्वास	(14) शोष
(15) तीव्र ज्वर	(16) आक्षेपक	(17) पक्षाघात	(18) पिपासित

(19) मूर्च्छित, से पिडित आतुरों का सिराव्यधन नहीं करना चाहिए।

इसी तरह वेधन योग्य सिरा न दिखाई देने पर, योग्य प्रकार से नियंत्रित न की हो ने पर नियंत्रित किए जाने पर भी यदि उन्नत न हो तो उसका वेधन नहीं करना चाहिए।

सिरावेधनार्थ काल– जब अति शीत न हो, अति गरमी न हो, तेज ठण्डी हवा न चलती हो उस समय सिरा का वेधन करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में जब दुर्दिन न हो, ग्रीष्म ऋतु में पूर्वाह्न में, शीत ऋतु में मध्याह्न में रक्तमोक्षण करना चाहिए। आत्यायिक स्थिति में स्नेहन स्वेदन कर कभी भी रक्तमोक्षण कर सकते हैं।

चिकित्सा सहमति घोषणा पत्र (Consent form)– सिरामोक्षण से पूर्व चिकित्सा में होने वाले उपद्रवों सहित कर्म की सम्पूर्ण प्रक्रिया आदि की जानकारी देकर आतुर से लिखित में सहमति ले लेनी चाहिए।

आवश्यक उपकरण व औषध प्रबंध– सिरावेध कर्म हेतु व्रीहिमुख शस्त्र, कुठारिका शस्त्र, त्रिकूर्च शस्त्र, आर्टरी फारसेप्स, चाकू विशुद्ध कॉटन कवलिका, कांचपात्र, बंधन हेतु रस्सी, पिचु, प्लोत, कपडा, यंत्रशाटक, नेपकीन, दस्ताने, गिलास, ऊष्ण जल पात्र, एप्रेन, नेत्र बंधन पट्टिका, निष्कासित रक्त के संग्रह हेतु माप अंकित पात्र, नाडी स्वेदन यंत्र तथा यदि रक्त का विश्लेषणात्मक परीक्षण करना हो तो स्कंदनावरोधी औषध को तैयार रखनी चाहिए।

सिरावेधन हेतु दो परिचारक की आवश्यकता होती है।

तापक्रमादि का मापन (Vital recording)- रोगी का वजन, रक्तचाप, हृदयगति, श्वासगति, तापक्रम आदि को सूचिबद्ध करते हैं तथा इसके साथ पूर्व में CT, BT, Hb, HbsAg, HIV I, II करवा लेने चाहिए।

2. आतुर सिद्धता (Preparation of patient)–

सिरावेधन के पूर्व रोगी का स्नेहन स्वेदन कराना चाहिए। सिरावेधन सर्वांग दोष में उपयोगी उपक्रम होने से केवल स्थानिक स्नेहन स्वेदन उचित नहीं होता।

आहार– वेध्य आतुर को द्रव प्रधान भोजन कराना चाहिए। रक्तमोक्षण से पूर्व मूत्रादि से निवृत्त कराकर लघु आहार दिया जाना चाहिए।

रोगी की वेशभूषा आराम दायक होनी चाहिए जो न तो अधिक तंग और न ही अधिक ढीली हो।

प्रधान कर्म (Pradhan karma)

इसमें निम्नलिखित कर्मों का समावेश होता है-

1. सिराव्यधनार्थ आसन
2. रोगानुसार वेध्य सिराओं का विचार
3. निरीक्षण व उपचार
4. दुष्टविद्ध सिराओं का निरीक्षण

1. सिराव्यधनार्थ आसन (Position of Siravedha)– सिरावेध के लिए भिन्न-भिन्न सिराओं के नियंत्रण के लिए भिन्न आसन में आतुर को रखना चाहिए।

(i) पाद सिरावेध– पैर का सिरावेध करने हेतु आतुर के पाँव समान स्थान पर रखना चाहिए तथा दूसरे पाँव को थोडा संकुचित कर ऊपर उठाकर रख कर वेध्य पाँव के नीचे यंत्रण शाटक (बांधने के लिए मजबूत वस्त्र पट) बांध देते है हाथ से गुल्फ के ऊपर जहाँ वेधन करना हो वहाँ प्लोत आदि से बांध उत्थापित सिरा का वेधन करते हैं।

सिरावेध द्वारा रक्त मोक्षण

(ii) हस्तसिरा वेधन– इसमें अंगूठे को मुट्ठी के अन्दर दबाकर अच्छी तरह आसन पर बैठाकर कर्पूर के पास वस्त्र से बांधकर उत्थापित सिरा का वेधन करना चाहिए।

(iii) शिरस्थ सिरावेध–घुटने योग्य आसन पर बैठावें टांगों को घुटने से मोडकर, दोनों कोहनियाँ घुटने पर रख कर अंगूठे को अन्दर दबाकर मुठ्ठियाँ बंदकर मुठ्ठियाँ गर्दन पर रखना चाहिए तत्पश्चात् गर्दन और मुठ्ठियों को वस्त्र से लपेट देते है। यह वस्त्र इस तरह लपेटें कि मुठ्ठियाँ और गर्दन को लपेटकर कपडे के दोनों छोर घुमाकर पीछें आ जावें। पीछे एक सहायक दोनों छोरों को बांए हाथ में पकडकर खडा रखते है और दाहिने हाथ का छोर धीरे-धीरे कसने को कहते हैं जब सिरा उत्थापित हो जाए तो उसका वेधन करते हैं।

अन्यत्र सिरावेध– श्रोणि और स्कंध के सिरावेध के लिए पीठ को झुकाकर बैठाकर सिरावेध करते हैं पेट और छाती में सिरावेध करना हो तो शिर को ऊँचा कर छाती और मध्य शरीर को फैलाकर उत्थापित सिरा का वेधन करते हैं।

जिह्वा में जिह्वाग्र को दबाकर सिरावेध करते हैं तालु और दंत की सिरावेध में मुख को खोलकर वेधन करते हैं।

गृध्रसी व विश्वाची में घुटने व कोहनी को संकुचित कर सिरावेध करते हैं।

सामान्यतया जिस स्थान की सिरा का वेधन करना हो वहाँ स्थान के ऊपर यंत्र शटक बांधकर सिरा को उत्थापित सिरा को यंत्र द्वारा वेधन करना चाहिए।

सिरावेध प्रमाण–

मांसल में एक यव प्रमाण में वेध करें अन्यत्र आधा यव प्रमाण में वेधन करें।

2. रोगानुसार वेध्य सिराओं का विचार– (सु. शा. 8/17, अ. ह. सू. 27/9-16)

क्र. सं.	रोग का नाम	वेध्य सिरा
1.	पाददाह, हर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, पाददारि, वात कटंक	क्षिप्र मर्म के ऊपर दो अंगुल पर
2.	पंगु, वातवेदना, क्रोष्ठक शीर्ष, खंज	जंघा में गुल्फ के ऊपर चार अंगुल पर सिरावेध
3.	गृध्रसी में	जानु संधि के ऊपर या नीचे 4 अंगुल पर सिरावेध
4.	विश्वाची	कर्पूर संधि के नीचे या ऊपर 4 अंगुल पर
5.	अपची	इन्द्र बस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे
6.	गलगंड	उरुमूल में रहने वाली सिरा का
7.	प्लीहा रोग	वामबाहु में कर्पूर संधि की सिरा का
8.	यकृदाल्युदर, कफोदर, कास, श्वास	दक्षिण बाहु में कर्पूर के पास या दक्षिण अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली के बीच की सिरा का
9.	प्रवाहिका, शूल	श्रोणि प्रदेश में चारों ओर की दो अंगुल क्षेत्र में
10.	मूत्रवृद्धि	वृषण के पीछे की सिरा का
11.	परिकर्तिका, उपदंश, शुक्रदोष	मेढ्र स्थित सिरा का
12.	जलोदर	वामपार्श्व में नाभि के नीचे चार अंगुल पर
13.	तृतीयक जवर	त्रिकसंधि के बीच की सिरा का वेधन
14.	चर्तुथक ज्वर	अंस संधि के नीचे किसी एक पार्श्व में स्थित सिरा
15.	अपस्मार	हनु संधि के मध्य की सिरा
16.	उन्माद	शंख और केशान्त के बीच में उरः प्रदेश में ललाट प्रदेश में
17.	तालुगत रोग	तालु सिरा
18.	कर्ण रोग	कान के ऊपर की सिरा
19.	नासारोग	नासाग्र सिरा
20.	तिमिर, अक्षिपाक, शिरोरोग, अधिमांस	नासा के समीप की सिरा, ललाट की सिरा तथा अपांग की सिरा
21.	अवबाहुक	दोनों अंस के बीच रहने वाली सिरा
22.	अन्तर्विद्रधि पार्श्वशूल	पार्श्व कक्षा तथा स्तनों के बीच की सिरा।

3. सिराव्यध में निरीक्षण उपचार– सिरा का सम्यक् प्रकार से वेधन हो जाने पर दुष्ट रक्त को बहाना चाहिए। सिरावेध पश्चात् रोगी के उत्पन्न लक्षणों का ध्यान से निरीक्षण करना चाहिए। पूर्व में वर्णित सम्यक्, हीन व अतियोग लक्षणों के अनुसार रोगी के लक्षणों का निरीक्षण करना चाहिए।

4. उपचार (Treatment)–

अल्परक्तस्त्राव में– एला, कर्पूर, कूठ, तगर, देवदारु, वायविडंग, आगार धूम, हल्दी, अर्क के अंकुर, करंज इनमें से जो औषध प्राप्त हो वो सभी या तीन चार औषधियों का चूर्ण करके उसमें सैंधव लवण व तिल तैल अच्छी तरह से मिलाकर व्रणमुख पर घर्षण करना चाहिए।

रक्त की अति प्रवृत्ति में–

1. समुद्रफेन भस्म व लाक्षा चूर्ण को मधु के साथ लेप करना चाहिए।
2. क्षार व अग्नि से दग्ध करना चाहिए।
3. काकोल्यादि गण के क्वाथ को मधु व शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिए।
4. लोध्र, मुलेठी, प्रियंगु, पतंग, गैरिक, राल, रसांजन, शाल्मली पुष्प, शुक्ति, गेहूँ इनके चूर्ण को व्रणमुख पर लगाना चाहिए।
5. शीतगृह, शीतल परिषेक, शीतल आच्छादन, शीत भोजन, शीत प्रदेहों का प्रयोग करना चाहिए।

रक्त रोधक उपाय

चतुर्विधं यदेतद्वि रुधिरस्य निवारणम्।
संधानं स्कंदनं चैव पाचनं दहनं तथा।। (सु. सु. 14/39)

1. संधान– इसमें कषाय द्रव्यों जैसे लौध्र, प्रियंगु, गैरिक, मोचरस, मुलेठी इन द्रव्यों का उपयोग संधान हेतु करते हैं।

2. स्कंदन– यह रक्त को जमाने का उपाय है। इसके लिए शीत द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। शीतल जल, परिषेक, बर्फ का टुकडा व्रण पर रखना, न्यग्रोधादि गण के कषाय का शीत परिषेक का प्रयोग करते हैं।

3. पाचन– भस्म व क्षार का प्रयोग पाचनार्थ किया जाता है।

4. दहन– उपर्युक्त सभी उपायों द्वारा यदि स्त्राव न रुकता हो तो दग्धकर्म करना चाहिए। दहन से सिरा संकोच होकर रक्तस्राव बंद हो जाता है।

दुष्टविध सिराओं का निरीक्षण

चिकित्सक व परिचारक की लापरवाही से, अनुचित शस्त्र प्रयोग से, अनुचित काल में, अनुभवहीन वैध द्वारा किया गया सिरावेध दुष्टवेधन कहलाता है। इससे निम्न लिखित बीस प्रकार के वेधन की दुष्टियाँ अथवा दुर्विद्ध सिराएं होती है।

1. दुर्विद्धा सिरा– सूक्ष्म शस्त्र द्वारा कम वेधन होना जिससे शोथ व रुजा उत्पन्न होती है।

2. अतिविद्धा– बडे शस्त्र द्वारा सिरा का अधिक कट जाना।

3. कुंचिता– अतिविद्धा समान लक्षण होते हैं इसमें सिरा टेढी होती है।

4. पिच्छिता– शस्त्र में धार न होने पर सिराएँ फैल जाती हैं।

5. कुट्टिता– बार-बार शस्त्र द्वारा ताडन करना।

6. अप्रसूता– शीत से, मूर्च्छादि रहने पर रक्त का स्त्राव न होना।

7. अत्युदीर्णा– बडे मुख वाले तीक्ष्ण शस्त्र से सिरा का अधिक कट जाना।

8. अन्तः विद्धा– किनारे से वेधन होने के कारण अल्प मात्रा में रक्त स्त्रवित होता है।

9. परिशुष्का– रक्तक्षय के कारण जो प्रकुपित वात से सूख गयी हो।

10. कूणिता–सिरा के चौथाई भाग में शस्त्र प्रवेश होने से अल्प रक्तस्त्राव होना।

11. वेपिता– बंधन ठीक से न होने पर जो सिरा हिलती है।

12. अनुस्थित विद्धा–बिना उठी हुई सिरा का वेधन करना।

13. शस्त्रहता– तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा सिरा का पूर्ण कट जाना।

14. तिर्यक विद्धा– सिरा का तिरछा कट जाना।

15. अपविद्धा– अनेक जगह से विद्ध होने के कारण।

16. अव्यद्धा– अवेध्य सिरा का वेधन होने पर।

17. विद्रुता– चलायमान सिरा के विद्ध होने पर।

18. धेनुका– बहुत कसकर बांधने से व्यध्य स्थान के ऊपर ही क्षत होने से पुनः पुनः रक्त स्राव होता है।

19. पुनः पुनः विद्धा– सूक्ष्मशस्त्र द्वारा अनेक बार विद्ध होने पर।

20. सिरा स्नाय्वस्थि मर्मसु विद्धा– सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि तथा अन्य मर्मो का साथ में वेधन होने पर रुजा, वैकल्य तथा मरण उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार दुष्ट वेधन से रक्त की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति, दुष्प्रवृत्ति तथा सिरा अवयव का वैगुण्य ये प्रमुख लक्षण होते हैं। इनका वेधन कर्म में बराबर निरीक्षण कर समायोजित चिकित्सा करनी चाहिए।

अतिरक्तस्त्राव में रक्त रोकने के लिए, अल्पस्त्राव में स्त्रवित करने के लिए तथा रुजा, शोथ, वैकल्य, व्रणकर्म तथा व्याधिहर चिकित्सा करते हैं।

पश्चात् कर्म (Paschat Karma)–

यह निम्नलिखित चरणों में पूर्ण होता है-

1 परिहार्य विषय 2. शमनौषधि चिकित्सा 3. तापक्रमादि को सूचीबद्ध करना।

1. परिहार्य विषय– रक्तस्त्रुति के बाद निम्नलिखित परिहार्य विषय नियमानुसार परित्याग कर देना चाहिए और कर्त्तव्य कर्मों का पालन करना चाहिए।

1. रक्तस्त्रुति के बाद अधिक ठण्डा व अधिक गर्म भोजन नहीं लेना चाहिए।

2. लघु-अग्निदीपन आहार का सेवन करना चाहिए तक्र, यूष, यवागु, पेया, ईषद् अम्ल या स्निग्ध आहार देना चाहिए। यह रक्तक्षयजन्य धातुक्षय में प्रकुपित वात के लिए उत्तम है।

3. वात प्रकोप होने पर घृत परिषेक अथवा शीतल जल का परिषेक करना चाहिए।

4. अग्नि की विशेषतः रक्षा करनी चाहिए।

5. रक्तवर्धक अन्नपान का सेवन करना चाहिए।

विहार– क्रोध, आयास, मैथुन, दिवास्वप्न, व्यायाम, वाहन सवारी, अति अध्ययन, एक ही आसन पर अधिक देर बैठना, अति भ्रमण, अति शीत, अति आतप का सेवन, विरुद्धाहार सेवन, अजीर्ण में भोजन इन सभी का त्याग कर देना चाहिए।

रक्तमोक्षण एक सप्ताह में एक बार, इस तरह तीन-चार बार किया जा सकता है।

वय के अनुसार 16 वर्ष से कम तथा 70 वर्ष से अधिक आयु वालों में सिरामोक्षण नहीं करना चाहिए।

स्वस्थ व्यक्ति का सिरामोक्षण नहीं करना चाहिए।

यदि प्रथम शुद्धि ठीक प्रकार से न हो तो उस दिन शाम को या दूसरे दिन रक्त का स्त्रावण करना चाहिए यदि बहुत शेष हो तो पुनः स्नेहन कराकर 15 दिन बाद रक्त स्त्रावण करना चाहिए।

2. शमनौषधि चिकित्सा–

जिस व्याधि के लिए रक्त मोक्षण किया हो उसकी रक्तमोक्षण पश्चात् शमन चिकित्सा करते हैं।

तापक्रमादि को सूचीबद्ध करना (Vital recording)– प्रधान कर्म बाद रोगी के पुनः तापक्रम, नाडी गति, श्वासगति, रक्तचाप, रक्तमोक्षण में निकले रक्त का माप आदि को सूचीबद्ध कर पूर्व तथा वर्तमान स्थिति का अन्तर ज्ञात कर वर्तमान स्थिति को ज्ञात करते हैं।

✕ ✕ ✕

अध्याय–9

PHYSIOTHERAPY

Introduction to Physiotherapy

Definition:

Physiotherapy is a discipline of medicine where physical methods such as remedial exercises, manipulation or massage or other electrical modalities are used to improve or relieve physical ailments.

* Physiotherapy is a science which is used to improve movement dysfunction, to promote the functions of human body and optimal health. It involves the maintenance, assessment, restoration of the physical functions and body performance.
* Physical therapy (also physiotherapy) provides treatment to individuals to develop, maintain and restore maximum movement and function throughout life. It is a remedial, supplementary procedure used along with oral medicines.
* Physiotherapy uses physical agents for the treatment of patients. The following lists are the common physical agents used in Physiotherapy.

A physiotherapist utilizes any of, and mostly a combination of, the following physical modalities for treating ailments:

Forms of Energy	Modalities
Mechanical Energy	Exercises & Massage
Heat Energy	Heat Modalities
Electrical Energy	Electrical appliances used for the treatment
Sound Energy	Modality using sound energy
Light Energy	Modalities using energy in the form of light
Electro-Magnetic Energy	Modality applying electro-magnetic energy

Branches of Physiotherapy:

Physiotherapy is a complex specialty, as it deals with all disciplines of medicine. Development in this field has resulted in a variety of sub-specialization as followes :-

1. Musculo-skeletal Physiotherapy
2. Cardio-Thoracic Physiotherapy
3. Neurological Physiotherapy
4. Physiotherapy in Rehabilitation
5. Physiotherapy in Obstetrics
6. Sports Physiotherapy
7. Physiotherapy in Fitness
8. Pediatric Physiotherapy
9. Orthopaedic Physiotherapy

1. Musculo-skeletal Physiotherapy- The musculo - skeletal Physiotherapy is a branch, where application of Physiotherapy is involved in the treatment of physical ailments concerned with structures surrounding the joint region such as bones, muscles, ligaments and bursa.

Some of the conditions dealt in this branch are : Muscle pain, strain, muscle tear, Joint stiffness, fractures, ligament strain, sprain, tear. Inability to walk, Inflammation of tendons and bursitis, joint pain, poor posture ,joint inflammation in case of osteoarthritis or rheumatoid arthritis.

2. Cardio-Thoracic Physiotherapy- Cardio - Thoracic Physiotherapy is concerned with the care of physical fitness of the heart and lungs. This treatment specializes in clearing away any chest secretions so as to enable and help an individual to breathe more normally, and help in adequate oxygen supply to the healing wound and the body. Ex. Chest physiotherapy.

3. Neurological Physiotherapy- Neurological Physiotherapy is concerned with the treatment arising from the problems in brain, nerves of the brain, spinal cord and nerves of the spinal cord. Some of the conditions are: Stroke, Paralysis, balance disorder, spinal cord injury, after a brain surgery and all nerve injuries

4. Physiotherapy in Rehabilitation- Physiotherapy and rehabilitation go hand in hand. Rehabilitation is nothing but bringing back a disabled individual to maximal normal condition using all his existing capacities. It involves maximal training and/or retraining of physical abilities in a disabled individual to achieve rehabilitation. Physiotherapy is essential for different types of physical disabilities caused by : Stroke, Polio myelitis, Cerebral palsy Amputee (person who has lost the limb), Spinal cord injury, Head Injuries

5. Physiotherapy in Obstetrics- Physiotherapy in obstetrics is concerned with postural care and physical fitness of women during pregnancy and after childbirth.

6. Sports Physiotherapy- Sports physiotherapy is specialized for sports person Guidance in sport activities like techniques of warming up period, cooling down period guidance in lifting techniques and also treatment of sport injuries are dealt.

Some of the conditions under this are: any muscle spasm (pain and tightness muscle), muscle strain, ligament sprain, tear, all other sport injury, rehabilitation of sp injuries, proper biomechanical analysis and correction of faulty techniques

7. Physiotherapy in fitness and postural care- This branch is concerned with guidance and care for physical fitness, good postural care and body muscle built.

Some of the conditions dealt are: Obesity/ Overweight, Poor Posture (hunch back) ,good muscle built

8. Pediatric Physiotherapy- This branch of Physiotherapy treatment is for the children born with physical disabilities and also for the children undergoing any surgery, requiring physiotherapy care.

Club foot before and after a surgery (In case of congenital heart disease), respiratory infections, fractures in children, Cerebral palsy (brain disorder affecting movement), Muscular Dystropy (Progessive muscular weakness)

9. Orthopaedic Physiotherapy- It is the oldest branch of physiotherapy and is oriented towards the treatment of Musculo – Skeletal ailments. It involves regaining appropriate health and function of structures surrounding the Joint regions and normalizing the biomechanics following any injury or Orthopaedic disease. The rehabilitation of orthopedically disabled individuals is also a major area of function. It is applied after fractures.

Treatment Modes of Physiotherapy

1.Manual methods of treatment

1.	Joint mobilization	2.	Manual stretching
3.	Therapeutic exercises	4.	Soft tissue manipulations
5.	Sporting and lifting techniques	6.	Taping
7.	Bandaging	8.	Strapping
9.	Postural drainage	10.	Aerobics and fitness guidance

2. Non-manual methods of treatment

1.	Short wave diathermy	2.	Microwave diathermy
3.	Ultrasound	4.	Interferential therapy
5.	Wax bath	6.	Cryotherapy
7.	Hydrotherapy	8.	Electrical stimulation
9.	Laser Therapy	10.	Infrared rays
11.	Contrast bath	12.	Hot packs
13.	Ultra violet rays	14.	Traction

Areas to work for Physiotherapist

Physiotherapy is often used as complimentary to other treatments but it is practiced individually as well. There are potentially three different areas of practice in Physiotherapy in cludes:-

1. Physiotherapy in conjunction with medical treatment - This method uses a combination of Physiotherapy and drugs to relieve the individual's physical problems.

2. Physiotherapy in conjunction with surgical treatment - Physiotherapy care before and after surgery is combined with the surgical procedure for an effective treatment

3. Isolated Physiotherapy - Sometimes physiotherapy treatment alone is sufficient to treat a Physical problem effectively

A. Shortwave Diathermy

This deep heat modality involves the therapeutic application of high-radiofrequency electrical currents. The electromagnetic field is usually at a radio frequency of 27.12 MHz

Hyperemia, sedation, and analgesia are the basic physiologic effects. The reduction in muscle spasm resulting from muscle relaxation is caused by an increased vascular supply to the treated area. A transverse technique is applied to treat a larger anatomic area, with the primary concentration at the midpoint between electrodes.

Proper application and tuning are required for this modality. The patient's electrical impedance becomes part of the impedance of the patient's own circuit. The patient's circuit must be set to resonance, so the patient's circuit frequency is equal to that of the machine.

The patient should feel only a comfortable heat. For therapeutic benefit, the tissue temperature should be elevated to between 40° and 45° C. Continuous supervision and observation of the patient are required.

At clinically relevant energies, shortwave diathermy can increase subcutaneous fat temperature by 15° C and muscle temperature by 4-6° C at a depth of 4-5 cm. Patients should be placed on a wooden table or chair when shortwave diathermy is applied. Th treatment time is usually 20-30 minutes.

The patient must be instructed to remain motionless. Because movement can aff the amplitude of the heat concentration being applied.

The shortwave diathermy unit should be tuned to low power as per patient toler and the meter readings should be properly documented. Heating localization depe the coupling of radio waves to the patient.

Indications

- Inflam
- S

Contraindications

- Malignancy
- Sensory loss
- Tuberculosis
- Metallic implants or foreign bodies
- Pregnancy
- Application over moist dressings
- Ischemic areas or arteriosclerosis
- Thromboangiitis obliterans
- Phlebitis
- Cardiac pacemakers
- Contact lenses
- Metal-containing intrauterine contraceptive devices
- Metal in contact with skin (eg, watches, belt buckles, jewelry)
- Use over epiphyseal areas of developing bones
- Active menses

Note:- In addition, extreme care must be used with pediatric or geriatric patients.

B. Ultrasound Therapy

Ultrasonography is a deep heating modality that uses high-frequency acoustic vibrations; the frequencies employed are above the human audible spectrum, that is, they are greater than 17,000 Hz.

Therapeutic Ultrasonography uses a frequency range of 0.8-1.0 MHz Ultrasonographic energy is generated by the piezo-electric effect; electrical energy is applied to a crystal, causing the crystal to vibrate at a high frequency and thereby produce ultrasound.

Ultrasound is delivered by continuous or pulsed waves (the goal being to produce nonthermal effects, such as streaming and cavitation) and provides a high heating intensity.

Ultrasonographic energy is absorbed and transformed into heat energy as it propagates through tissue. The therapeutic dose is computed by the power output (total W) and the size of the ultrasonographic head.

The usual initial dose is 1 W/cm2 and is adjusted to patient tolerance, as well as to the treatment goals. selection of the wave form (continuous or pulsed), intensity, and duration is according to the patient.

The patient should experience a comfortable heating or no sensation at all. The treatment time is 5-10 minutes or according to the disease, taking into account the patient's tolerance and comfort.

After the skin is cleansed, a coupling agent, such as an ultrasonographic gel, is required to provide effective conduction between the ultrasonographic head/transducer and the skin surface. To avoid hot spots, the ultrasonographic head must be continuously moved over the treatment site.

Therapeutic Ultrasonography Effect and Indication

- Temporary analgesia
- Increased peripheral blood flow
- Increased vascularity with associated hyperemia/inflammatory response
- Increased cell membrane permeability
- Peripheral nerve conduction changes (reversible conduction block with high-intensity ultrasonographic exposure)
- Relief of muscle spasms
- Osteoarthritis, tendinitis, and bursitis
- Ideal for providing deep heat to large joints
- Joint adhesions
- Calcific bursitis
- Joint contracture
- Hematoma resolution
- Neuromas
- Fibrosis
- Phantom limb pain
- Myofascial pain
- Reflex vasodilatation
- Ulcer debridement

The following factors influence the propagation of ultrasound in biologic tissue:

- Transmission
- Absorption
- Refraction
- Reflection

Two main effects of therapeutic ultrasound are :

(i) Thermal : Thermal effects are due to the absorption of the sound waves.

(ii) Non thermal effects : Non thermal effects are from cavitation, microstreaming and acoustic streaming.

Cavitational effects result from the vibration of the tissue causing microscopic air bubbles to form, which transmit the vibrations in a way that directly stimulates cell membranes. This physical stimulation appears to enhance the cell-repair effects of the inflammatory response. Effectiveness of therapeutic ultrasound for pain, musculoskeletal injuries, and soft tissue lesions remains questionable.

A form of ultrasonography known as phonophoresis is used to diffuse a topical medication, such as a steroid, analgesic, or anesthetic in a gel, into the subcutaneous tissue.

C. Tens (Transcutaneous Electrical Nerve Stimulation)

Transcutaneous Electrical Nerve Stimulation (TENS) currently is one of the most commonly used forms of electroanalgesia.

The currently proposed mechanisms by which TENS produces neuromodulation include the following:

- Presynaptic inhibition in the dorsal horn of the spinal cord
- Endogenous pain control (via endorphins, enkephalins, and dynorphins)
- Direct inhibition of an abnormally excited nerve
- Restoration of afferent input

The results of laboratory studies suggest that electrical stimulation delivered by a TENS unit reduces pain through nociceptive inhibition at the presynaptic level in the dorsal horn, thus limiting its central transmission.

The mechanism of the analgesia produced by TENS is explained by the gate-control theory proposed by Melzack and Wall in 1965.

The gate usually is closed, inhibiting constant nociceptive transmission via C fibers from the periphery to the T cell. When painful peripheral stimulation occurs, however, the information carried by C fibers reaches the T cells and opens the gate, allowing pain transmission centrally to the thalamus and cortex, where it is interpreted as pain.

The gate-control theory postulates a mechanism by which the gate is closed again, preventing further central transmission of the nociceptive information to the cortex. The proposed mechanism for closing the gate is inhibition of the C-fiber nociception by impulses in activated myelinated fibers.

Indications

- Neurogenic pain (eg, deafferentation pain, phantom pain), sympathetically mediated pain, postherpetic neuralgia, trigeminal neuralgia, atypical facial pain, brachial plexus avulsion, pain after spinal cord injury (SCI)

- Musculoskeletal pain - joint pain from rheumatoid arthritis andosteoarthritis, acute postoperative pain (eg, post thoracotomy), and acute post traumatic pain.
- Visceral pain and dysmenorrhea.

Contraindications

- Patients with a pacemaker
- Pregnancy
- Over the carotid sinuses due to the risk of acute hypotension through a vasovagal reflex.
- Over the anterior neck, because laryngospasm due to laryngeal muscle contraction may occur.
- Area of sensory impairment (eg, in cases of nerve lesions, neuropathies), where the possibility of burns exists.

D. Therapeutic Cold (Cryotherapy)

Cryotherapy has the primary effect of cooling tissue. Depending upon the application method and duration of this therapy, the basic physiologic effects include the following:

- Decreased local metabolism
- Vasoconstriction
- Reactive hyperemia
- Reduced swelling/edema
- Decreased hemorrhage
- Reduced muscle efficiency
- Analgesia secondary to impaired neuromuscular transmission

Pain reduction associated with the application of cold relaxes muscle spasm and minimizes upper motor neuron spasticity.

Immediate application of ice or cold packs for superficial burns and for burns on less than 20% of the total body surface area decreases pain, edema, erythema, and blistering.

For optimal results in cases of trauma, cold should be applied before significant edema and hemorrhage occur.

The most common methods of cold application include cold packs, cold immersion, ice massage, and cooling during exercise (cryokinetics).

The treatment known as spray and stretch consists of an application of cryotherapy with a vapocoolant spray, which then is followed by stretching of the involved muscles.

Therapeutic cold is applied for 5-20 minutes, followed by a rest period of 30 minutes. For the treatment of acute sprains/strains and postoperative care, application of cold is recommended for the first 24-48 hours.

For the treatment of deeper tissues or for prolonged periods of cold application, physician evaluation is essential to avoid complications.

The most useful local therapeutic cold applications include for the management of edema, muscle spasm, bleeding, and traumatic pain. The vasoconstrictive effect of therapeutic cold is beneficial for reducing post traumatic swelling and pain, as well as for reducing hemorrhage into soft tissues.

Indications

- Decrease swelling/edema following trauma - Cooling in water at 8 ° C for 30 minutes decreases edema.
- Burns
- Inhibit spasticity - In spasticity, the muscle must be cooled; this process takes 10 minutes in thin patients and up to 60 minutes in more obese persons.
- Muscle spasmacute inflammatory reaction
- Pain
- Produce reactive hyperemia
- Facilitate muscular contraction for various forms of neurogenic weakness.

Contraindications

- Hypertension (due to secondary vasoconstriction)
- Raynaud's disease
- Rheumatoid arthritis
- Local limb ischemia
- History of vascular impairment, such as frostbite or arteriosclerosis
- Cold allergy (cold urticaria)
- Paroxysmal cold hemoglobinuria
- Cryoglobulinemia or any disease that produces a marked cold pressor response

Cold packs applied to the abdomen causes increased gastrointestinal motility and gastric acid secretion; therefore, this treatment is contraindicated in patients with known peptic ulcer disease.

Interestingly, the application of hot packs to the abdomen produces the opposite effect.

Cold Versus Heat Therapy

Modalities for the application of heat and cold can be used effectively in various clinical conditions.

The similarities of these 2 modalities include the following:

- There is a decrease in muscle spasm secondary to musculoskeletal pathology or nerve root irritation.
- Cold effectively decreases the spasticity of upper motor neuron etiology; heat reduces spasticity, but the effects are short-lived and ineffective for muscle re-education.
- Heating and cryotherapeutic modalities cause analgesia.

Differences Between Physiologic Effects of Heat Therapy and Cryotherapy

- A longer time is necessary for cooled muscle to return to normal temperature. Because the application of heat increases blood flow, a heated muscle returns to normal temperature after a few minutes.
- The application of heat for the relief of muscle spasm is secondary to muscle hyperemia, which decreases muscle spasm – induced ischemia/pain and interrupts this vicious cycle.
- Increased tissue metabolism occurs with temperature elevation; metabolism is reduced by cryotherapeutic modalities.
- Heated muscle tissue can sustain a contraction for a shorter period of time; cooling to approximately 27 ° C increases the ability of muscle to sustain contraction.
- Blood flow increases with heat and decreases with cold.
- The tendency to bleed increases with heat and decreases with cold.
- The formation of edema is facilitated by heat and is decreased by cooling.
- Immediate cooling of burns is beneficial; however, frostbite is treated by quick warming.
- Joint stiffness decreases with heating but increases with cooling.
- Due to blood pooling, orthostatic hypotension is produced by the application of heat to large parts or all of the body. With cryotherapy, hypotension is decreased secondary to vasoconstriction.

E. Heat Therapy

Heat therapy, also called thermotherapy, is the application of heat to the body for pain relief and health. It can take the form of a hot cloth, hot water, ultrasound, heating pad, hydrocollator packs, whirlpool baths, cordless FIR heat therapy wrap, and many others.

Moist heat therapy has been believed to be more effective at warming tissues than dry heat because water transfers heat more quickly then air.

But recent studies indicate that vasodilation, which is the expansion of the blood capillaries (vessels) to allow more blood flow, is improved with dry Heat Therapy. Expansion of the blood capillaries is the primary objective of heat therapy.

Mechanism of action

Heat creates higher tissue temperatures, which produces vasodilation that increases the supply of oxygen, and nutrients and the elimination of carbon dioxide and metabolic waste.

Because heat is a vasodilator, it should be avoided in tissues with inadequate vascular supply, in case of acute injury, in bleeding disorders (because heat would increase bleeding), in tissues with a severe lack of sensitivity, in scars.

Indication :

Heat therapy is most commonly used for rehabilitation purposes. The therapeutic effects of heat include increasing the extensibility of collagen tissues; decreasing joint stiffness; reducing pain; relieving muscle spasms; reducing inflammation, edema, and aids in the post acute phase of healing; and increasing blood flow. The increased blood flow to the affected area provides proteins, nutrients, and oxygen for better healing.

Heat therapy is useful for muscle spasms, myalgia, fibromyalgia, contracture, bursitis.

Another use is the treatment of infection and cancers by the use of heat. Cancer cells and many bacteria have poor mechanisms for adapting to and resisting the physiological stresses of heat, and are more vulnerable to heat-induced death than normal cells.

F. Phototherapy

Phototherapy [Light therapy / Heliotherapy] consists of exposure to daylight or to specific wavelengths of light using lasers, light-emitting diodes, fluorescent lamps, dichroic lamps or very bright, full-spectrum light, usually controlled with various devices.

Light Therapy is a practice that involves "veritable forms of energy that include those involving electromagnetic fields".

The light is administered for a prescribed amount of time and, in some cases, at a specific time of day.

The common use of light therapy is associated with the treatment of skin, sleep disorder and some psychiatric disorders.

Light therapy directed at the skin is used to treat acne vulgaris and neonatal jaundice (Kernecterus).

Neonatal Jaundice

Light therapy is used to treat cases of neonatal jaundice through the isomerization of the bilirubin and consequently transformation into compounds that the newborn can excrete via urine and stools.

A common treatment of neonatal jaundice is the Bili light.

Light therapy which strikes the retina of the eyes is used to treat circadian rhythm disorders such as delayed sleep phase syndrome and can also be used to treat seasonal affective disorder, with some support for its use also with non-seasonal psychiatric disorders.

Applications of light therapy also include:

- Pain management
- Accelerated wound healing
- Hair growth
- Improvement in blood properties & blood circulation
- Sinus-related diseases and disorders

Many of these use low level laser therapy and red light therapy in the 620–660 nm range.

G. Lasers Therapy

LASER stands for light amplification by stimulated emission radiation. It's coherent light (ie when the phase of oscillations in electromagnetic wave remains unchanged for a long time).

The biological effect of cool lasers is based on photochemical processes resulting from the resonance interaction of light with absorbing molecules. It is also hypothesized that the Kerr effect can cause a torque causing rotation of particles until their dipole moment becomes aligned along the electrical vector of the field created.

Cool Larer may act by the following processes:

- LASER is absorbed by light sensitive proteins situated in cytoplasm and cell membranes (some involved in the respiratory chain)
- Changing local concentration and spatial orientation of particles
- Changing composition of particles
- Selectively increasing the partial temperature of larger particles
- Causing small reversible distortions of particle's structure (ie cellular massage)
- Stimulating conformational changes in enzymes and other proteins

Studies have shown the following biological effects:

- Increased healing rate in woulds and burns
- Decreased inflammatory edema
- Increased healing response of fractures
- Increased regeneration of damaged nerve by stimulating axon sprouting
- Modulation of nerve conduction velocity depending on treatment regime

H. Ultraviolet light therapy or ultraviolet Phototherapy

It is a form of treatment for certain skin disorders (including atopic skin disorder and vitiligo when used with psoralen to form the PUVA treatment) It consists mostly of the UVA band of ultraviolet light (fairly closely matching the ultraviolet output from the sun) and is usually delivered from a fluorescent bulb specially designed to output this frequency of ultraviolet.

This treatment is similar to the light from good quality solariums but differs from the mainly UVB ultraviolet band used to treat psoriasis

Safety

Ultraviolet light causes progressive damage to human skin. This is mediated by genetic damage, collagen damage, as well as destruction of vitamin A and vitamin C in the skin and free radical generation. Ultraviolet light is also known to be a factor in formation of cataracts.

Researchers have questioned whether limiting blue light exposure could reduce the risk of age-related macular degeneration.

Modern phototherapy lamps used in the treatment of seasonal affective disorder and sleep disorders either filter out or do not emit ultraviolet light and are considered safe and effective for the intended purpose, as long as photosensitizing drugs are not being taken at the same time and in the absence of any existing eye conditions.

Light therapy is a mood altering treatment, and just as with drug treatments, there is a possibility of triggering a manic state from a depressive state, causing anxiety and other side effects.

It is reported that bright light therapy may activate the production of reproductive hormones, such as testosterone, luteinizing hormone, follicle-stimulating hormone, and estradiol.

Contraindications of light therapy when a patient has a condition that might render his or her eyes more vulnerable to phototoxicity, has a tendency toward mania, has a photosensitive skin condition, or is taking a photosensitizing herb (such as St. John's wort) or medication.

Patients with porphyria should avoid most forms of light therapy. Patients on certain drugs like methotrexate or chloroquine should use caution with light therapy as there is a chance that these drugs could cause porphyria.

Side Effects

For sleep phase disorders include jumpiness or jitteriness, headache, and nausea.

I. Paraffin Wax Treatment

Paraffin wax treatment is useful for medical purposes as well as for skin care. It is also helpful for the treatment of joint pain caused by arthritis and also for excessive dry skin to rejuvenate their skin with intense moisturizing.

Paraffin wax is a colorless and odorless oily substance obtained from refined mineral crude oil. It is a non toxic substance and does not cause any adverse reaction when it comes in contact with skin. It has a very low melting temperature. Therefore, if the skin is soaked with the molten wax, it is not going to cause any burns or blisters. It does not get stuck to the skin as well. For all these reasons, it is considered as the most suitable for hot wax treatment.

Method

Wax is melted at 125°F in a vat or bathtub after that the part of the body that need treatment is dipped into the molten wax so that a thin layer of wax is formed on the surface of the skin. Then the wax is allowed to dry up. For a double coat, it is dipped into the liquefied wax once again. Then the coated part is covered with a non absorbent material. It will help to trap the heat of the wax inside. After about half an hour, when the wax has hardened, it is peeled off.

Benefits

It helps to bring down the aches and pains of the body, relaxes the sore and tired muscles,

- Hydrate the skin making it soft and smooth

J. Traction

Traction is the act of drawing or pulling and relates to forces applied to the body to stretch a given part or to separate 2 or more parts.

Currently, traction is used effectively in treatment of fractures.

In physiatric practice, use of traction often is limited to the cervical or lumbar spine with the goal of relieving pain in, or originating from, those areas.

The most common are mechanical, hydraulic or motorized, manual, and autotraction.

Mechanical forms of traction use a hydraulic or motorized pulley system with weights, along with a harness or sling device to attach to the patient's body.

Manual traction involves the therapist using his or her hands on the patient's body, with the body weight of the therapist providing the tractive force.

Autotraction is controlled by the patient pulling on bars or handles at the head of the table, without direct involvement of a therapist.

Gravitational traction with a tilt table and underwater variations of traction are also in clinical and home use but are less frequently employed than the other forms described.

Physiologic Effects of Traction

In the cervical spine, the most reproducible result of traction is elongation. In a classic study, Cyriax reported applying force of 300 pounds manually, with a resultant 1 cm increase in cumulative lumbar spine interspace distance.

Studies have shown that optimum weight for cervical traction to accomplish vertebral separation is 25 pounds. Additionally, 2-20 mm elongation of the cervical spine has been shown to be achievable with 25 or more pounds of tractive force.

Studies have demonstrated that anterior intervertebral space shows the most increase in cervical flexion of 30°.

Traction in the extended position generally is not recommended, because it is often painful and may increase risk of complications from vertebral basilar insufficiency or spinal instability.

Once friction is overcome in the lumbar spine, the major physiologic effect of traction is elongation. Investigators have reported widening of lumbar interspaces requiring between 70-300 pounds of pull.

This widening averaged up to slightly more than 3 mm at one intervertebral level. The length of time that the separation persists remains indeterminate, with studies documenting distraction durations of 10-30 minutes after treatment.

Data on dimensional and pressure changes of lumbar disks caused by traction are not conclusive. Decreases in interdiskal pressure with 50-100 pounds of traction have been documented. but evidence exists that some applications actually cause an increase in interdiskal pressure.

Therefore, evidence is inconclusive, with much information favoring at least temporary reduction of the herniated component of an abnormal lumbar disk with concomitant traction.

Cervical Traction

Cervical traction generally is accomplished with a free-weight and pulley system or an electrical, motorized device. Adequate pull is achieved by using a head or chin sling attached to a system that can provide pull in a cephalic direction.

Motorized devices are applied easily but require the patient to be attended. Free-weight and pulley systems often are used in the home with 20 or more pounds of water or sand and a pulley system attached to a door. If a tractive force of only 20 pounds is possible, the system is likely to fail to achieve therapeutic results.

Lumbar Traction

In the lumbar spine, adequate pull with weights and pulleys or motorized devices to achieve vertebral distraction usually can be obtained with the proper apparatus. Generally, a harness is attached around the pelvis (to deliver a caudal pull), and the upper body is stabilized by a chest harness or voluntary arm force (for the cephalic pull).

Motorized units have the advantage of allowing intermittent traction with less practitioner intervention. If the goal of tractive force is to distract lumbar vertebrae, 70-

150 pounds of pull usually are needed. Friction between the treatment table and patient's body usually requires tractive force of 26% of the total body weight before effective traction to the lumbar spine is possible.

Many traction devices use a split table that eliminates the lower body segment friction.

Body weight theoretically should provide enough pull to distract lumbar vertebrae and eliminate mechanical devices.

Gravity traction is applied almost exclusively in the lumbar region. After 10 minutes of inversion traction, documented increases in intervertebral separation are noted; however, side effects also are frequently reported, including increased blood pressure, periorbital petechiae, headaches, blurred vision, and contact lens discomfort.

According to the Agency for Health Care Policy and Research (AHCPR) "spinal traction is not recommended in the treatment of acute low back problems."

Indications for Traction

Studies strongly suggest that traction does not produce significant influence on long-term outcome of neck pain or low back pain.

Practitioners who rely on sound scientific advice may use traction rarely. Practitioners who are receptive to empirical treatments may be amenable to the concept that traction may separate vertebrae and decrease the size of herniated disks, thereby benefiting radiculopathy; however, no consensus has been reached among clinicians or researchers in this area.

Contraindications to Traction

No scientific reports clearly delineate contraindications for traction. The practitioner must rely on empirical information and opinion.

Old age has been cited as a relative contraindication.

Most practitioners agree that contraindications to cervical or lumbar traction include, but may not be limited to, the following:

1. Ligamentous instability
2. Osteomyelitis
3. Diskitis
4. Primary or metastatic tumor
5. Spinal cord tumor
6. Severe osteoporosis,
7. Clinical signs of myelopathy
8. Severe anxiety, and
9. Untreated hypertension.

Relative Contraindications:

1. Midline herniated nucleus pulposus
2. Acute torticollis
3. Restrictive lung disease
4. Active peptic ulcer
5. Hernia
6. Aortic aneurysm, and
7. Pregnancy.

x x x

अध्याय–10

Emergency Managment

A. Hypovolemic Shock

Prehospital Care

The treatment of patients with hypovolemic shock often begins at an accident scene or at home. To prevent further injury, transport the patient to the hospital as rapidly as possible, and initiate appropriate treatment in the field. Direct pressure should be applied to external bleeding vessels to prevent further blood loss.

- Prevention of further injury applies mostly to the patient with trauma. The cervical spine must be immobilized, and the patient must be extricated, if applicable, and moved to a stretcher. Splinting of fractures can minimize further neurovascular injury and blood loss.
- Although in selected cases stabilization may be beneficial, rapid transport of sick patients to the hospital remains the most important aspect of prehospital care. Definitive care of the hypovolemic patient usually requires hospital, and sometimes surgical, intervention. Any delay in definitive care, eg, such as delayed transport, is potentially harmful.
- Most prehospital interventions involve immobilizing the patient (if trauma is involved), securing an adequate airway, ensuring ventilation, and maximizing circulation.
- In the setting of hypovolemic shock, positive-pressure ventilation may diminish venous return, diminish cardiac outcome, and worsen the shock state. While oxygenation and ventilation are necessary, excessive positive-pressure ventilation can be detrimental for a patient suffering hypovolemic shock.
- Appropriate treatment usually can be initiated without delaying transport. Some procedures, such as starting intravenous (IV) lines or splinting of extremities, can be performed while a patient is being extricated.

Emergency Department Care

Three goals exist in the emergency as follows

(1) Maximize oxygen delivery - completed by ensuring adequacy of ventilation, increasing oxygen saturation of the blood, and restoring blood flow.

(2) Control further blood loss.

(3) Fluid resuscitation.

(i) Maximizing oxygen delivery- The patient's airway should be assessed immediately upon arrival and stabilized if necessary. The depth and rate of respirations, as well as breath sounds, should be assessed. If pathology (eg, pneumothorax, hemothorax, flail chest) that interferes with breathing is found, it should be addressed immediately. High-flow supplemental oxygen should be administered to all patients, and ventilatory support should be given, if needed. Excessive positive-pressure ventilation can be detrimental for a patient suffering hypovolemic shock and should be avoided.

(ii) Controlling further blood loss- Control of further hemorrhage depends on the source of bleeding and often requires surgical intervention. In the patient with trauma, external bleeding should be controlled with direct pressure; internal bleeding requires surgical intervention. Long-bone fractures should be treated with traction to decrease blood loss.

(iii) Resuscitation- Whether crystalloids or colloids are best for resuscitation continues to be a matter for discussion and research. Many fluids have been studied for use in resuscitation; these include isotonic sodium chloride solution, lactated Ringer solution, hypertonic saline, albumin, purified protein fraction, fresh frozen plasma, hetastarch, pentastarch, and dextran

B. Dehydration Management

Fluids –

(A) Solution Based:

(A1)Ringer lactate: Full strength 1ampoule in 500 ml glucose

(A2)Isolyte M is suitable rehydration fluid in infants

(A3) Glucose –Saline IV

(B) Quantity Based-

(B1) Assesment of Fluid loss

Maintenance fluid requirements in children

Weight	Daily requirments
3-10 kg	100ml/kg
10-20kg	1000+50ml for each kg above 10kg
>20kg	1500+20ml for each kg above 20kg

(B2) Assesment of type of dehydration by estimation of Serum Electrolyte

Type	Deficit Sodium	Deficit Potassium
Isonatramic	8-10mEq./Kg	8-10 mEq./Kg
Hyponatramic	10-12 mEq./Kg	8-10 mEq./Kg
Hypernatramic	4 mEq./Kg	5-8 mEq./Kg

WHO Solution Formula: Oral Rehydration Therapy

Contituents	Gm/L
Sodium Chloride	3.5
Sodium Bicarbonate	2.5
Potassium Chloride	1.5
Glucose	2.0

C. Rectal Bleeding

Regardless of the source of bleeding, treatment of significant blood loss will begin by stabilizing the patient's condition.

- Initially, oxygen will be provided to the patient and the heart will be monitored. An IV will be started to administer fluids and for a possible blood transfusion.
- Further treatment options will depend on the suspected source of bleeding. It is likely a specialist such as a general surgeon, gastroenterologist, or colorectal surgeon will become involved in the treatment plan.
- Admission to the hospital is required when a marked amount of blood loss has occurred, if bleeding has not stopped, or if vital signs have not become normal.

D. Cardio respiratory Arrest

When a patient stops breathing suddenly

1. Confirm the absence of pulse and heart sounds quickly. (But do not waste time searching them).
2. Start external cardiac massage 60 times/minute.
3. Spread a Handkerchief or gauze over the patients mouth, and give mouth-to-mouth respiration after every 4th heart massage. Use Ambu's bag if available.
4. If Patient is on a soft bed or spring loaded cot, then cardiac massage will not be effective. Shift him to a hard Surface.
5. After giving cardiac massage & breathing for 1 minute, take short break to give injections. Never leave the patient without cardiac massage & breathing for > 2 mins.

Drug Treatment

1. Inj. Dopram (Repiratory Stimulant) I. V.
2. Inj. Efcorlin I. V. or Decadron or Bethesol (Steriod)
3. Inj. Sodabicarb I. V.
4. If heart has not started beating after cardiac massage.

Inj. Adrenalin intracardiac followed by cardiac massage.

If with this vigorous & quick treatment, heart starts beating or breathing starts, shift the patient to a Hospital immediately, maintaining Heart and Respiration on the way.

Special Note :-

- Every Nursing home & Clinic should have a Ambu Bag with face mask for artificial respiration.
- If the patient is young or child, try maximm efforts to resuscitate, because young hearts recover well.
- The most important thing to remember during resusciation is the critical-3 minute period. At no time, the patient should be left without heart beat or respiration for more than 3 minutes. Particularly remember this, when time is lost in filling injections, searching veins etc.
- You are dealing with a dying patient. Relatives are tense and under psychological pressure. Quickly note who is the responsible relative, tell him clearly that patient is dying and only then start resuscitation. Other wise you may be blamed for doing something wrong to the patient.
- Order all relatives to be out of the room, because resuscitative procedures look very harsh to non-medical persons.

E. Unconscious Diabetic Patient

The Dilemma is Hypoglycemia or Hyperglycemia?

Try to get a hint from History and Examination.

1. History :- If patient has missed his meals, or undergone severe exertion, if he had sweating & hunger, and if he has become unconscious suddenly them he is in hypoglycemic coma.

On the contrary, if he had not taken his regular tablets or insulin, if he had fever or any illness and if he has lost consciousness gradually, then he is in Hyperglycemic Coma.

2. Clinical Picture :- If Patient is breathing quietly, pulse is slow & bounding, then he is in Hypoglycemic Coma.

If Patient is febrile, looks toxic. Pulse is feeble & fast and Breathing is rapid, deep with sweet odour, then he is in Hyperglycemic Coma.

3. Blood Sugar Strips :- If available, will make the diagnosis clear.

In case of doubt (hypo or hyper?)

1. Inj. 25% glucose I. V. stat.

A. If Patient starts waking up

2. Give 25% glucose till he is alert.
3. Then I. V. 10% dextrose drip + Oral sweets.

4. Observe the patient for 6 hrs. till the effect of hypoglycemic drugs is over.

B. If Patient does not wake up,

Refer to a physician.

Diabetic coma must be managed in a Hospital.

Note:- Hypoglycemia, when prolonged, causes permanent brain damage. So when in doubt, give of 25% glucose.

F. Suspected Myocardial Infarction

- Patient with sever chest pain & sweating.
- Middle aged patient with sudden breathlessness or hypotension.

When myocardial infarction is suspected, Do not waste time. Shift immediately to a physician or Hospital.

Immediate Measures :

1. Allow no exertion like walking or siting. Make the patient lie down quietly.
2. Inj. Morphin IM. stat or I. V. if pain is severe and patient is restless. or inj. Pethidine IM/IV or Inj. Fortwin IM/IV. or Inj. Norphin IM. (Narcotic Analgesics)
3. Tab Isordil (Isosorbide) sublingual stat.
4. Tab Disprin (Aspirin) stat
5. If BP is low,
   i. Inj. Betnesol I. V. (Steroid)
   ii. Inj. Mephentin I. V.
6. Shift the patient on stretcher to Hospital/physician, confirm Diagnosis by ECG, SGOT,

If Physician is not immediately available

1. Complete Bed Rest.
2. Inj. Norphin I. V. + S. O. S. if pain.
   - If pain is severe, Inj. Pethidine/Morphin.
3. Tab Isordil sublingual S. O. S.
4. Tab Disprin (Aspirin/Antithromotic) or Tab Ticlovas (Ticlodipin)
5. Tab Cardiwell (Dypyridamol)
6. Tab (Tranquilliser/Diazepam) calmpose

As Soon as diagnosis is confirmed :

7. Inj. Urokinase (Fibrinolytic) slow I. V.
8. Inj. Heparin followed by Oral Anticoagulants to be given by cardiologist only, if indicated.

- In a diabetic patient, Chest pain may be mild or absent. Sudden sweating, unexpected hypotension, restlessness, unesainess in chest should raise a suspicion of Heart attack.

G. Acute Hypotension

When B. P. has fallen below 70mm Systolic

1. Give Headlow position.
2. Start Intravenous drip of Ringer's Lactate or DNS and let it run fast.
3. Inj. Efcorlin (Hydrocortisone) I. V. stat
4. Inj. Mephentin I. V. stat & S. O. S.
5. Inj. Sodabicarb I. V. (to correct acidosis).
6. If there is evidence of Infection.
   Inj. Cefazolin (Higher antibiotic) I. V. stat.
7. If myocardial infarct is supected.
   i. Inj. Fortwin IM/IV stat.
   ii. Tab Isordil Sublingual stat.
   iii. Tab Disprin 1 stat.
   iv. Shift immediately to Hospital.

Special Note:-

- When BP is below 70mm systolic. Think about
  1. Gastroenteritis.
  2. Myocardia infarction.
  3. Septic shock, due to severe infection like peritionitis.

H. Watery Diarrhoea & Hypotension

1. Start IV drip of Ringer's Lactate.
   Push I. V. Fluids till BP rise above 100mm.
2. Inj. Efcorlin (Hydrocortisone) I. V. stat or Inj. Decadron or Inj. Betnesol.
3. Inj. Gentamycin I. V. (Injectible antibiotic).
4. Tab slfaguanidine (intestinal antibiotic)
5. Tab Lomotil. (Antidiarrhoeal)
6. Tab Spasmindon. (anti spasmodic)

If BP dose not rise after pushing 3-4 bottles, it is safer to refer the patient to a Hospital.

- In a patient with Diarrhoea & Dehydration. NEVER GIVE 5% DEXTROSE. Give Electrolytes- DNS, RL or NS.

I. When BP is > 200MM Systolic

Acute rise of Blood pressure is potentially very dangerous, and can lead to hemiplegia due to cerebral hemorrhage.

1. Immediate and Complete Bed rest.
2. Cap Depin (Nifedipine) punctured and squeezed sublingually-
   - May be repeated after 15 mins.
3. Inj. Calmpose (Diazepam=Tranquilliser) IM stat.
4. Simultaneously, start anti-hypertensive treatment. eg. Tab Aten-(Atenolol/ Betablocker) or Tab Envas (Enalapril/ACE Inhibitor)

Subsequently

i. Adjust the doses of anti-hypertensive drugs.

ii. Salt free diet.

iii. Instruct the patient to be regular in treatment and check up.

J. Breathlessness with Wheezing

Acute exacerbation of Bronchial Asthma

1. Inj. Deriphyllin Im stat (Theophyllin+Etophyllin)
2. Asthalin inhaler (Salbtamol)

If no response, of if attack is severe,

3. Inj. Aminophyllin 25% glucose IV x very slowly.

   OR Inj. Adrenalin subcut x in children and young adults.
4. Oxygen by Nasal catheter or mask.

If there is no relief in 10 minutes.

1. Repeat Inj. Aminophyllin slow I.V. or Adrenalin S. C.
2. Inj. Decadron (Dexamethasone or Betamethasone or Hydrocortisone) I. V.
3. Inj. Gentamycin (Respiratiory antibotic) I. V.
4. Tab Calmpose (Tranqilliser) 1 stat & S. O. D.
5. Oxygen by nasal catheter or mask.

If there is no relief still

1. Refer to a Physician.
2. Start Aminophyllin drip - (Aminophyllin in bottle of 5% dextrose)
3. Inj. Sodabicarb slow I. V. injection.
4. Repeat Inj. Decadron as required.

After the attack subsides, start oral & inhaled Bronchodilator drugs.

K. Breathlessness Without Wheezing

If pulse is very feeble-? Left ventricular failure. If Liver is palpable, tender with Leg Edema-? C. C. F. If Only lung signs-Primary Lung disease.

IF L. V. F.

1. Oxygen
2. Inj. Morphin IM or Eortwin/Norphin
3. Inj. Betnesol IV or Decadron/Hydrocortisone
4. Inj. Lasix I. V. (Frusemide)
5. Inj. Aminophyllin +25% dextrose slow I. V.
6. Refer to Hospital to rule out Myocardial Infarct.

If C. C. F.

1. Propped up position.
2. Oxygen.
3. Inj. Aminophyllin +25% Dextrose x slow I. V. or Inj. Deriphyllin 2cc IM
4. Inj. (Frusemide) Lasix I. V. Inject IM if BP is low.

If Lung Disease,

1. Oxygen.
2. Inj. Aminophyllin +25% Dextrose x slow I.V. or Inj. Deriphyllin IM stat.
3. Inj Decadron I.V. stat.
4. Get X-ray Chest as early as possible to decide further line of treatment.

L. Severe Hemetemesis or Hemoptysis

Step 1 : Quickly Judge the source of bleeding

Hemoptysis	**Hemetemesis**
1. If H/o cough, breathlessness expectoration	1. If H/o epigastric ie. ulcer like pain. If H/o alcoholism & cirrhosis.
2. If Blood is coughed out & is mixed with sputum.	2. If Blood is vomited out and is mixed with food particles.
3. If Blood is Bright red, frothy with sputum.	3. If Blood is coffee ground . But it may be fresh red is variceal bleeding.
4. Litmus paper= alkaline reaction	4. Litmus test=acid reaction

Step II : Start 18 No. I. V. Line

1. Start R-L or DNS, using 18 No. scalp vein needle (or 20 No.) and let the I. V. run in very fast.
2. If lot of blood is lost, start Hemacele/Dextran. (Plasma expanders)
3. Make arrangements to shift the patient to a Hospital with Blood Transfusion facilities.

Step III : Measures to stop bleeding.

1. Inj. Calcim gluconate slow I. V. stat (Calcium)
2. Inj. Dicynene (Ethamsylate) I. V. stat or Inj. Stryptochrome IM stat (Adrenochrome)
3. Inj. Morphin (Narcotic analgesic) IM stat
4. Inj. Decadron (Dexamethasone) I. V. stat

If Hemetemesis

1. Ryle's tube and cold water stomach wash.
2. Inj. Ranitidine I. V.

If Hemoptysis.

1. Inj. Cefazolin I. V. (Higher Antibiotic)
2. X-ray Chest and if hilar shadow, then Bronchoscopy.
3. Anti-TB treatment, if Tuberculosis.

M. Temperature>104°F

1. Tepid sponging with towels soaked in cold water. Mix a small quantity of alcohol or equ d'cologne to the water to enhance cooling effect. Do not use ice cold water.
2. Ice-cap over the forehead.
3. Inj. Calpol IM stat. (Paracetamol)
4. Tab Crocin 2 stat and 1 S. O. S. after 2-3 hrs. (on oral Paracetamol)
5. Tab Gardeneal stat (Phenobarbitone)
6. If dehydration,
   i. I. V. Glucose saline
   ii. Oral fluids and Electral or Relyte solution.
7. Check Blood for Malaria

Note:- Any fever can be brought down by tepid sponging with in 15 minutes.

N. Burns

Assess the severity of Burns by Rule of Nine.

Each upper limb=9%,
Each lower limb=18%
Front of Chest & abdomen = 18%
Back of Chest & abdomen + 18%
Head & face = 9%
Genitalia=1%

Note:-If Surface area involved is>10%, then hospitalisation and I. V. fluids are required.

If area is more han 15-20%, then do not handle the case. Refer to a Hospial or Burns centre.

First Aid :

1. Pull the patient away from the site of fire or heat, and put out the flames with water. (or by covering with thick blanket)
2. Then pour water generously over the burnt area, to bring down the tissue temperature immediately and minimise deep tissue damage.
3. Check Pulse, Respiration & Blood Pressure. Assess the degree and depth of Burns.

If Burns < 15%

1. Inj. Fortwin (Narcotic analgesic) IM/I.V. stat
2. Clean gently with savlon and water.
3. Then smear antispetic ointment = Silver sulfadiazine or Betadine or soframycin
4. Inj. T. T. IM stat & after 6 wks.
5. Cap. Cefalong (Antibiotic) DS
6. Inj. Decadron (Steroids) I. V./IM
7. I. V. fluids= Ringer's lactate & DNS if dehydration.

Parkland's Formula for fluid requirement=4 x Body weight in Kg x percentage of area burnt

When to refer to a Hospital?

1. If surface area of Burns is > 15%
2. If Burns are very deep
3. If face, Neck or eyes are involved.
4. If fumes are inhaled with possibility of lung injury.

O. Electric Burns

First Pull the victim away from the contact with live electric wire.

i. Push/pull him away using nonconducting ie. wooden stick or chair.

ii. Turn off main switch where possible.

Check Pulse and Respiration.

If cardiac or respiratory arrest, stat external cardiac massage and mouth-to-mouth respiration.

3. Keep under observation for 24-48 hrs, for development of cardiac arrhythmias.

4. Examine point of entry, legs, axillae and groins for burns.

5. Electric Burns- look small at the surface, but subsequently there is extensive sloughing of tissues & necrosis.

P. Acute Abdomen Management:

- Rest: physical & mental.Hot water bag massage .Rest in bed during acute phase.
- Diet : Bland diet & 3hourly feeds throughout the day-small digestible but of adequet caloric value form the basis of treatment.
- Drugs used like antacids, mucoprotective drugs,proton pump inhibitor, anticholinergic
- Relief from anxiety and mental stress.
- Avoid the gastric irritants &stimulants.

✕ ✕ ✕

रोगी विवरण प्रारूप

Patient Case Sheet

Regd. No.(O.P.D./I.P.D.) :- Patient Name :-

Age/Sex :- Occupation :

Diagnosis :- D.O.A. :- D.O.D. :-

Address :-

Treatment Advis[illegible] :-

Declaration

I, Mr./Mr[illegible] 'Miss. ..... S/o/W/o/D/o ..... am willing to take part in the treatment course (Snehana/Swedan/Vaman/ Virechan/Basti/Nasya). The details have been clearly explained to me and I am willing to abide by the instructions given to me with regards to periodic examinations and other treatment procedures. I alone will be responsible for any of the consequences that may arise from not obeying the instructions of the concerned physician.

Signature of the witness **Signature of the Patient**

Relation with patient

Date: Date:

1. Chief complaint
2. History
3. Diagnosis
4. Chikitsa
   (i) Samshamna
   (ii) Samshodhan

Signature of Physician